श्रीमतेरामानुजाय नमः ॥ श्रीः ॥ श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥



श्रीवचनभूषणम्

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य-वेदान्तप्रवर्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-सत्सम्प्रदायाचार्य-
जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय-
श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य्यस्वामिप्रणीतया
'चिन्तामणि' समाख्यया भाषाव्याख्यया सनन्वितम् ।
तदिदम्

श्रीपादसेवक—
श्रीसुदर्शनाचार्य-ब्रह्मचारिणः
रोहतासमण्डलान्तर्गत डेहरीश्रीविजयराघवमन्दिराध्यक्षस्य
सत्प्रेरणया औरंगाबादमण्डलान्तर्गत
दूबेखेराश्रीमहाविष्णुयज्ञसमित्या प्रकाशितम् ।

चतुर्थावृत्ति के सम्पादक :—
डा० सुदामा सिंह, एम. ए., बी. एच. डी.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रम एवं समाज-कल्याण विभाग,
म० वि० वि०, बोधगया ।

मार्गशीर्ष, शुक्ल पञ्चमी

चतुर्थावृत्ति] सं० २०५३ [मूल्य ३०) रु०

प्रबन्धक
श्री त्रिदण्डी देव धाम
(समाधी) न्यास बक्सर

श्रीमतेरामानुजाय नमः ॥ श्रीः ॥ श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥



श्रीवचनभूषणम्

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य-वेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परम-
हंसपरिव्राजकाचार्य-सत्सम्प्रदायाचार्य-जगद्गुरुभगवन्नम्मालवन्तपादीय-

श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य्यस्वामिप्रणीतया

'चिन्तामणि' समाख्यया भाषाव्याख्यया समन्वितम् ।

तदिदम्

श्रीपादसेवक—

श्रीसुदर्शनाचार्य-ब्रह्मचारिणः

रोहतासमण्डलान्तर्गत डेहरीश्रीविजयराघवमन्दिराध्यक्षस्य
सत्प्रेरणया औरंगाबादमण्डलान्तर्गतदूधेश्वरीश्रीमहाविष्णुमन्दि-
रसमित्या प्रकाशितम् ।

चतुर्थावृति के सम्पादक :—

डा० सुदामा सिंह, एम. ए. पी. एच. डी.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्रम एवं समाज-कल्याण विभाग,
म० वि० वि०, बोधगया ।

मार्गशीर्ष, शुक्ल पञ्चमी

चतुर्थावृति] सं० २०५३ [मूल्य ३०) ६०

॥ श्रियैनमः ॥

श्रीमतेरामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥

विषय-सूची

			पृष्ठ संख्या
१	वेदार्थनिर्णयनामोपोद्घातः (सू० १ से ४ तक)	—	१ से १९
२	पुरुषकारवैभवनामप्रथमप्रकरणम् (सू० ५ से २६ तक)	—	१९—५०
३	उपायवैभवनामद्वितीयप्रकरणम् (सू० २७ से ८४ तक)	—	५०—१००
४	अधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणम् (सू० ८५ से ३२६ तक)	—	१००—२८६
५	सद्गुरूपसेवननाम चतुर्थप्रकरणम् (सू० ३२७ से ३८८ तक)	—	२८६—३१८
६	भगवन्निर्हेतुककृपावैभवनाम पञ्चमप्रकरणम् (सू० ३८९ से ४२७ तक)	—	३१८—३४९
७	आचार्योपायवैभवनामषष्ठप्रकरणम् (सू० ४२८ से ४८४ तक)	—	३४९—३९६

—:o:—

श्री १००८ वरवरमुनि स्वामीजी महाराज



श्रीशैलेशदयापात्रं धीभक्त्यादिगुणार्णवम् ।
यतीन्द्रप्रवणं वन्दे रम्यजामातरं मुनिम् ।।

॥ श्रियैनमः ॥

श्रीमतेरामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥

॥ नम्र-निवेदन ॥

रामानुजमुनेरूर्ध्वं भद्रं भ्रामयते ध्वजम्
मंगलं योगिवर्य्याय श्रीयुतानन्तसूरये ।
मंगलं रामकृष्णार्यकृपाप्तगुणराशये
श्रीशाङ्घ्रियब्जमधुज्ञाय विष्वक्सेनार्ययोगिने ॥

अनन्तश्रीसमलङ्कृत भगवदनन्त पद-पद्मनिस्सृत-मधु-सुधारस-पानैकमग्न, वैष्णवलोकमार्त्तण्ड कारुण्य-रत्नाकर परम पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज द्वारा की गयी 'श्रीवचनभूषणम्' रहस्यतम् ग्रन्थ की 'चिन्तामणि' नामक भाषा-व्याख्या के चतुर्थ संस्करण को भागवत जनों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। मुनि-मानसैकग्राह्य रहस्यतम तत्त्वों को ४८४ सूत्रों में रख कर श्रीलोकाचार्य स्वामीजी ने 'श्रीवचन-भूषणम्' नाम से जिस प्रबन्ध-रत्न की संरचना की है, उसके महात्म्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में यह असमर्थ जन पूर्णतः मूक है, 'लघु-मति मोरि चरित अवगाहा' की उक्ति घटित हो रही है। आप्ततम सन्तों के वाक्यों को, रहस्यमय तथ्यों को वही महाभाग्यशाली समझ सकता है, जिसकी प्रज्ञा सदाचार्य की कृपावारिद-माला की शीतल फुहार-से सिक्त हो पूर्णतः ऋतम्भरा हो गई हो। अतएव ग्रन्थ के महात्म्य एवं विवेच्य विषय के विशद एवं गूढ़ विवरण के लिए पूर्व-संस्करण की भूमिका दी गयी है। आचार्यमुखोल्लासार्थ आजीवन यत्नशील जगद्गुरु श्रीस्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज ने उक्त भूमिका में इस महार्घग्रन्थ-रत्न एवं इसकी 'चिन्तामणि' भाषा टीका के सम्बन्ध में जो उद्गार व्यक्त किया है, समृद्ध प्राक् कथन के लिए वही यथेष्ठ है। यह अकिञ्चन जन तो यही सोचकर विस्मित है कि ब्रह्मानन्दरसरसिकाग्रगण्य पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज का अवतार न होता तो, 'चिन्तामणि' भाषा टीका रूपी स्रोतस्विनी के माध्यमसे 'द्रविड़-देश' में लहराती ताम्रपर्णी, कावेरी,

कृतमाला एवं नूपुर-गंगा सी शुचितमा, श्रीलोकाचार्य स्वामीजी द्वारा विरचिता, श्रीवरवरमुनीन्द्र की मणि-प्रवाल भाषा में आख्याता, रहस्य-सूक्तिमाला की अमृतधारा उत्तर भारतीय भागवतों को कैसे उपलब्ध हो पाती ?

प्रस्तुत संस्करण श्रीमहाविष्णु-यज्ञ-समिति, दूबे खैरा, जि०-औरंगाबाद (बिहार) की ओर से प्रकाशित किया गया है। इस महनीय कार्य के लिए श्रीमहाविष्णु यज्ञ-समिति, दूबे खैरा के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। श्रीपादसेवक श्रीसुदर्शनाचार्य ब्रह्मचारी स्वामीजी की सत्प्रेरणा एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायक है, अतएव उनके श्री चरणों में सदैव अवनत हूँ।

ग्रन्थ की त्रुटियाँ मेरे अज्ञान एवं कर्त्तव्यहीनता का परिणाम हैं। अतएव विज्ञजनों के श्रीचरणों में सदैव क्षमाप्रार्थी हूँ। ये त्रुटियाँ करुणा-निधान मातृहृदय आचार्य प्रभु के मुखोल्लास रूपी अमृतमय फल से इस प्रमादी पतितजन को बारंबार वञ्चित कर रहीहैं। अतः शरण्य क्षमा-सागर के ही कमलाभिराम त्रयताप-पापहर श्रीचरणों में अन्ततः आर्त्त-क्रन्दन है—

मंगलमय गुरुवरचरण, ज्ञान-भक्ति सुखधाम।
पाहि नाथ आरत गिरा, पातकी करत प्रणाम॥

श्रीचरणाश्रित :—
सुदामा सिंह

पूर्व संस्करण की प्रस्तावना

श्रीमतेरामानुजाय नमः । श्रीमल्लोकमहागुरवे नमः ॥
श्रीमद्वरवमुनये नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥

लोकगुरुं गुरुभिः सहपूर्वैः कूरकुलोत्तमदासमुदारम् ।
श्रीनगपत्यभिरामवरेशं दीप्रशयानगुरुं च भजेऽहम् ॥

मत्तवादीभसिंहानां ज्ञानभक्त्यादिसम्पदाम् ।
विष्वक्सेनयतीन्द्राणां वन्दे पादाम्बुजद्वयम् ॥

श्रीवैष्णव जगत् के सम्मुख पूज्यपाद जगदाचाय श्री १००८ श्री-मद्विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी स्वामी जी द्वारा प्रणीत चिन्तामणि नामक हिन्दी भाष्य सहित लोकमान्य श्रीवैष्णवहृदयसम्मान्य सूत्रात्मक रहस्य-ग्रन्थरत्न "श्रीवचनभूषण" का प्रकाशन करते अतीव प्रसन्नता हो रही है। शरणागति पथ-पथिक भागवतों में ऐसा कौन होगा जो सुप्रसिद्ध इस सरस सुगंभीर ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् भगवद् रामानुजाचार्य्य प्रतिष्ठा-पितचतुस्सप्तति पीठाधीशों के मध्य में परिगणित श्रीमुडम्बैनम्बि स्वामी जीके वंश में अवतरित समुज्ज्वलरत्न श्रीवत्सगोत्रीय श्रीमत्कृष्णपादाचार्य के पुत्ररत्न श्रीलोकाचार्य स्वामीजी का नाम न जानता हो ? आज से ७०० वर्षों पूर्व पुण्यसलिला कावेरी के बीच श्रीरंगधाम में प्रथितकीर्ति रहस्यसम्प्रदाय प्रवर्तकाचार्य श्रीमल्लोकाचार्य (श्री कलिवैरिदासाचार्य) स्वामीजी के अमोघ-मंगलमय अनुग्रह से ही इनका प्रादुर्भाव हुआ था। अतः उनकी उपकार-स्मृति में इनका भी नाम लोकाचार्य रखा गया। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के सभी विषयों का विशदवर्णन दिव्यसूरियों एवं

पूर्वाचार्यों ने स्वरचित संस्कृत तथा द्रविड़वेदांत ग्रन्थों के माध्यम से किया है। संस्कृत वेदांत ग्रन्थों से शास्त्रानुकूल सत्तर्कों द्वारा अवैदिक और वैदिकाभास मतों का खण्डन कर परमवैदिक विशिष्टाद्वैत सिद्धांत संस्थापन किया है। द्रविडवेदांतों (सामवेदोपम सहस्रगीति आदि दिव्य प्रबन्धों) एवं उनके व्याख्यान भगवद्विषय आदि ग्रन्थों से सिद्धोपायनिष्ठ प्रपन्नाधिकारियों के लिये सर्वदा सर्वत्र अनुभव-चिन्तन और मनन करने योग्य परमप्राप्य लक्ष्मीपतिभगवान के परमभोग्य वात्सल्य, सौशील्य, स्वामित्व, औदार्य, सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुणों का सरस रहस्यमय वर्णन किया है। प्रस्तुत आचार्य श्रीलोकाचार्य स्वामीजी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ उभय वेदान्त एवं समस्त शास्त्रों के उद्भट विद्वान, भगवद्भक्ति और प्रपत्ति के मूर्तिमान स्वरूप तथा जन्म से ही वीतराग महापुरूष थे। द्रविड देश में अवतरित होने के कारण उस समय वहाँ के सभ्य समाज में प्रचलित मणिप्रवाल (तमिल संस्कृत मिश्रित) भाषा में लोकोपकार की भावना एवं भगवदाज्ञा से प्रेरित होकर इन्होंने भगवान की शरण आनेवाले अधिकारियों के उज्जीवनोपयोगी १८ प्रकार के सदुपदेश देने तथा जीवन में उतारने योग्य रहस्यत्रय आदि का ज्ञान कराने के लिये अष्टादश ग्रन्थों की रचना की। उन ग्रन्थों की नामावली है—१—तनिप्रणवम्, २—तनिद्वयम् ३—तनिचरमम् ४—यादृच्छिकप्पडि, ५—श्रियपतिपडि ६—मुमुक्षुप्पडि ७—परन्दपडि ८—तत्त्वत्रय, ९—तत्त्वशेखर, १०—प्रपन्नपरित्राण, ११—सारसंग्रह, १२—प्रमेयशेखर, १३—आर्चिरादिमार्ग, १४—नवविधसम्बन्ध, १५—नवरत्नमाला, १६—अर्थपंचक, १७—संसार साम्राज्य और १८—श्रीवचनभूषण।

इन सभी ग्रन्थों में आचार्य की सर्वोत्कृष्ट कृति तथा रहस्य संप्रदाय में सारतमशास्त्र श्रीवचनभूषण ही माना गया है।

असारमल्पसारञ्च सारं सारतरं त्यजेत्।
भजेत् सारतमं शास्त्रं रत्नाकर इवामृतम्॥

असार, अल्पसार, सार और सारतर शास्त्रों की उपेक्षा कर सागर से सुधा प्राप्त करने की भाँति सारतम शास्त्र की ही उपासना करनी चाहिए। इस आप्ततम श्लोक में उपवर्णित असार शास्त्र से—एक छोटा जन्तु से लेकर ब्रह्म तक के सारे लौकिक और पारलौकिक सुख और अशाश्वत ऐश्वर्य को प्रतिपादक शास्त्र कहा गया। क्योंकि ये सभी सुख और ऐश्वर्य दुःखान्त एवं असार सुख प्रदान करते हैं जिससे इनके साधकों को अन्त में कुछ भी नहीं मिलता।

जरामरणादि प्राकृत धर्मों से छुटकारा पाकर केवल आत्मानुभव बतानेवाला शास्त्र अल्पसार कहा गया। क्योंकि आत्मतत्त्व के नित्य होने पर भी उसका स्वरूप अणु बतलाया गया है। अतः आनन्द (सुख)की मात्रा भी उसमें सीमित होने से वह अल्पसार शास्त्र है।

कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के अनवरत सहयोग से उत्तरोत्तर प्रबद्ध-भक्तियोगरूप स्वतन्त्रसाधन प्रतिपादकशास्त्र को सारशास्त्र कहा गया। क्योंकि इससे श्रीवैकुण्ठधाम में पहुँचकर भक्त-योगी को भगवदनुभव रूप सार प्राप्त होने से यह सारशास्त्र हुआ।

कपि किशोरन्याय से(बन्दरी का बच्चा अपनी माँ को अपनी रक्षा हेतु स्वयं पकड़ रखता है वैसे ही)जो प्रपन्न अपनी रक्षा या उद्धार हेतु स्वगतस्वीकार (अपने द्वारा की गयी शरणागतिरूप साधना) के बल पर फल पाना चाहते हैं, ऐसी साधना बतानेवाला शास्त्र सारतर कहा गया। इससे विशेष रूप से भगवदनुभव प्राप्त हो सकता है। किन्तु अपने बल पर की गयी शरणागति शरण्यहृदयानुसारिणी न होने तथा विलम्ब और गर्वपूर्वक होने से पूर्ण रूप से अनुभव होना दुश्शक है। अतः यह शास्त्र सारतर है।

मार्जारकिशोरन्याय से (बिल्ली का बच्चा अपनी माँ के विश्वास पर कि वह उसकी रक्षा अवश्य करेगी, जैसे निर्भर एवं निश्चेष्ट बैठा रहता है वैसे ही) सर्वरक्षक, सर्वस्वामी भगवान ने स्वस्वामिभाव के

कारण निर्हेतुक कृपा करके मुझे अपना लिया है। वे मेरी रक्षा के लिए कृत-संकल्प हैं। इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक परगतस्वीकाररूप शरणागति निष्ठा प्रतिपादक शास्त्र सारतम कहा गया। यह साधना शरण्यहृदयानुसारिणी तथा पारतन्त्र्य एवं शेषत्व स्वरूप के अनुरूप और शीघ्र फल देनेवाली है। भगवदनुग्रह से प्राप्त होनेवाला नित्यकैंकर्य रूप फल भी इससे सुनिश्चित ही पूर्ण रूप से प्राप्त होगा, अतः यह सारतम शास्त्र है। इसके पहले कहे गये चारों शास्त्र स्वतन्त्राधिकारियों के लिये अनुष्ठेय तथा अभिमानवर्द्धक होने के कारण उपेक्षणीय हैं। अन्य शास्त्रों की अपेक्षा सारतम शास्त्र श्रीवचनभूषण का ही विशेष रूप से चिन्तन-मनन और स्वाध्याय करने से सिद्धोपायनिष्ठ शरणागत श्रीवैष्णवको तत्त्व-हित पुरुषार्थका यथार्थ ज्ञान अनायास ही हो जायगा।

भगवद् रामानुजाचार्य के अपरावतार श्रीवरवरमुनीन्द्र स्वामीजी ने उपदेशरत्नमाला में उपर्युक्त ग्रन्थ की महिमा का उल्लेख अद्भुत रीति से किया है—

कोवा प्रबन्धैः इहलोकगुरोः प्रबन्धैः सादृश्यमेति सकलेष्वपि वाङ्मयेपि।
तत्रापि किं वचनभूषणतुल्यमन्यत्सत्यंब्रवीमितदिदंवचनेनमिथ्या॥

श्रीलोकाचार्य स्वामी द्वारा विरचित ग्रन्थों के समान अन्य कौन सा ग्रन्थ हो सकता है? उनमें भी श्रीवचनभूषण की तुलना तो इस लोक में हो ही नहीं सकती यह ध्रुव सत्य है। इस ग्रन्थका यह नाम कैसे रखा गया?

प्राचां प्रपत्तिरदवीमयतां गुरुणां राविष्णुना वचनरत्नकदम्बकेन।
ग्रन्थः कृतोऽयमखिलार्यजनस्य भूषा तेनाभवद्वचनभूषणनामतस्य॥

शरणागतिमार्ग से चलकर उज्जीवन प्राप्त करनेवाले दिव्य सूरियों (पूर्वाचार्यों) के सहस्रगीति आदि दिव्य प्रबन्धों का अनुसन्धान कर उनके सारतम तत्त्वार्थ प्रकाशक वचनरूपा भूषणों का संकलन कर आचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की, इसीलिये इस ग्रन्थ का नाम "श्रीवचनभूषण" रखा। यह सभी श्रेष्ठ पुरुषों के लिये भूषण की भाँति हृदय में धारण करने योग्य तथा स्वरूप को उज्ज्वल बनानेवाला है।

जानन्ति के वचनभूषणवारिराशेः धार्यां सदा हृदि सतामभिधेयरत्नम्।
के तत्प्रदर्शितपथेन च संचरन्ति यः कोऽपि सम्भवति चेद्विरलोऽपितज्ज्ञः॥

श्रीवचनभूषणरूप दिव्य प्रबन्ध के अतिशय गम्भीरतत्त्वार्थ को समझ कर उस अमूल्यरत्न को अपने हृदय में धारण करने वाला महापुरुष कौन है ? उसमें बताये मार्ग से चलनेवाला कोई विरला ही होगा।

उग्राद्भवाब्धिकुहराद्द्रुतमुत्तितीर्षा जायेत वो यदि जनाः सदुपाय एषः।
आलोच्यतां वचनभूषणमात्मनोनं निष्ठीयतां च नियमेन तदुक्तिमार्गे॥

सज्जनों! यदि आप इस भयंकर अगाध संसार समुद्र से पार होने को अभिलाषा रखते हैं तो "श्रीवचनभूषण" का निरन्तर अपने मन में चिन्तन करें और उसमें बताये मार्ग में अत्यन्त श्रद्धा रखें वैसे ही चलें।

इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में एक रोचक कथा प्रसिद्ध है—श्रीकाँचीपुरी के समीपवर्ती अरुक्कम् नामक ग्राम है। वहाँ नम्बि (पूर्ण) नाम के परम सात्त्विक एक श्रीवैष्णव विद्वान् निवास किया करते थे। उनका सारा समय भगवान की उपासना-आराधना एवं भजन-चिन्तन में व्यतीत होता था। एक दिन वे रात में सो रहे थे। उनके स्वप्न में श्रीविष्णुकाँची के प्रधानदेव श्रीवरदराज भगवान ने अपनी परम कृपा से दर्शन देकर कुछ सरस रहस्यमय वेदान्तार्थों का सदुपदेश दिया। उनकी बढ़ती जिज्ञासा को देख कर भगवान बोले— तुम यहाँ कावेरी के बीच बसी हुई श्रीरंगपुरी में जाकर कुछ दिन निवास करो। मैं तुम्हें पुनः इससे भी अद्भुत रहस्यार्थों का उपदेश दूँगा। वे पूर्ण नामक श्री वैष्णव अपने ऊपर प्रभु की अपार अनुकम्पा एवं उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर बड़ी श्रद्धा से श्री रंगपुरी में जाकर निवास करते हुये स्वप्न में प्राप्त रहस्यार्थों का निरन्तर चिन्तन किया करते थे। एक दिन वे किसी मन्दिर के एकांत भाग में बैठकर चिंतन कर रहे थे। तब तक श्रीलोकाचार्य स्वामीजी भी अपने अन्तरंग शिष्यों को रहस्यार्थों का उपदेश देने के लिये वहीं आ पहुँचे और उपदेश सुनाने लगे। वे पूर्ण नामक श्री वैष्णव भी बड़ी उत्सुकता से उन उपदेशों को सुने। उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ कारण उन्होंने स्वप्न में भगवान के मुखारविन्द से जिन रहस्यार्थों का श्रवण किया था ठीक उनका ही उपदेश आचार्य भी कर रहे थे। फिर तो बड़ी श्रद्धा से आचार्य को भगवद्रूप मानकर पूर्ण

ने विनीत भाव से हाथ जोड़कर पूछा—'क्या आप वही हैं' श्री लोकाचार्य स्वामी जी ने उनके अभिप्राय को न समझ कर पूछा— मैं समझ नहीं पाया आप क्या कह रहे हैं ? तब पूर्ण ने अपने स्वप्न एवं यहाँ निवास की सारी घटना कह सुनायी। सुनकर वहाँ उपस्थित सभी शिष्यगण मन्त्र-मुग्ध से हो गये। पुनः पूर्ण ने तो आचार्य को भगवान का विशेषावतार मानकर बड़ी भक्ति से उनसे रहस्यार्थों का प्रतिदिन श्रवण करना प्रारम्भ कर दिया। पूर्ण ने पुनः एक दिन आचार्य से निवेदन किया—"प्रभो ! आज रात में शेषशायी श्री रंगनाथ भगवान् ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा हे साधो ! मैंने वरद रूप में जिन मधुरतम रहस्यार्थों का उपदेश दिया था उन्ही अर्थो को तुम श्रीलोकाचार्य स्वामी जी से सुन रहे हो। अतः उनसे प्रार्थना करो वे उन रहस्यमय उपदेशों को लोकोपकार के लिये ग्रन्थ रूप में लिख दें जिससे इसकी परम्परा चिरकाल तक चलती रहे।" आचार्य यह प्रभु का आदेश सुनकर अत्यन्त विस्मित और हर्षित होकर मन ही मन विचार करने लगे—अहो ! प्रभु का मेरे ऊपर कितना वात्सल्य है जो मेरे साधारण से रहस्यार्थों के उपदेश भी श्रीरंगनाथ एवं वरदराज दोनों को ही प्रिय है। तदनन्तर प्रभु के आदेश को शिरोधार्य कर आचार्य ने "श्रीवचनभूषण" नाम से प्रसिद्ध सारतमरहस्य की रचना की।

इस ग्रन्थ में छः प्रकरण और ४८४ सूत्र हैं।

प्रथम प्रकरण पुरुषकार वैभव में चेतनों को भगवान की शरण पहुँचाने वाली पुरुषकार-स्वरूपा जगज्जननी माता जानकी में श्रीरामायण के आधार पर पुरुषकारोपयोगी कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्व इन तीन गुणों का उल्लेख किया है।

दूसरा उपाय वैभव प्रकरण में सिद्धोपाय परमात्मा में सौलभ्य, सौशील्य आदि गुणों का वर्णन तथा प्रभु की शरण जाने में देश, काल, फल और अधिकारी का कोई भी नियम नहीं है, ऐसा बताते आचार्य ने साधनाजमत् में शरणागति को सर्वोत्कृष्ट साधना बतायी। ग्रन्थ का तीसरा अधिकारी वैभव प्रकरण है। इसमें उपायनिष्ठ अधिकारी श्री जानकी जी, श्री द्रौपदी तथा उपेयनिष्ठ अधिकारी श्री लक्ष्मण जी श्री जटायु आदि की कथाओं का सरस एवं मार्मिक वर्णन है।

ग्रन्थ के सद्गुरूपसेवन नाम के चतुर्थ प्रकरण में शिष्य एवं आचार्य के समस्त कर्तव्यों तथा आचार व्यवहारों का उल्लेख है। ग्रन्थ के पाँचवें भगवान की निर्हेतुकी कृपा वैभव प्रकरण में बतलाया गया है कि भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से सभी को अपनाते हैं। उनका वात्सल्य मनुष्य पर ही नहीं अपितु अन्य पशु-पक्षियों को भी अपनी शरण लेने के लिये उनके आनुषंगिक, प्रासंगिक तथा अज्ञातसुकृतों का संग्रह करते रहते हैं और समय विशेष से इन्ही व्याजों से सभी का उद्धार कर देते हैं। इस विषय में ललिता आदि की पौराणिक कथाओं का भी वर्णन किया है। यह प्रकरण विशेष मननयोग्य है। इस ग्रन्थ का अन्तिम छठा आचार्योपायवैभव प्रकरण है। इसमें आचार्य को ईश्वर और जीव दोनों का उपकारक कहा गया है। अन्य साधनों से जिनका उद्धार नहीं हुआ उनका उद्धार आचार्य कृपा से हो सकता है। आचार्यनिष्ठा भागवत निष्ठापर्यन्त होनी चाहिये। आचार्य का प्रत्युपकार तब हो सकता था जब दो परमात्मा और चार विभूतियाँ होतीं तत्त्व जिज्ञासा-रूप पिपासा को शान्ति के लिये मेघ और कूपजल के समान दूरस्थ ईश्वर की अपेक्षा आचार्य को अंजलिगत जल की तरह अत्यन्त सुलभ बतलाया गया है। अन्त में नित्य संसारी बने जीवों को आचार्य सम्बन्ध से पल्लवित, पुष्पित और नित्य भगवत्कैंकर्य प्राप्ति रूप फलपर्यवसायी बताकर ग्रन्थ का समापन किया है।

श्रीलोकाचार्य स्वामीजो के अधिकांश ग्रन्थों एवं विशेष कर श्री वचनभूषण पर विशदवाक्, शिखामणि श्रीवरवरमुनीन्द्र स्वामी जी ने मणिप्रबाल भाषा में विस्तृत भाष्य लिखा। सभाष्य श्रीवचनभूषण का संस्कृत भाषा में अनुवाद भगवत्पाद श्रीरंगदेशिक स्वामीजी(सुप्रसिद्ध वृन्दावन के श्रीरंगमन्दिर के संस्थापक) ने किया। संस्कृतमय होने से यह ग्रन्थ सभी विद्वानों के लिये यद्यपि सुलभ हो गया, फिर भी संस्कृतान-भिज्ञ जिज्ञासु श्रीवैष्णवों को इससे विशेष लाभ न हो सका। इस कमी

कारण निर्हेतुक कृपा करके मुझे अपना लिया है। वे मेरी रक्षा के लिए कृत-संकल्प हैं। इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक परगतस्वीकाररूप शरणागति निष्ठा प्रतिपादक शास्त्र सारतम कहा गया। यह साधना शरण्यहृदयानुसारिणी तथा पारतन्त्र्य एवं शेषत्व स्वरूप के अनुरूप और शीघ्र फल देनेवाली है। भगवदनुग्रह से प्राप्त होनेवाला नित्यकैंकर्य रूप फल भी इससे सुनिश्चित ही पूर्ण रूप से प्राप्त होगा, अतः यह सारतम शास्त्र है। इसके पहले कहे गये चारों शास्त्र स्वतन्त्राधिकारियों के लिये अनुष्ठेय तथा अभिमानवर्द्धक होने के कारण उपेक्षणीय हैं। अन्य शास्त्रों की अपेक्षा सारतम शास्त्र श्रीवचनभूषण का ही विशेष रूप से चिन्तन-मनन और स्वाध्याय करने से सिद्धोपायनिष्ठ शरणागत श्रीवैष्णवको तत्त्व-हित पुरुषार्थका यथार्थ ज्ञान अनायास ही हो जायगा।

भगवद् रामानुजाचार्य के अपरावतार श्रीवरवरमुनीन्द्र स्वामीजी ने उपदेशरत्नमाला में उपर्युक्त ग्रन्थ की महिमा का उल्लेख अद्भुत रीति से किया है—

कोवा प्रबन्धैः इहलोकगुरोः प्रबन्धैः सादृश्यमेति सकलेष्वपि वाङ्मयेषि।
तत्रापि किं वचनभूषणतुल्यमन्यत्सत्यं ब्रवीमितदिदंवचनेनमिथ्या॥

श्रीलोकाचार्य स्वामी द्वारा विरचित ग्रन्थों के समान अन्य कौन सा ग्रन्थ हो सकता है? उनमें भी श्रीवचनभूषण की तुलना तो इस लोक में हो ही नहीं सकती यह ध्रुव सत्य है। इस ग्रन्थका यह नाम कैसे रखा गया?

प्राचां प्रपत्तिरदवीमयतां गुरुणां राविष्णुना वचनरत्नकदम्बकेन।
ग्रन्थः कृतोऽयमखिलार्यजनस्य भूषा तेनाभवद्वचनभूषणनामतस्य॥

शरणागतिमार्ग से चलकर उज्जीवन प्राप्त करनेवाले दिव्य सूरियों (पूर्वाचार्यों) के सहस्रगीति आदि दिव्य प्रबन्धों का अनुसन्धान कर उनके सारतम तत्त्वार्थ प्रकाशक वचनरूपा भूषणों का संकलन कर आचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की, इसीलिये इस ग्रन्थ का नाम "श्रीवचनभूषण" रखा। यह सभी श्रेष्ठ पुरुषों के लिये भूषण की भाँति हृदय में धारण करने योग्य तथा स्वरूप को उज्ज्वल बनानेवाला है।

जानन्ति के वचनभूषणदिव्यशास्त्रगाम्भीर्यसारनिधयः खलु धार्यमाणाः।
के तत्प्रदर्शितपथेन च संचरन्ति यः कोऽपि सम्भवति चेद्विरलोऽपितज्ज्ञः॥

श्रीवचनभूषणरूप दिव्य प्रबन्ध के अतिशय गम्भीरतत्त्वार्थ को समझ कर उस अमूल्यरत्न को अपने हृदय में धारण करने वाला महापुरुष कौन है? उसमें बताये मार्ग से चलनेवाला कोई विरला ही होगा।

उग्राद्भवाब्धिकुहराद्द्रुतमुत्तितीर्षा जायेत वो यदि जनाः सदुपाय एषः।
आलोच्यतां वचनभूषणमात्मनोनं निष्ठीयतां च नियमेन तदुक्तिमार्गे॥

सज्जनों! यदि आप इस भयंकर अगाध संसार समुद्र से पार होने की अभिलाषा रखते हैं तो "श्रीवचनभूषण" का निरन्तर अपने मन में चिन्तन करें और उसमें बताये मार्ग में अत्यन्त श्रद्धा रखें वैसे ही चलें।

इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में एक रोचक कथा प्रसिद्ध है—श्रीकाँचीपुरी के समीपमणप्पाक्कम् नामक ग्राम है। वहाँ नम्बि (पूर्ण) नाम के परम सात्त्विक एक श्रीवैष्णव विद्वान् निवास किया करते थे। उनका सारा समय भगवान की उपासना-आराधना एवं भजन-चिन्तन में व्यतीत होता था। एक दिन वे रात में सो रहे थे। उनके स्वप्न में श्रीविष्णुकाँची के प्रधानदेव श्रीवरदराज भगवान ने अपनी परम कृपा से दर्शन देकर कुछ सरस रहस्यमय वेदान्तार्थों का सदुपदेश दिया। उनकी बढ़ती जिज्ञासा को देख कर भगवान बोले— तुम श्री कावेरी के बीच बसी हुई श्रीरंगपुरी में जाकर कुछ दिन निवास करो। मैं तुम्हें पुनः इससे भी अद्भुत रहस्यार्थों का उपदेश दूँगा। वे पूर्ण नामक श्री वैष्णव अपने ऊपर प्रभु की अहैतुक अनुकम्पा एवं उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर बड़ी श्रद्धा से श्री रंगपुरी में जाकर निवास करते हुये स्वप्न में प्राप्त रहस्यार्थों का निरन्तर चिन्तन किया करते थे। एक दिन वे किसी मन्दिर के एकांत भाग में बैठकर चिंतन कर रहे थे। तब तक श्रीलोकाचार्य स्वामीजी भी अपने अन्तरंग शिष्यों को रहस्यार्थों का उपदेश देने के लिये वहीं आ पहुँचे और उपदेश सुनाने लगे। वे पूर्ण नामक श्री वैष्णव भी बड़ी उत्सुकता से उन उपदेशों को सुने। उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ कारण उन्होंने स्वप्न में भगवान के मुखारविन्द से जिन रहस्यार्थों का श्रवण किया था ठीक उनका ही उपदेश आचार्य भी कर रहे थे। फिर तो बड़ी श्रद्धा से आचार्य को भगवद्रूप मानकर पूर्ण

ने विनीत भाव से हाथ जोड़कर पूछा—'क्या आप वही हैं" श्री लोकाचार्य स्वामी जी ने उनके अभिप्राय को न समझ कर पूछा— मैं समझ नहीं पाया आप क्या कह रहे हैं ? तब पूर्ण ने अपने स्वप्न एवं यहाँ निवास की सारी घटना कह सुनायी। सुनकर वहाँ उपस्थित सभी शिष्यगण मन्त्र-मुग्ध से हो गये। पुनः पूर्ण ने तो आचार्य को भगवान का विशेषावतार मानकर बड़ी भक्ति से उनसे रहस्यार्थों का प्रतिदिन श्रवण करना प्रारम्भ कर दिया। पूर्ण ने पुनः एक दिन आचार्य से निवेदन किया—"प्रभो ! आज रात में शेषशायी श्री रंगनाथ भगवान् ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा हे साधो ! मैंने वरद रूप में जिन मधुरतम रहस्यार्थों का उपदेश दिया था उन्ही अर्थो को तुम श्रीलोकाचार्य स्वामी जी से सुन रहे हो। अतः उनसे प्रार्थना करो वे उन रहस्यमय उपदेशों को लोकोपकार के लिये ग्रन्थ रूप में लिख दें जिससे इसकी परम्परा चिरकाल तक चलती रहे।" आचार्य यह प्रभु का आदेश सुनकर अत्यन्त विस्मित और हर्षित होकर मन ही मन विचार करने लगे—अहो ! प्रभु का मेरे ऊपर कितना वात्सल्य है जो मेरे साधारण से रहस्यार्थों के उपदेश भी श्रीरंगनाथ एवं वरदराज दोनों को ही प्रिय है। तदनन्तर प्रभु के आदेश को शिरोधार्य कर आचार्य ने "श्रीवचनभूषण" नाम से प्रसिद्ध सारतमरहस्य की रचना की।

इस ग्रन्थ में छः प्रकरण और ४८४ सूत्र हैं।

प्रथम प्रकरण पुरुषकार वैभव में चेतनों को भगवान की शरण पहुँचाने वाली पुरुषकार-स्वरूपा जगज्जननी माता जानकी में श्रीरामायण के आधार पर पुरुषकारोपयोगी कृपा, पारतन्त्र्य और अनन्यार्हत्व इन तीन गुणों का उल्लेख किया है।

दूसरा उपाय वैभव प्रकरण में सिद्धोपाय परमात्मा में सौलभ्य, सौशील्य आदि गुणों का वर्णन तथा प्रभु की शरण जाने में देश, काल, फल और अधिकारी का कोई भी नियम नहीं है, ऐसा बताते आचार्य ने साधनाजगत् में शरणागति को सर्वोत्कृष्ट साधना बतायी। ग्रन्थ का तीसरा अधिकारी वैभव प्रकरण है। इसमें उपायनिष्ठ अधिकारी श्री जानकी जी, श्री द्रौपदी तथा उपेयनिष्ठ अधिकारी श्री लक्ष्मण जी श्री जटायु आदि की कथाओं का सरस एवं मार्मिक वर्णन है।

ग्रन्थ के सद्गुरूपसेवन नाम के चतुर्थ प्रकरण में शिष्य एवं आचार्य के समस्त कर्तव्यों तथा आचार व्यवहारों का उल्लेख है। ग्रन्थ के पाँचवें भगवान की निर्हेतुकी कृपा वैभव प्रकरण में बतलाया गया है कि भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से सभी को अपनाते हैं। उनका वात्सल्य मनुष्य पर ही नहीं अपितु अन्य पशु-पक्षियों को भी अपनी शरण लेने के लिये उनके आनुषंगिक, प्रासंगिक तथा अज्ञातसुकृतों का संग्रह करते रहते हैं और समय विशेष से इन्ही व्याजों से सभी का उद्धार कर देते हैं। इस विषय में ललिता आदि की पौराणिक कथाओं का भी वर्णन किया है। यह प्रकरण विशेष मननयोग्य है। इस ग्रन्थ का अन्तिम छठा आचार्योपायवैभव प्रकरण है। इसमें आचार्य को ईश्वर और जीव दोनों का उपकारक कहा गया है। अन्य साधनों से जिनका उद्धार नहीं हुआ उनका उद्धार आचार्य कृपा से हो सकता है। आचार्यनिष्ठा भागवत निष्ठापर्यन्त होनी चाहिये। आचार्य का प्रत्युपकार तब हो सकता था जब दो परमात्मा और चार विभूतियाँ होतीं तत्त्व जिज्ञासा-रूप पिपासा को शान्ति के लिये मेघ और कूपजल के समान दूरस्थ ईश्वर की अपेक्षा आचार्य को अंजलिगत जल की तरह अत्यन्त सुलभ बतलाया गया है। अन्त में नित्य संसारी बने जीवों को आचार्य सम्बन्ध से पल्लवित, पुष्पित और नित्य भगवत्कैंकर्य प्राप्ति रूप फलपर्यवसायी बताकर ग्रन्थ का समापन किया है।

श्रीलोकाचार्य स्वामीजो के अधिकांश ग्रन्थों एवं विशेष कर श्री वचनभूषण पर विशदवाक्, शिखामणि श्रीवरवरमुनीन्द्र स्वामी जी ने मणिप्रबाल भाषा में विस्तृत भाष्य लिखा। सभाष्य श्रीवचनभूषण का संस्कृत भाषा में अनुवाद भगवत्पाद श्रीरंगदेशिक स्वामीजो(सुप्रासद्ध वृन्दावन के श्रीरंगमन्दिर के संस्थापक) ने किया। संस्कृतमय होने से यह ग्रन्थ सभी विद्वानों के लिये यद्यपि सुलभ हो गया, फिर भी संस्कृतान-भिज्ञ जिज्ञासु श्रीवैष्णवों को इससे विशेष लाभ न हो सका। इस कमी

को पूरा करने के लिये तथा समस्त श्रीवैष्णवों एवं जिज्ञासु भक्तों की प्रार्थना से प्रेरित होकर लोकोपकार हेतु सैकडों व्याख्यान तथा मौलिक ग्रन्थ लेखक श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्त-प्रवर्त्तकाचार्य श्रीमत्परमहस परिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी स्वामीजी महाराजने चिन्तामणि हिन्दी टीका सहित श्रीवचनभूषण लिखकर सम्बत् १९९२ में छपाकर वितरण कराया था। प्रस्तुत चिन्तामणि टीका में सैकड़ों श्रुति-इतिहास, पुराणों, अन्यान्य धर्मग्रन्थों और सभी शास्त्रों का प्रमाण दिया है। इसके साथ-२ सामयिक मूर्तिपूजा, श्राद्ध और अवतारवाद आदि पर भी सैकड़ों श्रौत प्रमाण तथा प्रमाणानुकूल तर्कों से आधुनिक नास्तिकों की युक्तियों का खण्डन किया है। टीका सहित आपादचूड इस ग्रन्थ का अनुशीलन प्रत्येक आस्तिक को करना चाहिये। इसके स्वाध्याय से साधारण पढ़ा लिखा व्यक्ति भी सम्प्रदाय का विशेषज्ञ बन सकता है।

निवेदक—

जगद्गुरु स्वामी रामनारायणाचार्य

अध्यक्ष—कोशलेश सदन, कटरा मुहल्ला

अयोध्या।

॥ श्रीमतेरामानुजाय नमः ॥

श्रियै नमः श्रीधराय नमः

अथ अभिनन्दनपत्राणि



श्रीमद् - सार्वभौम - श्रीमच्छठारिपु - परकाल - नाथ - यामुन - यतिवर वरवर मुनीन्द्रादिप्रणीतसुदिव्य - निबन्धन - निबद्ध - मानस - जनन - मरण - संसरण - महापथबम्भ्रम्यमाण - जनिमत्कदम्ब - विमुक्ति - घण्टापथोप - देशदेशिक - शम - दम-दया - दाक्षिण्यसौशील्यवात्सल्यादिगुणगणविभूषितानन्तश्रीसमलंकृतानीरङ्गादगुरु - भगवदनन्तपादीयानामीशादिदशोपनिषद्व्याख्यातृत्वर्मण्यां सोमवरयज्वोपानरूपसमाधिसमधिष्ठित - वेदसाध्यालक्तत्वर्मण्यामाद्योत्तरसहस्रश्रीसमलंकृतानांश्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य-श्रीत्रिदण्डीस्वामिनां करकमलयोः औरंगाबादमण्डलान्तर्गतदूबेखैराग्रामे श्रीमहाविष्णुयज्ञावसरे सादरसमर्पितानि अभिनन्दनपत्राणि ।

॥ १ ॥

प्रान्ते विहारसरसे द्विजखैरग्रामे,
औरङ्गबादलसिते जनतानिवासे ।
श्रीविष्णुयागसमये बुधविज्ञपूर्णे,
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥१॥

रामानुजन्मध्ये वादिभीतिप्रदे वै,
गुरुवरमुनिवर्यैः स्थापिते सिद्धपीठे ।
गुरुरभवदनन्ताचार्यशिष्यो यतीशः,
जयति गुणगणाढ्यः प्रेष्ठसूरेः सुपूज्यः ॥२॥

श्रीविप्रवंशकलशामृतपूरराशिः,
श्रीश्रीनिवासकृपयाऽत्र विहारभूमौ ।
गाथांश्रुतेर्मधुरां भवरोगहन्त्रीम्,
पातुं समागत इति प्रथितं स्वशिष्यैः ॥३॥

अधिगतपरमार्थैरन्तिमोपायनिष्ठैः,
व्यपगतमदमानैर्निर्जितक्रोधवेगैः ।
हरिभजनपरैः श्रीविप्रपाबन्धुवर्गैः
धनजनबहुभारैर्यज्ञसेवाकृताऽलम् ॥४॥

कुर्मोऽभिनन्दनं श्रीमत् देशिकेषु यतीश्वर ।
श्रीविष्णुयागे प्राचार्योपेन्द्राचार्या धिनामकाः ॥५॥

श्रीमतांचरणाब्जरेणुरुषितः—

उपेन्द्राचार्यः (उमेश प्रसाद उपाध्यायः)
कर्मकाण्डरत्नः, साहित्याचार्यश्च
संस्कृताध्यापकः, उच्च विद्यालय, वरिसवन (भोजपुर)

॥ २ ॥

भवादृशः योगसुकर्मदक्षः क्रियाकलापे कुशलः प्रसिद्धः,
परात्परस्य सुचिन्तकश्च दृष्टः श्रुतीनामपिचेह लोके ।
दुःखे सुखे चापि प्रियेऽप्रिये वै सर्वास्ववस्थासु सदैकरूपः,
रक्तो यथार्को ह्युदयेऽस्तकाले तथैव सेनेशमुनिश्च दृष्टः ॥१॥
गङ्गातटे ज्ञानपुरे प्रसिद्धे तटीयभूमिं खलु नाशयन्तीम्,
आदिष्टवान् देवसरिवद् वरां वै स्वकीय कोपंहर नैवतीरम् ।
कौपीनमद्ज्ञानपते यते वै वचः समाकर्ण्य सुरापगावरा,
यति नमस्कृत्य गता प्रसन्नतां पश्चात्गतादेशसुपालयन्ती ॥२॥
अहो मनुष्याः सुतरां दयानिधेः पवित्रपादौ हृदये निधाय,
भजन्त सेनेश सुनामधेयं कुर्वन्तु स्वं जीवनसार्थकञ्च ।

जगद्गुरूणां प्रवरं यतीन्द्रं श्रीराजनारायणसंज्ञकोऽहम्,
जगद्गुरुर्भक्तियुतो नमामि साष्टांगरीत्या हरिभक्तिहेतोः ॥३॥

श्रीचरणाब्जभृङ्ग :—

जगद्गुरुरामानुजाचार्य स्वामिराजनारायणाचार्यः
संस्थापक एवं अध्यक्ष, श्रीत्रिदण्डिदेवलोक सेवा संस्थान
भक्ति वाटिका, लच्छीराम पोखरा,
कसयाँ रोड, देवरिया (उ० प्र०)

॥ ३ ॥

शीतातिशीतजलविन्दुसमीरयुक्ते
दुर्दान्तदीर्घकरकार्द्रजलाप्तकीर्णे ।
द्वैविध्यकूलकुलिकारसपुष्कराग्रे,
दैनन्दिने सततसाधनसिद्धतीर्थे ॥१॥
खैराद्विवेदिनगरे जनमानसाग्रे,
जेगीयते जनमुखैः सततं सुदिव्यम् ।
सेनेशयोगमहिमा भुवनत्रये वै,
मन्ये गुरो ! तवपदामृतपानपूतम् ॥२॥
चन्द्रो यथा सजलरश्मिवितानशीलः
सूर्यस्तथावहति शीतसुरश्मिजालम् ।
वायुर्यथा प्रवहतीह सुगन्धतोक्ष्णम्,
हीन्द्रो तथा भजति मेघगणैस्तवाङ्घ्रिम् ॥३॥
वेदाध्यायिसुवंशसम्भवसुधीर्वर्गाग्रणीः सद्गुण-
ग्रामो यज्ञपतेर्विहारभुवने वित्तोल्लसत्कीर्तिमान् ।
तद्वंशोद्भवदेवपूजनपरो विप्रात्मजस्वच्छधीः,
त्वदावाप्तवरः सुधीः प्रमुदितः श्रीविष्णुयागे रतः ॥४॥

श्रीमद्द्विप्रबलान्वयाय जलधौ कीर्ति प्रतापोल्लसद्-
सैनेशस्थपदेन्दुकेन्द्रममलं संसेव्यमानो मुदा ।
सोऽयं ते दिशने रतो हि सततं खैराजनैर्यत्नतः,
यज्ञे द्रव्यमहाव्ययञ्च कुरुते ध्यायन् हृदा ते पदम् ॥५॥
पत्रं निरीक्ष्य भवतां मनसाचोभिः
यातं वितर्करसितं गमनाय क्वाचित् ।
ध्यातं सुचिन्तितपदं हृदये स्वकीये,
नाहं प्रयामि सचिवं तव पादमूलम् ॥६॥
स्वप्नं विलोक्य विविधं गृहकृत्यपूर्णम्,
खेदायते मन विवृत विधानकार्यैः
सर्वं विहाय मनसा चरणौ निधाय
यज्ञे समागतजनस्तव दर्शनार्थम् ॥७॥

श्रीमतां पादपद्मभृङ्ग :—

दीनानाथपाण्डेयः व्या० सा० न्या० वेदान्ताचार्यः, उपाचार्यवरः,
शास्त्रचूडामणिः, शास्त्रार्थकेसरी, व्याख्यान-वाचस्पतिः
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयीयः,
वाराणसी ।

॥ ४ ॥

नमामि दासवत्सलं त्रिदण्डयुक्तहस्तकम्,
कषायवस्त्ररंजितं मलोपवीतशोभितम् ॥१॥
सुदारुपात्रहस्तकं सुपादुकाविभूषितम्
भजामि सद्गुरुं सदाशिवादिसिद्धहस्तकम् ॥२॥
प्रशस्यसद्गुणैर्युतं त्रिवीश्वरं यतीश्वरम्,
व्रजामि वेदभूषितं सनातनं सेवितम् ॥३॥
हरेर्विभूतिनायकं सुखोपदेशिकं गुरुम्
जगत्सुपूजितं भुवि प्रसिद्धयोगिनम् सदा ॥४॥

गजेन्द्रमोक्षसुस्थले सुदिव्यदेश-वाञ्छकः
भवत्कृपासुयाचकः अकिञ्चनो हि लक्ष्मणः ॥५॥
करोति ते यतीन्द्र ह्यर्चनं प्रशस्तिपुष्पकैः
दयां कुरु दयां कुरु कृपानिधे कवीश्वरः ॥

श्रीमतां दासानुदास :—

लक्ष्मणाचार्य शास्त्री,

श्रीगजेन्द्रमोक्षदेवस्थान, हरिहरक्षेत्र (सोनपुर)

॥ ५ ॥

सौम्यरूपशुभङ्करं करुणाधिपं यतिशेखरम् ।
सेनदेशिकमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥१॥
प्राज्ञवर्यसुसेवितं निखिलार्थदं च तपस्विनम्
योगिराजमनस्विनं च यशस्विनं मधुवाग्मिनम् ।
इष्टकामभरं प्रभुं विधिविष्णुशंकररूपिणम्
सेनदेशिकमाश्रये मम किं करिष्यति वैयमः ॥२॥
यज्ञमूर्त्तिधरं त्रिदण्डिवरं कमण्डलुराजितम्
उर्ध्वपुण्ड्रविराजितं युगवस्त्रसज्जितविग्रहम् ।
यज्ञसूत्रशिखायुतं निजदासशान्तिकरं विभुम्
सेनदेशिकमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥३॥
लोकमङ्गलकारणं सकलाघशैलसुवज्रिणम्
कालकालसुरूपिणं पवनात्मजेन सुसेवितम् ।
रामकृष्णपदाब्जयुग्मरसस्यसेवनषट्पदम्
सेनदेशिकमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥४॥
धर्मवित्तसुकाममुक्तिकरं मुनीश्वरनायकम्
भोगिनायकसेवितं रघुनाथकीर्त्तिसुगायकम् ।
भक्तभद्रसुदायकं यदुनाथकीर्त्तनकारकम्
सेनदेशिकमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥५॥

समीहे त्वां द्रष्टुं मुनिवर लभे तां नहि दृशम् ।
यतस्त्वामीक्षेयं प्रणति निवहेनार्चनमनाः ॥२॥
स्वामिंस्त्वदीय पदपंकजपंजरान्ते
कीरायमाण भवतात्मम तुच्छजीवः ।
नंवाधिकं कमपिवाञ्छेति श्रीमदग्रे
एतद् मनोरथवरं परिपूर्यतां मे ॥३॥
इन्दुबाणनभे नेत्रे, सर्वजीत्नामवैक्रमे ।
वत्सरे पौषमासेऽस्मिन् शुक्ले पूर्णिमयायुते ॥
विष्णोर्यज्ञः सुसम्पन्नः खैरानामनिपत्तने ।
विष्वक्सेनतपस्तेजो महिम्ना भूरिभास्वता ॥४॥

दासानुदासः

रामसुरेशपाठकः
व्या० सा० धर्मशास्त्राचार्यः
छपरास्थ सोऽहं विद्या-मन्दिरस्य
प्रधानाचार्यः

॥ ८ ॥

औरंगाबादरम्ये, जनपदरुचिरे, श्रीमहाविष्णुयागे,
दूबेखैरासुपुण्ये, सकलफलयुते, श्रीवैष्णवैः पूर्णग्रामे ।
सर्वालङ्कारयुक्ते शुभफलदहरिः आसनेषु प्रतिष्ठः,
श्रीलक्ष्मीनाथदेवः समुदितमनसा पूज्यते देवभक्तैः ॥१॥
चन्द्रेषु-शून्य-युगसम्मित-वैक्रमाब्दे,
श्रीपौषमासगुरुवामरतः विधाय ।
एकादशीसुतिथितः सितपौर्णिमान्तम्,
लक्ष्मीशसेवितमखः प्रतिभाव्यपूर्णः ॥२॥
संसारार्णवमग्नदीनजनताउद्धर्तुं कामं सदा
वेदार्थाभिनवप्रकाशमतुलं निष्कामभावेन वै ।
यद्गत्वा खलु भारतस्य परमं दिक्षु सुविस्तारयन्,

तं वन्दे यतिशेखरं मुनिवरं वेदान्तपारंगमम् ॥३॥
वात्सल्याम्बुनिधिं विवेकजलधिं कल्याणकल्पद्रुमम्,
भक्तानामभयङ्करं खलरिपुं प्रेमाम्बुपूर्णं घनम् ।
दातारं सुखसम्पदां नरवरं श्रीवैष्णवानांवरम्,
विष्वक्सेनमतिप्रबोधनिचयं सत्यव्रतं संश्रये ॥४॥

यतिवरं तिलकाङ्कितशेखरम्,
द्विजवरं वरमाल्यसुशोभितम् ।
अखिललोकगुरुं परमाद्भुतम्,
मुनिवरं प्रणमामि तपोधनम् ॥५॥

भुवनेश्वर संज्ञोऽहं त्वदीयपादसेवकः ।
खैराग्रामे महायज्ञे कुर्वे स्वाम्यभिनन्दनम् ॥६॥

श्रीस्वामीपदपङ्कजालिः
भुवनेश्वर त्रिपाठी
व्याकरणसाहित्याचार्यो विशारदश्च
संस्कृताध्यापकः
राज्य सम्पो० श्रीरामनारायण संस्कृतोच्च विद्यालयः
बरडीहाँ, पत्रालय—नासरीगंज
(रोहतास)

॥ ६ ॥

येषां कण्ठप्रदेशाद् वहति सुरनदी जाह्नवी पुण्यतोया,
येषां वक्षे च वाणी प्रसरति सततं ज्ञानदा मोक्षदा वै ।
श्यामाङ्गे शान्तरूपे प्रहसति यमुना श्यामवर्णातिश्यामा,
तीर्थक्षेत्रं प्रयागं गुरुवरवदने चागतं लोकयामः ॥१॥

विद्याविवेकनिपुणः विमलस्वभावः,
ख्यातिश्चलब्धचरणेषु सदा निमग्नैः ॥५॥
चन्द्रबाणाग्रहस्ताब्दे पौषमाससितेदले,
पूर्णातिथिसमायुक्ते सोमवार समन्विते ।
शोणभद्रतटे प्राच्यां दूबेवंशशिरोमणिः,
ग्रामखैरेतिविख्यातः सर्वसम्पत्समन्वितः ॥६॥
सर्वे द्विजा सुसम्पन्ना वेदविद्याविशारदाः
स्वल्पकालेऽपि यज्ञः सम्पन्नस्त्वलौकिकचर्यया ॥७॥
श्रीशाण्डिल्यकुलेजातः लब्धज्ञानपयोव्रतात्,
विविधविधिशास्त्रज्ञः अम्बिकादाससेवकः ।
ग्रामः पोस्टस्तथा ब्लौकः थानापि तत्रवर्तते
गोड़ारी वर्त्तमाने वै रोहितं मण्डलं तथा ॥८॥

श्रीचरणाश्रितः—

अम्बिका त्रिपाठी,

सा० आयुर्वेदाचार्यः, दैवज्ञः,
हिन्दी साहित्य विशारदश्च,
भू० पू० प्रधानाध्यापकः
ग्राम० पो० गोड़ारी (रोहतास)

॥ ११ ॥

विशुद्धसत्वं तव धाम शान्तं, तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥१॥
कुतो नु तद्धेतव ईशत्कृता, लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् विभर्ति, धर्मस्यगुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥२॥
पितागुरुस्त्वं जगतामधीशो, दुरत्ययः कालउपात्तदण्डः ।
हितायस्वेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वञ्जगदीश मानिनाम् ॥३॥
ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वाऽमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहाखलानामपि तेऽनुशासनम् ॥४॥

सत्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽर्हसि मूढचेतसो नैव पुनर्भूर्न्मतिरीशमेऽसती ॥५॥

भवदीयचरणाश्रित :—

द्वारकाधीशपाण्डेयः, भू० पू० प्रधानाध्यापकः
बालकृष्ण सं० वि०, वराढ़ी (रोहतास)

॥ १२ ॥

पादाब्जरेणुग्रहणाय नूनं
आबालवृद्धाः ननु भक्तिपूर्णाः ।
सम्यक्हितार्थाय स्वमङ्गलाय
कल्याणमार्गं सुविलोकयन्ति ॥१॥

दण्डं गृहित्वा ननु सौम्यभावात्
परित्रमायांमखमण्डपस्य ।
परिभ्रमन्तं भवतां विलोक्य
भूमौ च स्वर्गीयसुखं भजन्ते ॥२॥

यत्रास्ति भवतां ननु पर्णशाला
तत्रैव सर्वं वैकुण्ठतुल्यम् ।
लताघटारम्यमहीरुहाञ्च
सर्वेहि मे विष्णुकुलं भजन्ति ॥३॥

रामानुजाचार्यमिव प्रशान्तं
निर्वैरसौम्यंसमदर्शिनञ्च ।
लोकोपकारायसदैव तत्परं
तं नेशरूपं मनसास्मरामि ॥४॥

श्रीस्वामिपदाब्जभृङ्गः
राजेन्द्र रामानुज श्री वैष्णवदासः
राज किशोर मिश्र
एम०ए० साहित्यप्राचीन व्याकरणसर्वदर्शनचार्य
पी० एच० डी०
ग्राम पो० बहोरनपुर, (भोजपुर)

॥ १३ ॥

भ्रमन् शोणगङ्गादिके पुण्यक्षेत्रे,
वसन् पर्णकुट्यां मनोयोगलीनः ।
धृतं दारुपात्रं मखं कार्यहेतुः,
नमामीश सर्वेश्वरं त्वां यतीन्द्रम् ॥१॥

सदा सेव्यमानं महार्हं दयालुम्,
सुशास्त्रोपदेशेन यज्ञेन लोके ।
सतां मोह शोकान्धकारान् हरो वै;
नमामीश सर्वेश्वरं त्वां यतीन्द्रम् ॥२॥

न जाने परं देव देवाधिनाथम्,
न ध्याये परं भूत-योगस्वरूपम् ।
सदा सर्वतोभाव पादार विन्दे
नमामीश सर्वेश्वरं त्वां यतीन्द्रम् ॥३॥

न गच्छामि तीर्थेषु काले कदाचित्,
न संसाध्यते धर्म-कर्मद्वितीयः ।
सुतीर्थास्पदं स्वामि पादौ सुपांशुः;
नमामीश सर्वेश्वरं त्वां यतीन्द्रम् ॥४॥

सुखैरेवि ग्रामे महाविष्णुयज्ञम्,
सुकूल्योत्तरे वाम भागेऽति रम्ये ।
स्वज्ञानोपदेशेन शुद्धं करोति,
नमामीश सर्वेश्वरं त्वां यतीन्द्रम् ॥५॥

श्रीकृष्णदेवदासस्तु स्वामिंस्त्वच्चरणाश्रितः
करोति वन्दनं सम्यक् श्रीवैष्णवमुदावहम् ॥६॥

श्रीस्वामिचरणचञ्चरीकः—

कृष्ण पाठकः

साहित्याचार्यः, स्नातक, विशारद बी० टी०
अध्यापकः - एम० जी० एस० के० उच्च विद्यालय
नाऊर (औरंगाबाद)

॥ १४ ॥

बिहारप्रान्तमध्येवै औरंगाबादमण्डले ।
सविद्धे दाउदग्रामस्य खैरानाम विश्रुतम् ॥१॥
ऋषिकुल्यातटेशुभ्रे शितेनीरे पुलते तथा ।
गीतोऽपदेशदानार्थं योगीह्येकः समागतः ॥२॥
मासपर्यन्तकालेन योगसिद्धोपदेशने ।
निरतः सततं दृष्टः भगवत् सद्रूपमानतः ॥३॥
मन्दं मन्दं प्रबहति पवनः जलकण सहितं साधुवाद प्रदाने
दिवारात्रं समं भूत्वा कालं कलयते निशा । सूर्यं निरीक्ष्य
भनसि चन्द्रायते सः दिवा ।
तद् विपरीत दशा विधान करणे किनेन्दुः सदा दृश्यते ॥४॥
अभिनन्दनप्रदानेन सेवेऽहं सततंमुदा ।
पद्मनाभाभिधो दासः कामये त्वत्पदं सदा ॥५॥

दासानुदासः—
पद्मनाभ त्रिपाठी
साहित्याचार्य, एम० ए०, बी० एड०
ग्रा०-पो० पेरहाप
जिला—भोजपुर

॥ १५ ॥

दूबेखैराभिधेग्रामे कृपांकृत्वा यतीश्वरः ।
महाविष्णुमखं चक्रे यतिराजो मुनीश्वरः ॥१॥
प्रणमामि मुनिं नित्यं काषायाम्बरधारिणम् ।
शखचक्राङ्कितं देवं वरदं भक्तवत्सलम् ॥२॥
नमः परमहंसाय नमस्ते ब्रह्मचारिणे ।
नमस्ते ब्रह्मरूपाय विष्णुरूपायते नमः ॥३॥

कलौ पापनिनाशाय वैष्णवानां हिताय च ।
जगति शिक्षणं कर्तुं जन्म लेभे कवीश्वरः ॥४॥
समर्प्यते सुरेशेन पद्मपुष्पचतुष्टयम् ।
स्वीकुरुष्वं दयां कृत्वा जगदाधाररक्षक ॥५॥

श्रीमतां चरणोपासकः—

सुरेश त्रिपाठी, व्या० साहित्याचार्यः,
तिवारीडीह ग्रामवास्तव्यः,
रोहतासमण्डलस्थः ।

॥ १६ ॥

सफलयज्ञप्रचारक हे प्रभो,
जयतु पापविनाशकहे विभो ।
निखिलशास्त्रपुराणसुपारग,
हरतु मे निखिलं दुरितं अहो ॥१॥

विष्वगार्याय दिव्याय,
भारती-रक्षकाय च ।
नमो यतीन्द्रवर्याय
योगीन्द्रायनमो नमः ॥२॥

श्रीमतांचरणचञ्चरीक :—

भरतजी द्विवेदी, व्याकरणाचार्यः
अदिलाबाद, गाजीपुर ।

॥ १७ ॥

श्रीमद्वादिभयंकरगुरुवरं सत्साधुभिः सेवितम्,
भक्तेभ्यो ह्यभयप्रदं सुसुखदं धर्मार्थमोक्षप्रदम् ।
विद्यारूपं प्रसिद्धं सकलगुणनिधिं सर्वतन्त्रे स्वतन्त्रम्,
विष्वक्सेनं यतीन्द्रं निखिलनयविदं श्रेयसे संश्रयामि ॥१॥

योगीशः योगनाथः हरिपदयुगलं ध्यायते यः समाधौ,
औरंगाबादखैरावसतिसुरुचिरे विष्णुतोषाय यज्ञम् ।
भक्तानां आग्रहैर्वै सकलसुखकरं वेदरीत्या करोति,
एवं भूतं मुनीन्द्रं रुचिकरवरदं श्रेयसे संश्रयामि ॥२॥
योगप्रभावैः मृतकोऽपि नव्यं भव्यं पुनर्जीवमेति शीघ्रम्,
एवं गुरूणां गुरुमद्य नौमि सेनेशसंज्ञं किलभक्तिभावैः ।
यत्पादपद्मरजसा भुवनं पवित्रं संजायते सुखकरं न विचित्रमेतत्,
यतो हि योगीन्द्रपदाब्जमध्ये भवन्ति तीर्थानि सुसंस्थितानि ॥४॥
उपेन्द्रनामकः श्रीमान् भगवद्दासानुदासकः,
सेवायां श्रीमतामद्य ददाति पद्यपुष्पाञ्जलिम् ॥५॥

श्रीमच्चरणचञ्चरीक :—

उपेन्द्राचार्यः (उपेन्द्रनारायणशुक्लः)

कर्मकाण्डी, साहित्याचार्यः, पौरोहित्याचार्यश्च,
श्री त्रि० दे० सत्संगाश्रम, डेहरी
(रोहतास)

॥ १८ ॥

श्रीवैष्णवाग्रमणिभूषणभूषितस्य,
वेदादिशास्त्रपरिशीलनतत्परस्य ।
लोकोत्तरस्य यतिराजपदेस्थितस्य,
वन्दे तवांघ्रियुगलं यतिपुङ्गवस्य ॥१॥
विमलबुद्धिकरा च कथा कदा,
श्रवणमार्गपता च भविष्यति ।
त्यजतिवारिकणंनयनद्वयम्,
अहह ! नाथ तवाद्भुतदर्शनम् ॥२॥

समर्पक :—

नूतनशिष्य : शीतांशुशेखरपाठकः,
पाठक बिगहा (औरंगाबाद)

॥ १९ ॥

अनन्ताचार्यशिष्याय विष्वगार्याय योगिने,
लोकार्थं भ्रमते योहि विष्वक्सेनायते नमः ॥१॥
त्रिदण्डो दक्षिणेयस्य करे वामे कमण्डलुः,
नव्यरामानुजार्याय सेनेशाय नमोऽस्तुते ॥२॥
नमश्चानन्तरूपाय विशिष्टाद्वैतवादिने,
वादिभीतिकरार्याय प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥३॥
एकः बाणाभ्रयुग्मेऽब्दे पौषस्यद्वितीयेदले ।
अवधेशेनदासेन दीयते पद्यमञ्जरी ॥४॥

श्रीस्वामिपादाब्जचञ्चरीक :—
अवधेश उपाध्यायः, व्याकरणाचार्यः
उच्च विद्यालय, नवीनगर रोड
(औरंगाबाद)

॥ २० ॥

दृष्ट्वा घोरकलिं विपत्तिमरणं दैन्यं जनानां भृशम्,
त्यक्त्वाक्षीरनिधिं सुरेश्वगुरु र्नारायणोऽत्रागतः ।
गंगाशोणपुनः पुनादिसरितां तीरे वसन् योऽधुना,
कल्याणं कुरुतेऽन्वहं तनुभृतां तं स्वामिनं संश्रये ॥१॥

कुसुमपर्ण विनिर्मितसद्मिन निजजनैः रचितेफलकासने ।
विबुधवृन्दसमन्वितसंस्थितं गुरुवरं प्रणतोऽस्मियुगेश्वरम् ॥२॥

अमलविग्रहभक्तविभावनं नियतिकारणकार्यनिदेशकम्,
चरणवन्दनतापनिवारकं, गुरुवरं प्रणतोऽस्मियुगेश्वरम् ॥३॥

ज्ञानप्रकाशरणैकदिनेश्वराय, धर्मोपदेशकरणेफलकस्थिताय ।
सर्वेश्वराय शुभदाय जनेश्वराय श्रीमत्त्रिदण्डिगुरवे नम ईश्वराय ॥४॥

श्रीकान्यकुब्जवरवंशसमुद्भवोऽहम्,
श्रीरामकृष्ण (परमहंस) पदपद्मपरागभृङ्गः ।
लोकान्वयोऽस्तिभुवने मिथिलेश दूबे,
पद्यात्मिकां सुकुसुमाञ्जलिमर्पयामि ॥५॥

भावत्क :—

मिथिलेश कुमार दूबे,

व्या० वे० ज्योतिषाचार्यः, साहित्यप्रतिष्ठा,
छात्र-विद्यावारिधि, का० सिं० सं० वि० वि०, दरभंगा

॥ २१ ॥

स्वामी सदा भजति विष्णुसुयन्त्ररत्नम्,
प्रातः प्रदोषसमये गृह्णति दूग्धम् ।
सायंतु श्रावयति कृष्णकथामृतं वै,
श्रुत्वातु सज्जनजनाः मुदिताभवन्ति ॥१॥
सक्तो मया प्रतिदिनं धनसंग्रहेषु
दारात्मजेषु विषयेषु सदा मनो वै ।
मुक्तिप्रपतिविषये न रत कदापि,
मां रक्ष मो यतिपते शरणागतोऽस्मि ॥२॥

श्रीमतांचरणानुरागी—

अनिल कुमार त्रिपाठी,

आचार्य, (प्रथम) वेद विभाग,
नवीनगरवास्तव्यः (औरंगाबाद)

॥ २२ ॥

परं पूज्यगुरुवराः !

भारतभूमिः ऋषिभूमिरस्ति यत्र भवादृशानां ज्ञानपूतानां तपस्विनां सुदर्शनं जायते, नतुखल्वन्यत्र । भवन्तः वैदिकविशुद्धसनातनधर्माणां तथा आर्यसंस्कृतेः संरक्षकाः सन्ति । भवतां वाग्भूषणदानेनैव किल धर्मार्थ-

काममोक्षाणां संप्राप्तिर्भवति ! अद्य भारतभूमिः पापविकला संदृश्यते। भोगवादिनां प्राबल्येन सच्चारित्र्यवल्लरीकम्पमानाइव प्रतिभाति। एतादृशसंक्रमणकाले श्रीमदाचार्यवर्य्याणां तप एव भक्तेः मुक्तेः सन्मार्गाणाञ्च एकमात्रावलम्बनम्। अतः देवान् पूर्वाचार्यान् ऋषींश्च याचे यत् प्रखरभानुतुल्यः अस्मद्शिकः श्रीमान् शत-शत वर्षाणि जीवेत् प्रकाशयेच्च भुवि भक्तियोगमार्गं।

सदभिलाषानवाङ्कुराणि प्रार्थनायाः पद्मपुष्पं चसमर्प्यते श्रीचरणेषु।

श्रीमतांपावनपादपद्मचञ्चरीक :—

श्रीमन्नारायणतिवारी, न० व्याकरणाचार्यः

औरंगाबादमण्डलस्थसदीपुरडिहरी प्र० क० उ० विद्यालयस्य

संस्कृताध्यापकः, रढ़ुआग्रामवास्तव्यः।

॥ २३ ॥

तारयितुमधिजीवान्, भ्रमते भारते तु यः।
नवरामानुजं दिव्यं, तं भजत्वं पुनः पुनः॥
रामकृष्ण अभिनव रामानुज, भज स्वामीमन रे जाली।
लखचौरासी बाद मिला है, दाव न जाये कहीं खाली॥
बुकिंग आफिस यह कुटिया है, बुकिंग कलर्क हैं संत सभी।
श्रद्धा दाम दो, मंत्र टिकट लो, बिन पैसे बिकने वाली॥
नर जीवन जंकशन है जगत् का, है प्लेट फार्म पर ट्रेन रूकी।
हो जाओ तैयार ट्रेन है, जंकशन से खुलने वाली॥
वैष्णव कृत्य इमरजेंसी में, सुबह-शाम नित भजन करो।
कहे सिद्धेश्वर भजमन स्वामी, बार-बार हाली-हाली॥

पदपद्मरजाभिलाषी

सिद्धेश्वर पाठक

साहित्याचार्य एम० ए० बी० टी०

ग्राम–बुधुआ, जपला, पलामू

॥ २४ ॥

हे संत श्रेष्ठ हे तपो पुञ्ज, यतिवर ऋषिवर है अभिनन्दन ।
त्रिदंडधारी गुरुवर स्वामी, त्रय ताप हरण है अभिनन्दन ॥१॥
नैमिषारण्य उतर आया, आप आए तो सतयुग आया ।
"दूबे खैरा" के नर-नारि, हुए धन्य-धन्य करके वन्दन ॥२॥
श्री कृष्ण-प्रतिज्ञा भंग हुई, औ' भीष्म प्रतिज्ञा पूर्ण हुई ।
भगवान भक्त के बस रहते, अटपटे प्रेम के सुन क्रन्दन ॥३॥
श्री विष्णु यज्ञ महान रचे, सतरंगी इन्द्रधनुष सालगे ।
मंत्रोच्चारण अनहद सा गुञ्जे, औ' तृप्त हुए जन-जन कण-कण ॥४॥
जहाँ चरण पड़े अवनीतल पर, वहाँ तीरथराज बसे गुरुवर ।
बिन तरुवर के भी सुरम्य बना, जैसे शोभित कानन नन्दन ॥५॥
दारुण दुःख की आई बारी, हे भयहारी हे पय हारी ।
अश्रु के अर्घ्य लिए हैं खड़े, गुरुवर स्वामी सब ग्रामीण जन ॥६॥
मैं तो हूँ अधम, शठ, अविवेकी, अघ हरण किए फिर भी नेकी ।
नतमस्तक हूँ, अंकाश्रित हूँ, स्वीकार करें प्रभु तन-मन-धन ॥७॥
हे क्षमाशील, हे दयानिधे, प्रतिपल, प्रतिफल का स्वार्थ मेरा ।
फटकार, दुलार, और प्यार प्रभु, मुझे कौन करेगा अब क्षण-क्षण ॥८॥
रजकण का भिक्षुक बन गुरुवर, झोली फैलाए हूँ मैं खड़ा ।
"प्यासा" का है यह शब्द कलश, स्वीकार करें यह है अर्चना ॥९॥

श्रीचरणों का दासानुदास
मधुसूदन दूबे "प्यासा" शिक्षक
ग्राम-पो०—कारा
जिला-औरंगाबाद (बिहार)

★

॥ २५ ॥

जय बोलीं हरदम गोदा के, यतिवर स्वामी की शरनियामें ॥टेक॥
तुलसी बगिया में भईल जनम, मुरलीधर मूरति पर मोहली ।
श्रीभट्टनाथ का अँगना में, सीता अईसन गोदा पलली ॥
माला नित स्वामी पहिरावस, वटशायी प्रभु का गलवा में ॥१॥
गोदा जी नित पहिले देखस, मलवा के पहिनी अपना गलवा ।
भगवान का लायक कब हमहूँ, सुघर-सजब सोचस मनवा ॥
माला पहिरत श्री स्वामी जी, देखि लिहलन एक दिन घरवा में ॥२॥
क्रोधव। में गोदा के डँटलन, नाया माला गूँथलन फिर से ।
प्रभु के पहिनावे गईलनत, भईल श्री बानी मंदिर से ॥
हम पहिनब ओहि माला के, धईली जे गोदा गलवा में ॥३॥
कईली कड़ुआ गोदा तपवा, शादी करे खातिर अपना ।
श्री भट्टनाथ स्वामी देखलन, वटशायी प्रभु से एक सपना ॥
श्रीरंगनाथ भगवन भेंटलन, मन लायक सुघर दुलहा में ॥४॥
अरचावतार का मूरति से, कलि में अजबे शादी भईल ।
गोदा जी गईली कोहबर त, देहियाँ सब प्रभु में मिली गईल ॥
साधु, राजा-परजा लोगवा, जयकार कईलन श्री रंगम में ॥५॥

दासानुदासपदलोलुप :—

अभियन्ता रामजी पाठक

सिंचाई विभाग, समग्रयोजना, पटना

॥ २६ ॥

धर्म धुरन्धर हैं, गुरुवर हमारे ।
श्रीमातु के हैं ये, आँखों के तारे ॥ धर्म ……
वस्त्र काषाय में, शोभित तन है ।
निश्छल वचन और, निर्मल मन है ।
ज्ञान की गंगा में, तन को सँवारे ॥ धर्म ……

वेदों की कठिन कड़ियाँ सरल कर।
भक्तों को देते हैं, अंजुलि में भर-२।
परम कृपालु हैं, गुरुवर हमारे।। धर्म
हिमालय-सा अटल हैं, सत्य के पथ पर।
हरदम विचरते हैं, न्याय के रथ पर।
"कृष्णा कान्त" करते हैं, नमन तुम्हारे। धर्म

श्रीस्वामिचरणचञ्चरीक :-
कृष्णाकान्त दूबे "शास्त्री"
ग्राम-पो० सिसिरौत (रोहतास)

॥ २७ ॥

हे वात्सल्य के महार्घमणि !

आज इस पुनित अवसर पर इस "दूबे खैरा" ग्राम में "श्री सद्गविष्णु यज्ञ" का आह्वान कर सेवरी के जूठे बेर पर रीझने वाले प्रभु की तरह जन-जन में चरण रज बिखेरने की आज्ञा देकर कृत्य-कृत्य कर दिया। आपके हृदयारविन्द में हम अंकाश्रित बेबुझ की पुकार शायद आपके वात्सल्य प्रेम को उद्वेलित कर दिया, और हम अकिंचन को सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस क्षेत्र के तिमिर तम, आपके युगल चरणों से छिटको पावन रश्मि से प्रकाशित हो गया। हे सन्त-श्रेष्ठ! आज से ऐसा लगता है कि कण-कण और जन-जन को मुक्ति का वर प्राप्त हो गया है।

"थक चुके थे नैन दोनों, तन शिथिल भी हो गये थे, मन नहीं हारा था, पर हृदयगति अब रुक रही थी।

व्योम से आई किरण, बन प्राण रक्षक एक तब, मच गई हल-चल अचानक, गतिमान अवयव हो गये थे।।"

हे धर्म-ध्वजा के रक्षेश्वर !

इस घोर कलिकाल में आपदाओं-विपदाओं से जूझता हुआ

अविधेकी झंझावात में आपका तपोनिष्ठ एवं योग साधना दिनकर के प्रखर तेज के समान देदीप्यमान हो, मन वाणी और कर्म को त्रिशुद्ध बनाये रखने का ज्ञान देकर अधमय जन का उद्धार कर रहा है। आपके आगमन जान देव एवं तीर्थ दोनों ही उपस्थित होकर कल्याणकारी हो गये हैं। आपकी अमृतमय वाणी एवं उपदेशों को सुनने के लिए तुच्छ जीव, शठ और अविवेकी भी रूक जाते हैं। श्री सम्प्रदाय की धर्म ध्वजा की छाँव तले आपकी कृपा से कितने ही धन्य हुए।

हे शरणागत-वत्सल करुणेश्वर यतिवर !

हम अधमों के उद्धारार्थ शंख चक्र का चिह्न लगाकर शरणागति का उपदेश देनेवाले योगेश्वर आपको शतशः नमन है। कर्म के द्वारा ज्ञान की अमिट छाप लगाने वाले ज्ञानेश्वर, दुग्धाहार कर योगसाधना के द्वारा आयु पर विजय प्राप्त करने वाले हे सन्त-श्रेष्ठ कोटिशः नमन है। हे धर्म के सचेतक अनेकों ग्रन्थों के प्रणेता एवं समस्त भारत भू पर अखण्ड धर्म ज्योति जलाने वाले ऋषिवर आप धन्य हैं। आपका दो टूक प्रश्नों का उत्तर सुनकर आप द्वारा लिखित-पुस्तक "निर्द्वन्द्व मुख-भंग चपेटिका" का स्मरण होने लगता है। आपका प्रवचन भवभीति को भगाकर निर्भयता का संचार करता है।

हे अधमय कलिकाल से जन-जन के उद्धारक !

आपका भेरी निनाद और उद्घोषणा जो श्री सम्प्रदाय को लेकर प्रतिदिन उद्घोषित होती रही कि भक्तों आओ और वैष्णव दास बन जाओ। यहाँ सभी दास होते हैं, सेवक होते हैं, कोई छोटा या बड़ा नहीं होता है। इस निनाद को हम सभी ग्रामवासी हृदयङ्गम कर लें, हे सन्त शिरोमणी ऐसा आशीर्वाद दें। हे मेरे आराध्य गुरुवर ! प्रकृति के इस विरान आँचल में एक छोटे से नहर तट पर, पर्ण कुटी में रहकर, आनन्दमय, स्वस्थ एवं सुन्दर जीवन का एक दुर्लभ पाठ आपने हमें सिखाया है। हे उनातन धर्म के भास्कर आप धन्य हैं।

हे श्रीमत् परमहंस स्वामी जी महाराज !

अश्रुप्लावित नेत्रों एवं अवरुद्ध वाणी से युक्त, हृदय में करुणा का भाव संजोये सभी जन एवं "दूबे खैरा" ग्रामवासी, आजकी अभिनन्दन-सभा में आपके सम्मुख अपनी-अपनी झोली फैलाये चरण रज की भीख माँगने आए हैं। उम्मीद है, हमारे उदण्ड व्यवहार एवं विपरीत आचरण को क्षमा करते हुए भीख अवश्य देंगे। आज इस विदाई की वेला में हम दीन हीन ग्रामवासी करबद्ध आँसूओं का अर्घ्य लिए हैं। "मिलत एक दारुण दुःख देहीं, बिछुड़त एक प्राण हर लेहीं"। की स्थिति में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। अहर्निश सेवा का वचन देकर आशीर्वाद की कामना करते हैं, जिससे हमारा दोष दूर हो। आपके श्री चरणों का नित्य स्मरण कर हम संसार सागर से अवश्य पार उतर सकेंगे। इस अटूट विश्वास के साथ सभी जन समुदाय, दूबे खैरा के ग्रामवासी एवं पार्श्ववर्ती गाँवों की ओर से अभिनन्दन करते हुए श्री चरणों में नतमस्तक हैं।

हम हैं आपके—

यज्ञ समिति, "दूबे खैरा" वासी

(औरंगाबाद)

॥ २८ ॥

विश्ववन्द्य निश्चबन्धु !

'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुपम सिद्धान्त को श्रीमान् ने जीवन पर्यन्त सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। आपके मंच से प्रतिदिन "विश्व का कल्याण हो" तथा "प्राणियों में सद्भावना हो" के नारों का उद्घोष ध्वनित एवं प्रतिध्वनित होता रहता है। यही कारण है कि देश-विदेश के साधु-सन्त आपके फलक-सिंहासन के सन्मुख अपना सर झुकाते हैं और आशीर्वाद ग्रहण करते हैं।

राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत यतिराज !

किसी भी राष्ट्र की रीढ़ वहाँ की शिक्षा एवं शिक्षा-पद्धति होती है। सम्पूर्ण देश में शिक्षा प्रसार-प्रचार के लिए आपके अथक परिश्रम की जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही होगी। बक्सर के चरित्र-वन में स्थित श्री त्रिदण्डि देव उच्च विद्यालय, अयोध्या के कैकेई घाट पर स्थित श्री त्रिदण्डि देव संस्कृत महाविद्यालय सह संस्कृत शोध-संस्थान तथा देश के विभिन्न भागों में स्थित अनेकानेक विद्यालय एवं महाविद्यालय आपके शिक्षा-प्रेम के ज्वलन्त प्रकाश स्तंभ हैं। इन शिक्षा-संस्थानों की निजी विशेषता भी है। विद्यार्थियों को न केवल निःशुल्क शिक्षा ही प्रदान की जाती है बल्कि उनके निःशुल्क भोजन-वस्त्र का भी समुचित प्रबन्ध रहता है।

दृढ़-प्रतिज्ञ, सत्यवादी एवं त्रिकाल-दर्शी देवर्षि !

स्वामी जी ! भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की सूक्ति "चन्द्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार, पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द्र का टरै न सत्य-विचार" तथा "वृथा न जाइ देव-ऋषि वाणी" भी आपके सन्दर्भ में शत प्रतिशत चरितार्थ है।

श्री चरणों का ही आश्रित,

जंग बहादुर पाण्डेय,

एम० ए० (अंग्रेजी) डिप-इन-एड०

अवकाश प्राप्त शिक्षक

जिला स्कूल आरा (भोजपुर)

॥ २६ ॥

त्रिदण्ड त्रिताप है काटा हर पल ।
कमण्डल-संचित किया पुण्य-फल ॥
चरण-पादुका शरण में रखती ।
आरत-जन की व्यथा है हरती ॥१॥

गेरु रंग के वस्त्र परिधान की ।
सजग दृष्टि है श्रुति पालन की ॥
मंडप की मैं समझूँ विशेषता ।
खुला हाथ न लौटा मँगता ॥२॥

स्वागत कर क्या सकता जन-मन ।
जिसे न होवे आज्ञा श्रीमन् ॥
भाव-अभाव न होने पावे ।
अशरण - शरण चिरन्तन पावे ॥३॥

एकबार दृष्टि डालें तो ।
तरण-तारण हो, भवबन्धन को ॥
हे नटवर ! हे करुणासागर ।
प्रणत की रक्षा करें हे नागर ॥४॥

'राम' की दीन दृष्टता पल-पल ।
साष्टांग करा और सरल-कर ॥
कर पाऊँ जो सेवा कुछ भी ।
अब आशा भी शेष यही है ॥५॥

चरणकमल चञ्चरीक :—
रामजी चौबे
ग्राम–बड़वाँ
राष्ट्रीय उच्च विद्यालय, दाउदनगर
(औरंगाबाद)

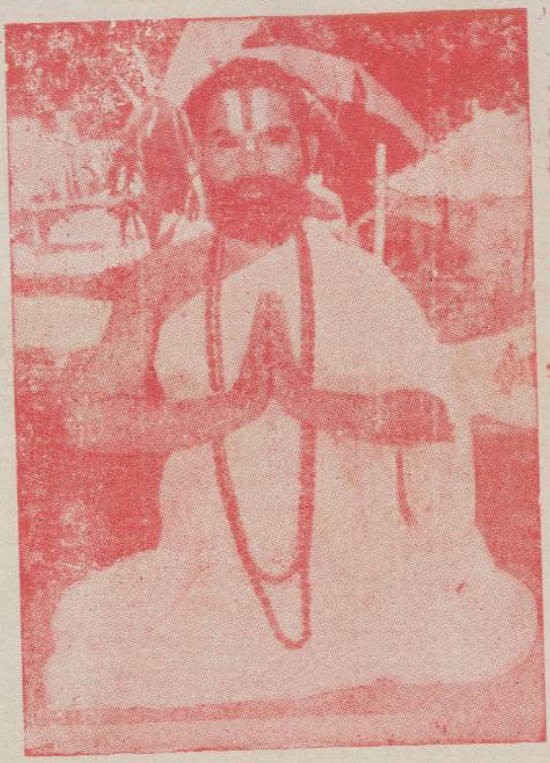
॥ ३० ॥

॥ श्रीः ॥

जिन्ह पायन्ह में मम प्राण बसै, महिमा तिनकी नहीं जात है गाई।
शुचिता में जहाँ सब तीर्थ मिले, अमरावतीवारम्बार लजाई॥
धिक् जीवन जन्म वृथा जननी पद-अंबुजकी जो सुधा नहीं पाई।
वर देहू प्रभो मन भँवर बनै, पद-पङ्कज-कोश रहै मँड़राई॥
वसुधा धन-धन्य लिए पद-रेणु कि वेणु-गोपाल बने यतिराई।
कलिकाल के पाप से भू न फटै, रघुनाथ त्रिदण्ड लिए हैं उठाई॥
सुर-वृन्द खड़े गगनाङ्गन में, जनु दरस के हेतु रहे ललचाई।
मन बावरे! मुक्ति मिले भव से, गहट्टू पद-पङ्कज वेगहिं धाई॥

नाथ! त्वदीयपद-पङ्कज-पञ्जरान्ते,
लीलाशुको भवतु मे सुमनः कृपालो।
गद्-गद्-गिरासु मधुरं तव कीर्ति-पाठं,
जिह्वा करोतु विमला पद-कीर्ति-मग्ना॥

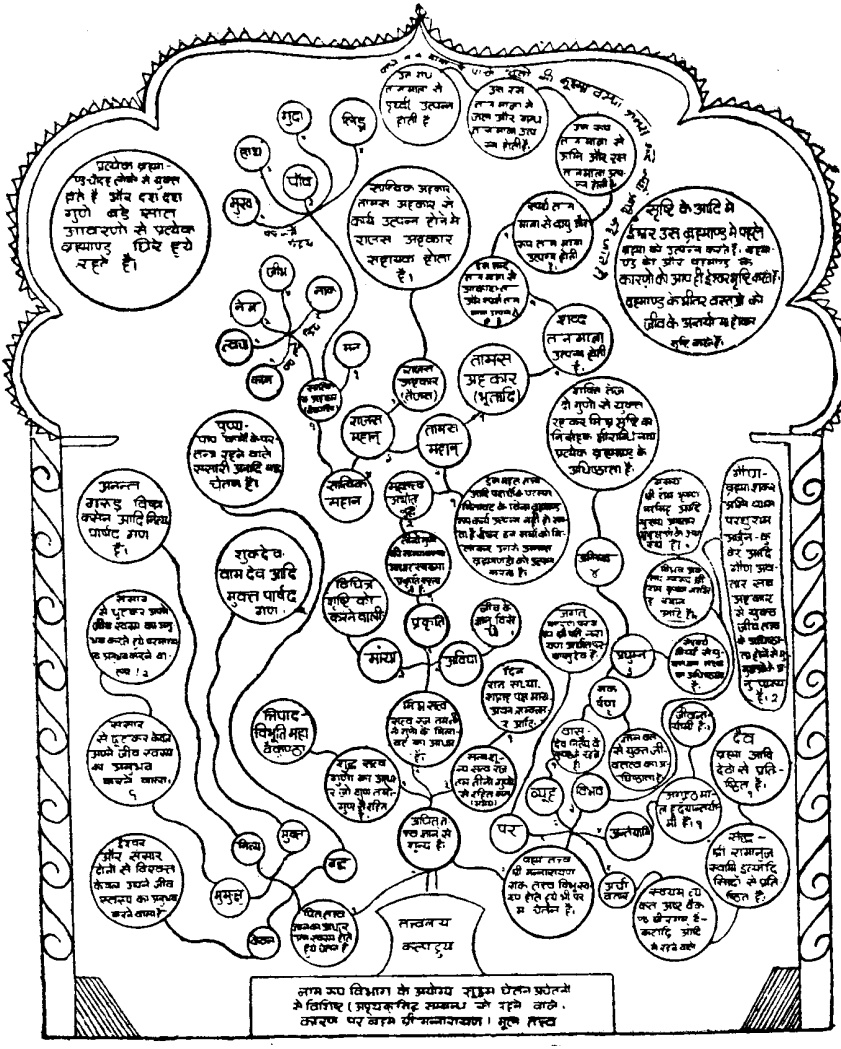
श्रीचरणाश्रित :—
प्रो० सुदामा सिंह,
एम० ए० पी० एच० डी०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
श्रम एवं समाज कल्याण-विभाग
म० वि० वि०, बोधगया।

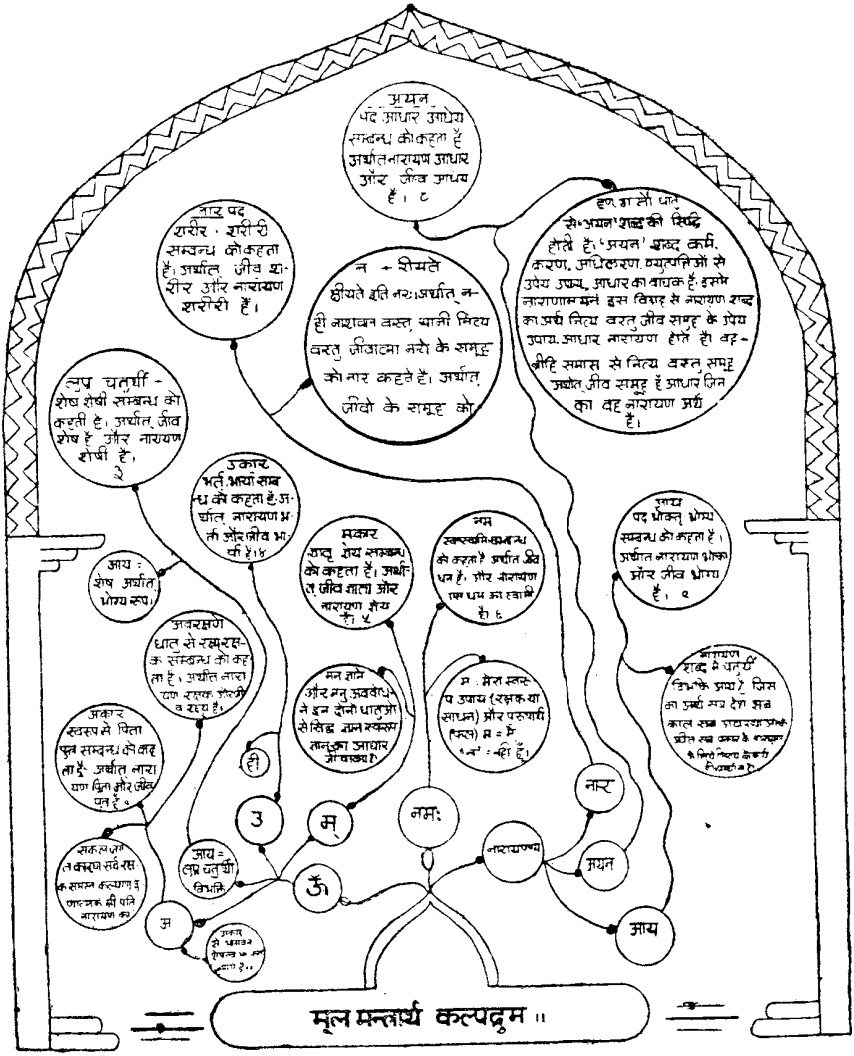


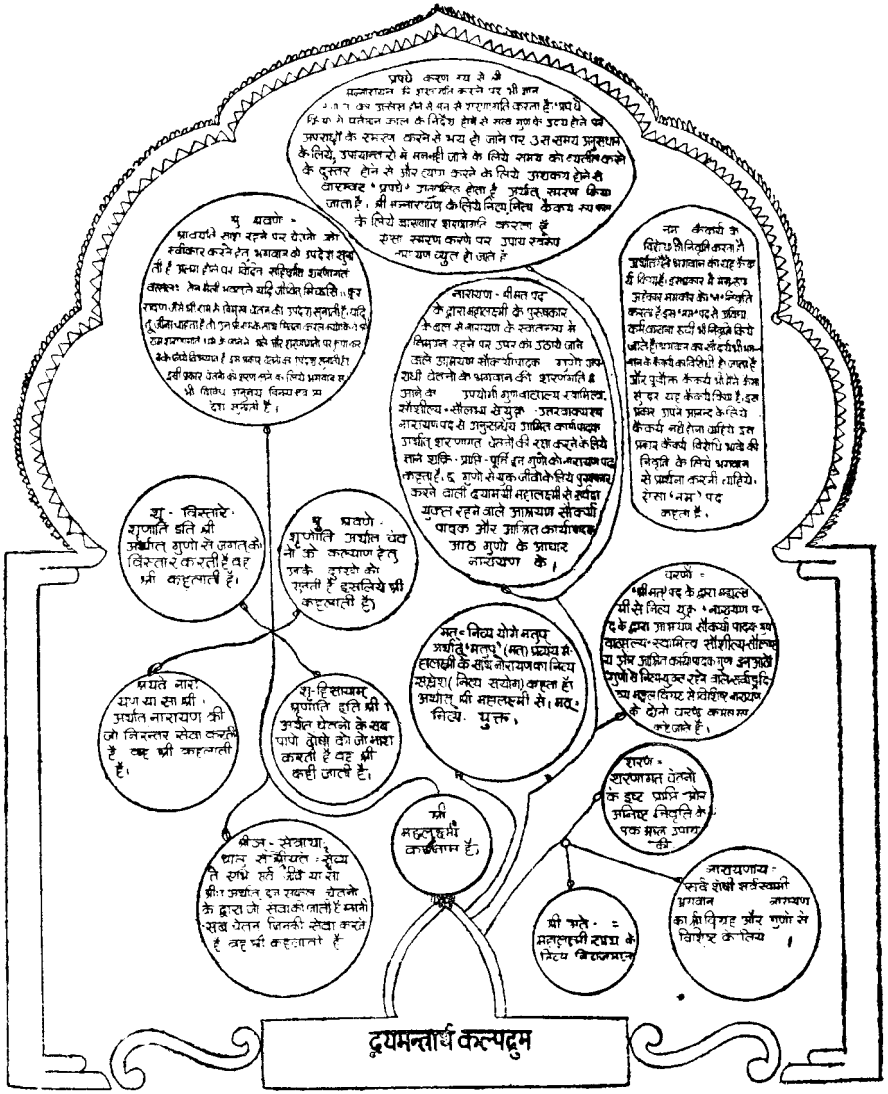
श्रीपादसेवक

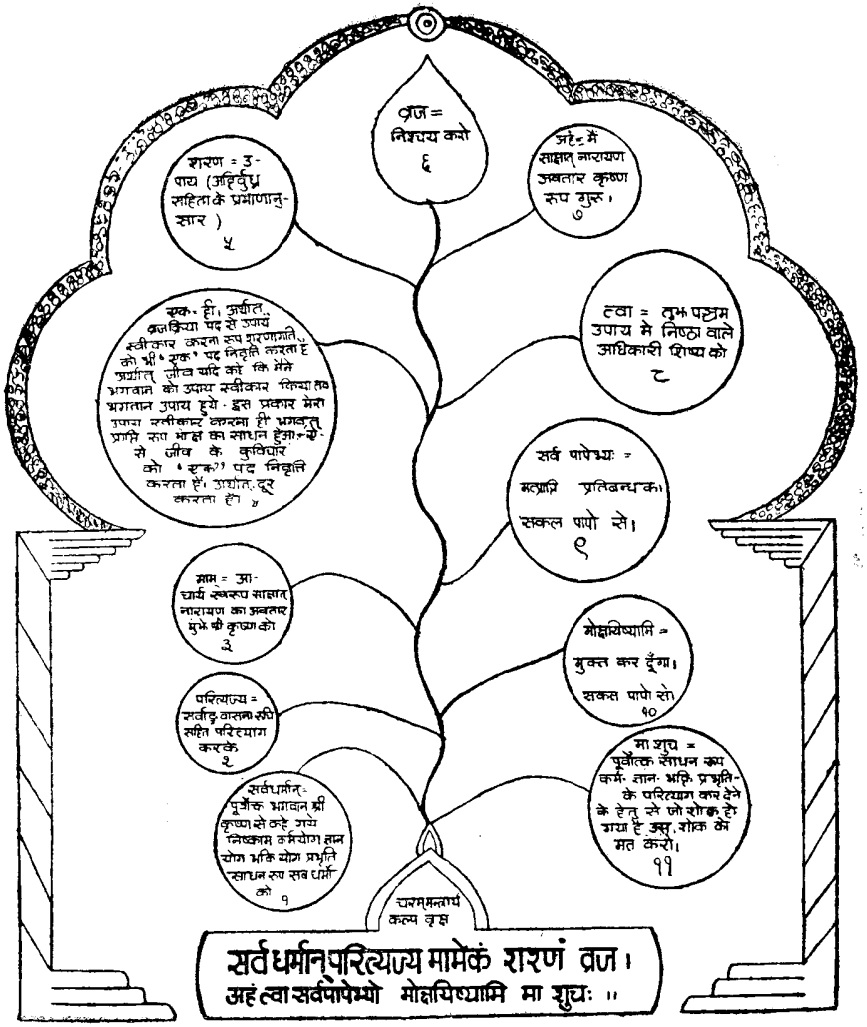
श्री सुदर्शनाचार्य ब्रह्मचारी जी

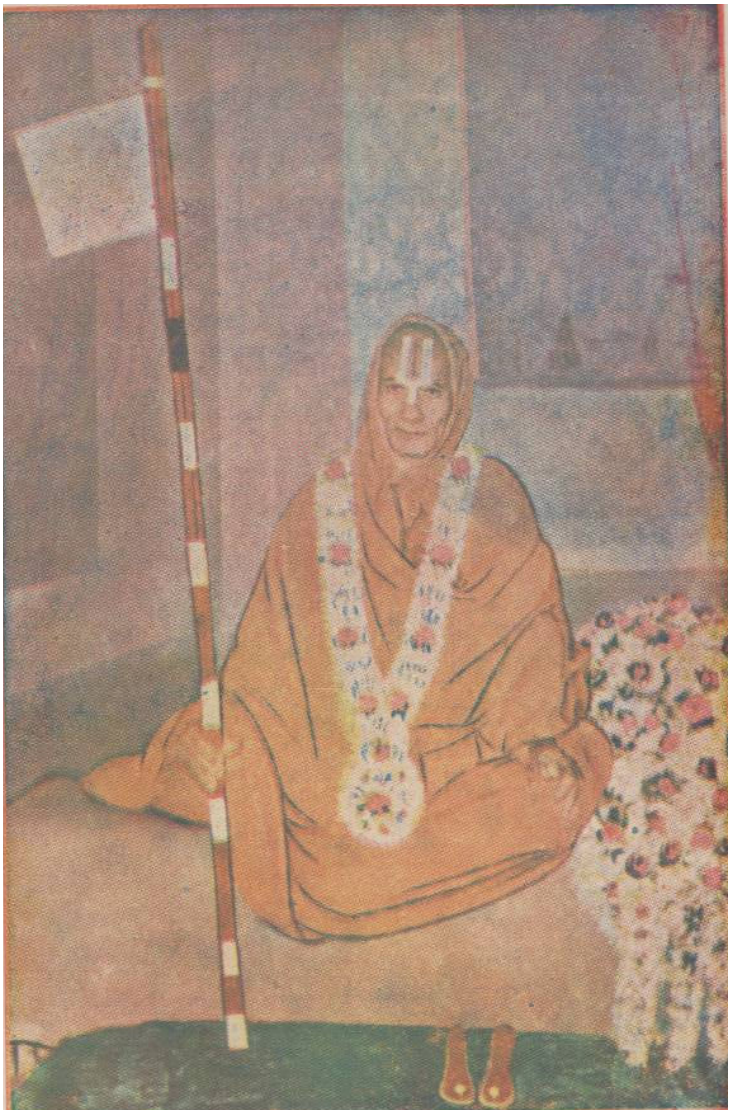
अध्यक्ष—श्रीविजयराघव मन्दिर, डेहरी-ऑन-सोन


सृष्टि के आदि में ईश्वर उस ब्रह्माण्ड में पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं।
प्रत्येक ब्रह्माण्ड में चौदह लोकों में मुक्त होते हैं और दश दश गुणे अड़े स्थान आवरणों से प्रत्येक ब्रह्माण्ड घिरे हुये रहते हैं।
तामस अहंकार (भूतादि)
शब्द तन्मात्रा उत्पन्न होती है।
राजस महान्
तामस महान्
सात्विक महान्
शुकदेव, नाम देव आदि मुक्त पार्षद गण।
प्रकृति
माया
अविद्या
निपाट-विभूति महा वैकुण्ठ
नित्य
मुक्त
बद्ध
मुमुक्षु
तत्वत्रय कल्पद्रुम
लाभ उस विभाग से प्रयोग शुद्ध प्रेमात्मक से विशिष्ट (प्रपत्तिकर्तृ सम्बन्ध) को रहने वाले. स्मरण पर लाभ की सम्भावना। मूल तत्व


अयन पद आधार आधेय सम्बन्ध को कहता है अर्थात नारायण आधार और जीव आधेय हैं। ८
इन दोनों बातों से 'अयन' शब्द की सिद्धि होती है। 'अयन' शब्द कर्म, करण, अधिकरण व्युत्पत्तियों से उपेय उपाय, आधार का वाचक है। इसमें नारायणाम्मनं इस विग्रह से नारायण शब्द का अर्थ नित्य बरतु जीव समूह के उपेय उपाय, आधार नारायण होते हैं वह - जीव समास से नित्य बस्तु समूह अर्थात जीव समूह हैं आधार जिन का वह नारायण अर्थ है।
नार पद शरीर - शरीरी सम्बन्ध को कहता है। अर्थात जीव शरीर और नारायण शरीरी हैं।
न - शीयते क्षीयते इति नरः। अर्थात् न-ही नाशवान वस्तु यानी नित्य बरतु जीवात्मा नरों के समूह को नार कहते हैं। अर्थात जीवों के समूह को
तृप चतुर्थी - शेष शेषी सम्बन्ध को करती है। अर्थात जीव शेष है और नारायण शेषी है। २
उकार भर्तृ भार्या सम्बन्ध को कहता है। अर्थात नारायण भर्ता और जीव भार्या है। ४
मकार शब्द शेष सम्बन्ध को कहता है। अर्थात जीव शाता और नारायण ज्ञेय हैं। ५
नम स्वस्वामि सम्बन्ध को कहता है अर्थात जीव धन है, और नारायण धन धाम का स्वामी है। ६
आय पद भोक्तृ भोग्य सम्बन्ध को कहता है। अर्थात नारायण भोक्ता और जीव भोग्य हैं। ९
आय : शेष अर्थात भोग्य रूप।
अवरक्षणे धातु से रक्षा-रह-क सम्बन्ध को कहता है। अर्थात नारायण रक्षक और जीव रक्ष्य है।
नर और अयन शब्द से बनी है जिसके अर्थ हैं जिस का अर्थ सब देश सब काल सब परिस्थिति में जीव तथा जगत के कल्याण के लिए नित्य तैयार रहना है।
अकार स्वरूप से पिता पुत्र सम्बन्ध को कहता है। अर्थात नारायण पिता और जीव पुत्र है। ३
मन धातु और अव धातु से इन दोनों धातुओं से सिद्ध तन स्वरूप तनु का आधार जो चतुर्थी
म - मम स्वरूप उपाय (रक्षक या साधन) और परुषार्थी (फल) म = है 'मम' = मेरी हूँ।
ही
उ
म्
नमः
नारायणाय
नार
अयन
आय
ॐ
मूल मन्तर्थ कल्पद्रुम ॥


प्रणवे
नारायण - श्री मत् पद
नमः
चतुर्थी
शरणं
नारायणाय
श्री
द्वयमन्तार्थ कल्पद्रुम


व्रज = निश्चय करो ६
शरण = उपाय (अहिर्बुध्न्य संहिता के प्रमाणानुसार) ५
अहं = मैं साक्षात् नारायण अवतार कृष्ण रूप गुरु। ७
त्वा = तुझ पक्षम उपाय में निष्ठा वाले अधिकारी शिष्य को ८
एक ही, अर्थात् अद्वितीय पद से उपाय स्वीकार करना रूप शरणागति को भी 'एक' पद निवृत्ति करता है अर्थात् जीव यदि को कि मैंने भगवान को उपाय स्वीकार किया तब भगवान उपाय हुये इस प्रकार मेरा उपाय स्वीकार करना ही भगवत् प्राप्ति रूप मोक्ष का साधन हुआ-ऐसे जीव के कुविचार को 'एक' पद निवृत्ति करता है, अर्थात् दूर करता है। ५
सर्व पापेभ्यः = मत्प्राप्ति प्रतिबन्धक। सकल पापो से। ९
माम् = आचार्य स्वरूप साक्षात् नारायण का अवतार मुझ श्री कृष्ण को ३
मोक्षयिष्यामि = मुक्त कर दूँगा। सकल पापो से। १०
परित्यज्य = सर्वाङ्ग वासना सहित परित्याग करके २
मा शुच = पूर्वोक्त साधन रूप कर्म ज्ञान भक्ति प्रभृति के परित्याग कर देने के हेतु से जो शोक हो गया है उस शोक को मत करो। ११
सर्वधर्मान् पूर्वोक्त भगवान श्री कृष्ण से कहे गये निष्काम कर्मयोग ज्ञान योग भक्ति योग प्रभृति साधन रूप सब धर्मों को १
चरममन्त्रार्थ कल्प वृक्ष
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥



श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्टापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-सत्संप्रदायाचार्य श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ट
जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य
श्रीत्रिदंडीस्वामी जी महाराज ।

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ अथ श्रीवचनभूषणम् ॥

॥ अथवेदार्थनिर्णयनामकोपोद्घातः ॥

मू०-वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः ॥ १ ॥

नमोस्तुसर्वार्तिविनाशहेतवे ह्यनन्तपापेन्धनदावकीलिने ॥
निजाश्रितानांभवसिन्धुसेतवे, यतीन्द्रपादाम्बुजकामधेनवे ॥ १ ॥

लोकाचार्याय गुरवे कृष्णपादस्य सूनवे ।
संसारभोगिसंदष्टजीवजीवातवे नमः । २ ।
पुरुषकारवैभवं च साधनस्य गौरवं,
तदधिकारिकृत्यमस्य सद्गुरूपसेवनम् ।
हरिदयामहेतुकीं गुरोरुपायतां च यो,
वचनभूषणेऽवदज्जगद्गुरुं तमाश्रये ॥ ३ ॥
सांगाखिलद्रविडसंस्कृतरूपवेद-
सारार्थसंग्रहमहारसवाक्यजातम् ।
सर्वज्ञलोकगुरुनिर्मितमार्यभोग्यं,
वन्देसदावचनभूषणदिव्यशास्त्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ :-श्रीमल्लोकाचार्य स्वामीजी इस श्रीवचनभूषण प्रबन्ध में कहे हुए अर्थ को वेदानुसार सिद्ध करने के लिये सब प्रमाणों से श्रेष्ठ स्वतःप्रमाण जो वेद है उसका अर्थ निश्चय करने के लिये पहले सूत्र को कहते हैं कि, (वेदार्थः) ऋग्, यजु, साम अथर्व और ऐतरेय, शतपथ, तांड्य, गोपथ इस समस्त वेद के अर्थ को (स्मृतीतिहासपुराणैः) आप्त मनु आदि स्मृति

तथा वाल्मीकीय रामायण आदि इतिहास और विष्णु, पद्म आदि पुराणों से (निश्चेतव्यः) निश्चय करना चाहिये। अब यहाँ पर यह शंका होती है कि वेद किसको कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ॥ मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है। ऐसा महर्षि कात्यायन और आपस्तम्ब मानते हैं और महर्षि बौधायन नेभी कहा है कि ॥ मंत्रब्राह्मणमित्याहुः ॥ मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है और महर्षि जैमिनिने कहा है कि तच्चोदकेषु मंत्राख्या ॥ मीमांसा अध्याय २ पाद १ सूत्र ३२ । शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ मी० अ० २ पा० १ सूत्र ३३ ॥ प्रेरणालक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ॥ ३२ ॥ मंत्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ॥ ३३ ॥ इस प्रकार महर्षि जैमिनि ने मंत्र ब्राह्मणात्मक समस्त वेद का लक्षण कहकर वेद के एक देश को कहा कि ॥ तेषामृग्यत्रार्थवशेनपादव्यवस्था ॥ मी० अ० २ पा० १ सूत्र ३५ ॥ गीतिषु सामाख्या ॥ मी० अ० २ पा० १ सूत्र ३६ ॥ शेषे यजुः शब्दः ॥ मी० अ० २ पाद १ सूत्र ३७ ॥ जहाँ पर अर्थवश से पाद की व्यवस्था हो उसे ऋग्वेद कहते हैं ॥ ३५ ॥ गीति में सामवेद ऐसी आख्या होती है ॥ ३६ ॥ कहे हुये से शेष यजुः शब्द से कहा जाता है ॥ ३७ ॥ और ॥ निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥ मी० अ० २ पाद १ सूत्र ३८ ॥ इस सूत्र से यजुः विशेष निगद कहा है। यदि आचार्य ब्राह्मण को वेद नहीं मानते तब तो मंत्र लक्षण के बाद ब्राह्मण लक्षण कहते हैं। इससे जैमिनि महर्षि मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद मानते हैं। और महर्षि कणाद कहते हैं कि ॥ दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥ वैशे० अध्याय १० आह्निक २ सूत्र ८ ॥ वेद में देखे हुए और जिनका प्रयोजन इस लोक में ही दिखता है उनका तथा जब दृष्ट ऐहिक फल न मिले तब भी अनुष्ठान करना पारलौकिक फल के लिये माननीय है ॥ ८ ॥ दृष्ट फल और अदृष्ट फल दोनों विधान ब्राह्मण भाग में है और इस सूत्र में दृष्टादृष्टफल वेद में बतलाया गया है। इससे साबित होता है कि कणादि महर्षि वेद मंत्र और ब्राह्मण दोनों को मानते हैं। गौतम महर्षि ने कहा

है कि ॥ तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्त–दोषेभ्यः ॥ न्याय० अध्या० २ आह्नि १ सूत्र ५७ ॥ उस वेद का प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि झूठा तथा पूर्वापर विरोध और दो बार कहना इत्यादि दोष है। असत्य का उदाहरण यथा ॥ पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत् ॥ जिसे पुत्र की इच्छा हो पुत्रेष्टि यज्ञ करे। परन्तु कहीं पुत्रेष्टि करने से भी पुत्र नहीं होता। जब कि इस प्रत्यक्ष वाक्य का प्रमाण नहीं तो ॥ अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः ॥ स्वर्ग की इच्छा से अग्निहोत्र करे। ऐसा जो वेद में अदृष्टार्थ वाक्य है उसकी सत्यता में कैसे विश्वास हो? यहाँ (तदप्रमाण्यम्) इस सूत्र में तत्पद से वेद का ही परामर्श है। इस रीति से वेद के अप्रमाण्य की आशंका करके (अग्निहोत्रम्) इस ब्राह्मण वाक्य का अप्रमाण दिखलाते हैं ॥ ५७ ॥ यदि ब्राह्मण को वेद न माने होते तो वेद के अप्रमाण दिखलाने के समय ब्राह्मण का अप्रमाण कैसे दिखलाते? इससे सिद्ध होता है कि गौतम महर्षि मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं और महर्षि कपिल नेकहा है कि ॥ मङ्गलाचरणम्-शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति ॥ सां० अध्या० ५ सूत्र १ ॥ मंगलाचरण करना चाहिये शिष्टाचार होने से तथा फलदर्शन से और— समाप्तिकामोमङ्गलमाचरेत् ॥ इस वेद प्रमाण से भी ॥ १ ॥ इस सूत्र में श्रुतितः इस पद से ॥ समाप्तिकामः ॥ इस ब्राह्मण वाक्य को ग्रहण करते हैं और ॥ श्रुतिरपिप्रधानकार्यत्वस्य ॥ सां० अ० ५ सू० १२ ॥ उपनिषद् भी प्रधान को ही संसार का उपादान कारण कहती है ॥१२॥ इस सूत्र में श्रुति से उपनिषद् का भी ग्रहण होता है। इससे प्रमाणित होता है कि महर्षि कपिल, मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। महर्षि वेदव्यास ने उपनिषदों को वेद मान करके अधोलिखित सूत्रों का निर्माण किया है। वे सूत्र ये हैं ॥ श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात् ॥ वेदा० अ० २ पा० १ सू० २७ ॥ परात्तुतच्छ्रुतेः ॥ वेदा० अ० २ पा० ३ सूत्र ४१ ॥ भेदश्रुतेः ॥ वेद अ० २ पाद ४ सूत्र १९ ॥ सूचकश्चहिश्रुति राचक्षते च तद्विदः ॥ वेदान्त अ० ३ पाद २ सूत्र ४ ॥ तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ वेदान्त अध्याय ३ पाद २ सूत्र ७ ॥ वैद्युतेनैव

ततस्तच्छ्रुतेः ॥ वेदान्त अध्याय ४ पाद ३ सूत्र ६ ॥ यहाँ पर उपनषद् जो ब्राह्मणों का भाग है उसको श्रुति मानकर इन सूत्रों को व्यासजी ने बनाया है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि वेदव्यास मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं और मनु भगवान ने भी कहा है कि—

एताश्चान्याश्चसेवेत दीक्षाविप्रो वने वसन्।

विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंसिद्धयेश्रुतीः ॥ मनुस्मृति ६।२९।।

दीक्षायुक्त ब्राह्मण वन में वास करता हुआ आत्मज्ञान सिद्धि के लिये इन नियमों को तथा अन्य नियमों को और अनेक उपनिषदों की श्रुतियों को विचार करे ॥ २९ ॥ इस श्लोक में ॥ औपनिषदीःश्रुतीः ॥ ऐसा पद है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि मनु मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। और पाणिनी महर्षि ने भी कहा है कि ॥ चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ व्याकरण अध्याय २ पाद ३ सूत्र ६२ ॥ इस सूत्र में छन्दसि इस पद से मंत्र ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है। अतएव इसका उदाहरण श्री पतञ्जलि महर्षि ने दिया है कि बया खर्वेण पिवति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति तस्या इतिप्राप्ते, यां मलवद्वाससं संभवन्ति यस्ततो जायते सोऽभिशस्तो, यामरण्ये तस्यै स्तेनो, यां पराची तस्यै ह्रीतमुख्यप्रगल्भो, या स्नाति तस्या अप्सु मारुको, याभ्याङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा, या प्रलिखते तस्यै खलतिरपस्मारो, याङ्क्ते तस्यै काणो या इतो धावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्यै क्लीबो, या रज्जुं सृजति तस्या उदबंधुको, या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते, अहल्यायै जार मनाय्यै तन्तुः ॥ ये सब प्रायः ब्राह्मण भाग के हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि महर्षि पाणिनि और पतजलि, मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। अनेक और भी प्रमाण हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण भाग वेद है। परन्तु कुछ लोग यह कहते हैं कि ब्राह्मण वेद की व्याख्या है, वेद नहीं। इसका उत्तर यह है कि जैसे श्रीपतंजलि महर्षि ने महाभाष्य के आदि, में अथ शब्दानुशासनम् ॥ ऐसा कहकर स्वयं व्याख्यान किया है कि अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः ॥ इत्यादि तौभी सब वादी लोग

महाभाष्य के व्याख्यान को महाभाष्य मानते हैं। वैसे ही वेद का भी व्याख्यान वेद ही है। श्रुति और स्मृति का लक्षण भगवान् मनु ने भी कहा है कि—

श्रुतिस्तुवेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यांधर्मो हि निबभौ॥ मनु० २। १०

श्रुति वेद को कहते हैं और निश्चय करके धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं। ये दोनों प्रतिकूल तर्कों से नहीं विचार करने योग्य हैं, क्योंकि उन्हीं से सब धर्म प्रकाशित हुआ है॥ १० पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ब्राह्मण भाग वेद साबित होता है। तब यह शंका होती है कि वेदों की कितनी शाखायें हैं? इसका समाधान महाभाष्य में लिखा हुआ है कि सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारोवेदाः सांगाः सरहस्याः बहुधाभिन्नाः एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मासामवेदः एकविंशतिधाबह्वृच्यः नवधाऽथर्वणोवेदोवाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोग विषय इति॥ महाभाष्य अ० १ पाद १ आह्नि १॥ सात द्वीपवाली पृथ्वी, तीनों लोक, शिक्षा, कल्प, निरुक्त आदि सहित चारों वेद, उपनिषदादि, रहस्यों के साथ बहुत प्रकार के हैं। एक सौ एक शाखाएँ यजुर्वेद की हजार शाखाएँ सामवेद की, इक्कीस शाखाएँ ऋग्वेद को, नव शाखाएँ अथर्व वेद की, वाकोवाक्य, तर्कादि इतिहास, पुराण, वैद्यक ये शब्द के विषय हैं॥ १॥ इससे यह सिद्ध हुआ कि एक हजार एक सौ ईकतीस ११३१ शाखाएँ हैं। पूर्वोक्त वेद के अर्थ का निश्चय मनुष्यों से नहीं हो सकता है, क्योंकि मनुष्यों में भ्रम १ विप्रलम्भ २ प्रमाद ३ आसक्ति ४ ये चार दोष पाये जाते हैं। इससे वेदार्थ स्मृति, इतिहास, पुराणों से ही निश्चय करना चाहिये। उस में प्रथमोपस्थित जो स्मृति है इसका लक्षण पहले लिख चुका हूँ कि॥ धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः॥ मनु० २। १०॥ निश्चय करके धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं॥ १०॥ स्मृतियाँ सात्विक, राजस, तामस इस भेद से तीन प्रकार की होती है। यह पाद्मोत्तर खण्ड में लिखा है कि—

वाशिष्ठं चैव हारीतं व्यासं पाराशरं तथा ।

भारद्वाजं काश्पं च सात्विका मोक्षदाः शुभाः । अ० २६४।८७

वशिष्ठस्मृति १ चकार से मनुस्मृति २ हारीतस्मृति ३ व्यासस्मृति ४ पाराशरस्मृति ५ भारद्वाज स्मृति ६ काश्यपस्मृति ७ ये शुभ सात्विक मोक्ष देनेवाली हैं और

वामनं याज्ञवल्क्यं त्त आत्रेयं दाक्षमेव च ।

कात्यायन वैष्णव च राजसाः स्वर्गदाः शुभाः । अ० २६४।८८।

वामन स्मृति १ याज्ञवल्क्य स्मृति २ चकार से अङ्गिरा स्मृति ३ अत्रि स्मृति ४ और दक्षस्मृति ५ कात्यायन स्मृति ६ विष्णु स्मृति ७ ये शुभराजस स्वर्ग देनेवाली हैं ॥ और ॥

गौतमं वार्हस्पत्यं च सांवर्तं च यमं स्मृतम् ।

सांख्यं चौशनसं देवि तामसा निरयप्रदाः ॥ अ० २६४ ८९॥

गौतमस्मृति १ बृहस्पति स्मृति २ चकार से शंखस्मृति ३ और लिखित स्मृति ४ संवर्तस्मृति ५ यमस्मृति ६ सांख्यस्मृति ७ और उशनास्मृति ८ हे देवि ये तामस स्मृतियाँ अधोलोक को देनेवाली हैं ॥ इन पूर्वोक्त स्मृतियों तथा इतिहास और पुराणों से वेद का अर्थ निश्चय करना चाहिये। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इतिहास किसको कहते हैं। इस प्रश्न का उत्तर ॥ सप्तद्वीपा ॥ इस महाभाष्य के प्रदीप टीका में लिखा हुआ है कि— 'पूर्वचरितसंकीर्तनमितिहासः' पूर्वचरित का जिसमें संकीर्तन हो उसको इतिहास कहते है ॥ इतिहासः पुरावृत्तं ॥ अमरको० १ कां० शब्दादि सर्ग श्लो० ४। प्रधान इतिहास दो हैं एक श्री वाल्मीकि रामायण और दूसरा महाभारत पूर्वोक्त प्रकार से इतिहास के निश्चय होने पर तो यह संदेह होता है कि पुराण किसको कहते हैं और पुराण कितने हैं? पुराण का लक्षण श्री भद्भागवत महापुराण में लिखा है कि सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तीरक्षान्तराणि च। वंशोवंशानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः ॥ श्रीमद्भा० स्कंध १२।७।९।

दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ॥ १० ॥

सर्ग १ विसर्ग २ वृत्ति ३ रक्षा ४ मन्वन्तर वर्णन ५ और वंश ६ वंशानुचरित ७ संस्था ८ हेतु ९ अपाश्रय १० ॥ ९ ॥ इन दस लक्षणों से युक्त को महापुराण पुराणज्ञ लोग जानते हैं ॥ १० ॥ इन सर्गादिक दसों का लक्षण भी वहीं लिखा हुआ है कि

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥ ११ ॥

विकृतिरहित मूल प्रकृति के गुणों के संक्षोभ से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से अहंकार तथा अहंकार से शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाँच, तन्मात्रा से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच महाभूत तथा वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन इन सबों की उत्पत्ति अर्थात् सूक्ष्म रचना को सर्ग कहते हैं ॥ ११ ॥

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयंसमाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥ १२ ॥

जीवों से अनुगृहीत सूक्ष्मरचना के वासनामय जो यह समाहार अर्थात् बीज से जैसे बीज उत्पन्न होता है वैसे ही चर और अचर सृष्टि की रचना को विसर्ग कहते हैं ॥ १२ ॥

वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च
कृतास्वेनो नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥ १३ ॥

जो अपने आप इच्छा से या प्रेरणा से समस्त जीवों के लिये जो चर और अचर किया गया है इसी को वृत्ति कहते हैं ॥ १३ ॥

रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानुयुगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥ १४ ॥

जो श्रीमन्नारायण भगवान् प्रति युग में तिर्यक्, मनुष्य, ऋषि और देव योनियों में अवतार लेकर वेद विरोधियों को मारते हैं उन अच्युत भगवान के अवतार की जो चेष्टा है उसको रक्षा कहते हैं ॥ १४ ॥

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः ।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ।

मनु तथा देवता और मनुपुत्र तथा सुरेश्वर और ऋषि तथा अंशावतार ये जो श्रीहरि का छ प्रकार कहा गया है इसी को मन्वन्तर कहते हैं॥१५॥

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंशानुचरितं तेषा वृत्तं वंशधराश्च ये ॥ १६ ॥

ब्रह्म प्रसूत राजाओं का जो त्रैकालिक अन्वय है उसको वंश कहते हैं और वंश को धारण करने वाले प्रधान प्रधान पुरुषों का जो चरित्र है उसको वंशानुचरित कहते हैं ॥ १६ ॥

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः । १७ ॥

नैमित्तिक १ प्राकृतिक २ नित्य ३ आत्यन्तिक ४ ये जो स्वभाव से चार प्रकार के लय का वर्णन है इसको कवि लोग संस्था कहते हैं ॥ १७ ॥

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशायिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥ १८ ॥

इस सृष्टि आदिक की अविद्या के द्वारा कर्म करनेवाला जो जीव है उसको हेतु कहते हैं जिस अनुशायी को और लोग अव्याकृत कहते हैं ॥ १८ ॥

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥ १९ ॥

मायामय जीवों की वृत्तियों में और जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में जिसका व्यतिरेकान्वय हो वह ब्रह्म है, और उसी को अपाश्रय कहते हैं ॥ १९ ॥

एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः ॥
मुनयोऽष्टादश प्राहुःक्षुल्लकानि महान्ति च ॥ २२ ॥

इस प्रकार के पूर्वोक्त दस लक्षण से युक्त जो पुराणवेत्ता मुनियों ने पुराण कहा है ॥ २२ ॥ महापुराणों का नाम भी श्रीमद्भागवत में लिखा हुआ है कि—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् ।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कन्दसंज्ञितम् ॥श्रीमद्भा०१२।७ २३
भविष्य ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥२४॥

ब्रह्म पुराण १ पद्मपुराण २ विष्णुपुराण ३ शिवपुराण ४ लिङ्गपुराण ५ गरुड़पुराण ६ नारद पुराण ७ श्रीमद्भागवत पुराण ८ अग्निपुराण ९ स्कन्दपुराण १० ॥२३॥ भविष्यपुराण ११ ब्रह्मवैवर्त पुराण १२ मार्कण्डेय पुराण १३ वामनपुराण १४ वाराहपुराण १५ मत्स्यपुराण १३ कर्मपुराण १७ और ब्रह्माण्डपुराण १८ ये अठारह महापुराण हैं ॥२४॥ महापुराण सात्विक राजस तामस इस भेद से तीन प्रकार के होते हैं। यह पाद्मोत्तरखण्ड में लिखा हुआ है कि—

वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतंशुभम् ॥
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ।
षडेतानि पुराणानि सात्विकानि मतानि मे ॥अ०२६४श्लो० ८३

हे शुभदर्शने विष्णुपुराण १ नारदपुराण २ श्रीमद्भागवतपुराण ३ गरुड़पुराण ४ पद्मपुराण ५ वाराहपुराण ६ ये छः महापुराण सात्विक हैं, यह मेरा मत है और

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं तथैव च ।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ॥ अ० २६४।८४

ब्रह्माण्ड पुराण १ ब्रह्मवैवर्त्त पुराण २ मार्कण्डेय पुराण ३ भविष्यपुराण ४ वामन पुराण ५ ब्रह्मपुराण ६ ये छः पुराण राजस हैं यह मुझसे तुम जानो ॥ और

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवंस्कान्दं तथैव च । अ०२६४।८१
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ॥८२

मत्स्यपुराण १ कूर्मपुराण २ लिंग पुराण ३ शिवपुराण ४ स्कन्द पुराण ५ अग्नि पुराण ६ ये छः महापुराण तामस हैं यह मुझसे तुम जानो और श्रीमद्भागवत में महापुराणों के श्लोकों की संख्या भी लिखी हुई है कि—

ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च ।
श्री वैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम् ॥ भा० १२।१३।४

दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः ।
मार्कण्डं नव वाह्नं च दशपञ्च चतुःशतम् ॥४॥
चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च ।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिंगमेकादशैव तु ॥६॥
चतुर्विंशतिवाराहमेकाशीतिसहस्रकम्
स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम्
कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश
एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु ॥१०॥

ब्रह्म पुराण में दस हजार १, पद्मपुराण में पचपन हजार श्लोक हैं २, विष्णु पुराण में तेइस हजार ३, शिवपुराण में चौबीस हजार ॥४॥ श्रीमद्भागवतपुराण में अठारहहजार ५, नारदपुराण में पचीस हजार ६, मार्कण्डेयपुराण में नव हजार ७, अग्निपुराण में पन्द्रह हजार चार सौ ८॥५॥ भविष्यपुराण में चौबीस हजार पाँच सौ ९, ब्रह्मवैवर्तपुराण में अठारह हजार १०, लिंगपुराण में ग्यारह हजार ११॥६॥ वाराहपुराण में चौबीस हजार १२, स्कन्दपुराण में इकासीहजार, एक सौ १३, वामन पुराण में दस हजार १४ ॥७॥ कूर्मपुराणमें सत्तरहहजार १५ मत्स्यपुराण में चौबीस हजार १६, गरुड़पुराण में उन्नीस हजार १७, ब्रह्माण्ड पुराण में बारह हजार श्लोक हैं १८॥८॥ अब यहाँ पर यह विचार करना चाहिये कि 'स्मृतीतिहासपुराणैः' ॥ इस पद में पुराण शब्द आया है तो उस पुराण शब्द से महापुराण लिया जाय या उपपुराण लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि पुराण शब्द से महापुराण और उपपुराण इन दोनों का अर्थ ग्रहण होता है, क्योंकि लिखा है कि—

त्यक्तानुबन्धग्रहणेसामान्यस्यग्रहणम् ।

त्यक्तअनुबन्ध के ग्रहण से सामान्य (समस्त) का ग्रहण होता है। तो "स्मृतीतिहासपुराणैः" यहाँ पर "महा" और "उप" ये दोनों अनुबन्ध त्याग कर केवल पुराण शब्द लोकाचार्य स्वामीजी ने कहा है, इससे सिद्ध होता है कि महापुराण और उपपुराण इन समस्त का ग्रहण होता है। जिनमें महापुराण को कह चुका हूँ। अब जो अठारह उपपुराण गरुड़पराण में कहे गये हैं, उन सबों का नाम दिखाता हूँ।

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथापरम् ।
तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेणतुभाषितम् ॥ ग० पु० २२७।१
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीश-भाषितम् ।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमतः परम् ॥२॥
कपिलं वामनं चैव तथैवोशनस्सेवितम् ।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च ॥३॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरसर्वार्थसंचयम् ।
पाराशरोक्तमपरंमारीचं भास्कराह्वयम् ॥४॥

सनत्कुमार का बनाया आदिपुराण १, नरसिंह पुराण २, कुमार का बनाया स्कन्दपुराण ३॥१॥ नन्दीश का बनाया शिवधर्म पुराण ४, दुर्वासा पुराण ५, नारद पुराण ६ ॥२॥ कपिल पुराण ७, वामन पुराण ८, औशनस पुराण ९, ब्रह्माण्ड पुराण १० वारुण पुराण ११, कालिका-पुराण १२ ॥३॥ माहेश्वरपुराण १३, साम्बपुराण १४, सौरपुराण १५, पराशर पुराण १६, मारीच पुराण १७, भास्कर पुराण १८ उपपुराण हैं ।४। इस प्रकार से पूर्वोक्त स्मृति, इतिहास पुराणें से वेद का अर्थ निश्चय करना चाहिये। यहाँ पर बहुत से लोग कहते हैं कि पुराण थोड़े दिनों से बने हुए हैं इससे पुराणों से वेदका अर्थ निश्चय करना ठीक नहीं है। इसका उत्तर यह है कि पुराण अति प्राचीन हैं, कृपा करके अधोलिखित प्रमाणों को सज्जन लोग अवलोकन करें।

एतच्छ्रुत्वारहः सूतो राजानमिदमब्रवीत् ।
श्रूयतां यत्पुरावृत्तं पुराणे च मयाश्रुतम् ॥वा०रा० १।६।१
ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मयाश्रुतः ।
सनत्कुमारो भगवान् पूर्वंकथितवान्कथाम् ॥२॥

यह सुनकर एकान्त में सूत ने दशरथ महाराज को यह कहा कि सुनिये पहले का वृत्त जो पुराण में मैंने सुना है ॥१॥ ऋत्विकों से उपदेश किया हुआ यह पुरा वृत्त है जिस कथा को पहले सनत्कुमार भगवान् ने कहा है ॥२॥ महर्षि वाल्मीकि ने अपने "वाल्मीकीय रामायण" में पुराणों की कथा लिखी है। इससे प्रमाणित होता है कि पुराण अति प्राचीन हैं और याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है कि—

पुराणं न्याय मीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाःस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥या०स्मृ० १।३

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और छः अंगों सहित चारों वेद ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान हैं ॥ ३ ॥ यहाँ वेदों के मन्त्रों के द्रष्टा महर्षि याज्ञवल्क्य ने धर्म के निर्णय में पहले पुराण को कहा है तो कैसे माना जाय कि पुराण थोड़े दिनों से बने हैं। और मनुस्मृति में लिखा है कि—

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणिचैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च । मनु० ३।२३२

पितरों के कर्म में समस्त वेद और धर्म शास्त्र तथा आख्यान और इतिहास तथा पुराणों को सुनावे ।।२३२।। महर्षि मनु सृष्टि के आदि में हुए हैं, उन्होंने अपनी बनाई स्मृति में पितरों के लिए पुराणों को सुनाने के लिये लिखा है। इससे साबित होता है कि पुराण प्राचीन हैं। और छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि—

सहोवाचऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिसा-सपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पितरं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां तद्भगवोऽध्येमि ।। छां० उ० ७।७।१

नारदजी बोले कि हे भगवान् ऋग्वेद को स्मरण करता हूँ तथा यजुर्वेद, सामवेद चौथे अथर्व वेद को स्मरण करता हूँ और इतिहास पुराण पाँचवें वेद को जानता हूँ तथा श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान महाकालादि निधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति शास्त्र, निरुक्त, उपनिषद् विद्या, भूत तन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्प विद्या गारुड़िगन्धयुक्त नृत्य गीत-वाद्यादि शिल्प ज्ञान को भी मैं स्मरण करता हूँ ।। १ ।। और वृहदारण्य-कोपनिषद् में लिखा है कि—

अरेऽस्यमहतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्ऋग्वदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वां-गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हूतमाशितं पायितमयञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ।। बृ० उ० ४।११।५

अरे उस परमात्मा से निश्वसित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान हैं ॥ ५ ॥ और आश्वलायन सूत्र में लिखा है कि—

अथस्वाध्यायमधीयीत ऋचोयजूंषिसामान्यथर्वांगिरसो ब्राह्मणानि कल्पानि गाथानाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृताहुतिभियेदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन्स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषिघृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वांगिरसः सोमस्यकुल्या यदब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः स यावन्मन्येत तावदधीत्यैतयापरिदधाति ॥ आश्वलायन सूत्र० अ० ३ पंचयज्ञ-प्रकरण ॥

इसका आशय यह है कि जो ऋग्वेदादि चारों वेदों और ब्राह्मणादि ग्रन्थोंको कल्प गाथादि सहित पढ़ते हैं उनके पितरों का स्वधा से अभिषक होता है, ऋग्वेद के पढ़नेवालों के पितरों को दूध की छोटी नदी, यजुर्वेद के पढ़नेवालों के पितरों को घी की, सामवद के पढ़नेवालों के पितरों को मधु की अथर्वांगिरस के पढ़नेवालों के पितरों को सोमकी, और ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण के पढ़नेवालों के पितरों को अमृत की छोटीसी नदी प्राप्त होती है ॥३॥ और शतपथ ब्राह्मण में लिखा हुआ है कि- **मध्याहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं गाथा नाराशंस्यः य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाक्योवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंसी रेत्यहरहः स्वाध्यायमधीते ॥** शत० ११।३।८।८

शास्त्र देवताओं की मध्यम आहुति है, ब्रह्मविद्या आदि विद्याएँ, उत्तर प्रत्युत्तर रूप ग्रन्थ, इतिहास, पुराण, गाथा, और नाराशंसी, ये शासन करनेवाले हैं। जो इनका स्वाध्याय करता है वह नित्य प्रति हव्य द्रव्य एवं कव्य द्रव्य से देव पितरादिकों को तृप्त करने का फलभोगी होता है ॥८॥ और भी लिखा है कि **सयथार्द्रेन्धानाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरंतेवं वारेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥** शत. १४।४।१० जिस प्रकार से गीले ईन्धन के संयोग से अग्नि में नानाविधि धूम प्रकट होता है उसी प्रकार उस परमात्माके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद

अथर्ववेद, इतिहास, पुराण विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान ये सब श्वास भूत हैं ॥ १० ॥ और गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि — **एवमिमे सर्वे वेदा निर्मितास्सकल्याः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः ॥ गोपथ पूर्वभाग० प्रपाठक० २।** इस प्रकार से कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, अन्वाख्यात, स्वर, संस्कार, निरुक्त, अनुशासन, अनुमार्जन और वाकोवाक्य सहित समस्त वेद परमेश्वर के निर्मित हुए ॥ २ ॥ और अथर्ववेद में लिखा है कि **ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा । अथर्व० काण्ड११ प्रपा० अनु० १** मं० २४ ॥ सबके अन्त में शेष रहनेवाले श्रीमन्नारायण भगवान से ऋग् साम, छन्द तथा यजुः, के साथ पुराण और लोक में रहनेवाले दिविश्रित समस्त देवगण उत्पन्न हुए ॥ २४ ॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुराण प्राचीन है । अब पहले सूत्र का भावार्थ यह है कि— वेद का अर्थ स्मृति, इतिहास पुराणों से निश्चय करना चाहिये । इस श्रीवचनभूषण प्रबन्ध में ॥ वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः ॥ इस पहले सूत्र से लेकर । तेन सः पूर्वं भवति ॥ इस चौथे सूत्र पर्यन्त प्रबोधोपोद्घात विशदवाक् शिखामणि श्रीमद्वरवरमुनि स्वामीजी अपनी व्याख्या में मानते हैं, इससे महाजनो येन गतः स पन्थाः इसके अनुसार यह अकिंचन जन उसी मार्ग का अनुसरण करता है ॥ १ ॥

अब श्रीमल्लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि वेद में दो भाग हैं एक पूर्व भाग और एक उत्तर भाग । जिस पूर्व भाग में भगवदाराधनरूप कर्म का वर्णन है जिसको जैमिनी महर्षि ने अथातोधर्मजिज्ञासा ॥ मीमांसा० अ० १ पा० १ सू० १ से लेकर अहन्वाहार्य्ये च दर्शनात् ॥ मी० अ० १२ पा० ४ सू० ४७ ॥ इस सूत्र पर्यन्त बारह अध्यायों में निरुपण किया है और उत्तर भाग में आराध्यरूप ब्रह्म का वर्णन है, जिसको महर्षि वेदव्यास ॥ अथातोब्रह्मजिज्ञासा ॥ वेदा० अ० १ पा० १ सूत्र १ ॥ से लेकर अनावृतिः शब्दादनावृत्तिःशब्दात् ॥ वेदा० अ० ४ पा० ४ सू० २३ ॥ इस सूत्र पर्यन्त ४ अध्यायों में निरूपण किया है तो अब किससे वेद के पूर्व भाग का अर्थ और किससे वेद के उत्तर भाग का अर्थ निश्चय करना चाहिये ।

स्मृत्या पूर्वभागार्थो निर्णीयते अन्याभ्यांद्वाभ्यामुत्तर भागार्थो निर्णीयते ॥२॥

अर्थ—(स्मृत्या) मनु, हारीत, व्यास, पराशर काश्यप, आदि स्मृतियों से (पूर्व भागार्थः) वेद के पूर्व भाग का अर्थ कर्म को (निर्णीयते) निश्चय करते हैं क्योंकि लिखा है कि प्रायेण पूर्वभागार्थपूरणं धर्मशास्त्रतः ॥ प्रायः धर्मशास्त्र से पूर्वभाग का अर्थ पूर्ण होता है और (अन्याभ्याम्) वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि इतिहास तथा विष्णु, पद्म, नारद, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, जो वेद के अर्थ को निश्चय करनेवालों में स्मृति से अन्य इतिहास और पुराण हैं इन (द्वाभ्याम्) दोनों इतिहास तथा पुराणों से (उत्तर भागार्थः) वेद के उत्तर भाग के अर्थ ब्रह्म को (निर्णीयते) निश्चय करते हैं। क्योंकि महाभारत के आदि पर्व में लिखा हुआ है कि-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदोमामयं प्रतरिष्यति । महा० १।१।६७॥

इतिहास और पुराण से वेद को अर्थात् वेद के उत्तर भाग के अर्थ को निश्चय करे, नहीं तो अल्पश्रुत से वेद डरता है कि यह हमको झूठा अर्थ करके वंचना करेगा ॥६७॥ अब यहाँ पर यह शंका होती है कि स्मृति से जो कर्म का निर्णय होता है वह कर्म क्या है और कितने प्रकार का है, इस प्रश्न का उत्तर भगवद्गीता में लिखा हुआ है कि– भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ गी० ८।३

भूत भाव को उत्पन्न करनेवाला वेदविहित यज्ञ-दान होम आदि के निमित्त जो द्रव्यादिकों का त्याग है वह कर्मनाम से कहा गया है ॥३॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ गी० १८ २३

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित, फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग द्वेष से किया हुआ है वह कर्म सात्विक कहा जाता है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ गी० १८ २४॥

और जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त तथा फल को चाहनेवाले और

अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ गी० १८।२५

जो कर्म परिणाम, हानि हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है वह कर्म तामस कहा जाता है ॥१५ इस प्रकार सात्विक, राजस, तामस, भेद से कर्म तीन प्रकार का है। अब यह प्रश्न होता कि इतिहास तथा पुराणों से जो ब्रह्म निश्चय किया जाता है। वह ब्रह्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर लिखा है कि—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते । गी० १३ १२
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ।
बहिरन्तश्च भूतानमचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह आदि रहित परब्रह्म अकथनीय होने से न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है ॥१२॥ वह परब्रह्म सब ओर से हाथ पैर वाला एवं सब ओर से आँख सिर और मुख वाला तथा सब ओर से कान वाला है क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है ॥१३॥ सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित तथा आसक्ति रहित और प्राकृत गुणों से रहित निश्चय कर अपनी योगमाया से सबको धारण पोषण करने वाला और गुणों को भोगने वाला है ॥१४॥ तथा वह परमात्मा चर, अचर सब जीवों के बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर अचर स्वरूप भी है और

वह सूक्ष्म होने से साधारण मनुष्यों के जानने में नहीं आता है तथा ज्ञानी पुरुषों के लिए अति समीप में और अज्ञानी पुरुषों के लिये दूर में भी स्थित नहीं है ॥१५॥ और वह विभागरहित एक रूप से आकाश के समान परिपूर्ण हुआ भी चर, अचर संपूर्ण जीवों में पृथक् पृथक् के सदृश स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णु रूप से जीवों को धारण पोषण करनेवाला और संकर्षणरूप से संहार करनेवाला तथा प्रद्युम्नरूप से सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥१६॥ और वह परमात्मा अग्नि आदि ज्योतियों को भी ज्योति एवं मःया से परे कहा जाता है तथा वह ब्रह्मबोध स्वरूप और जानने के योग्य है एवं तत्वज्ञान से प्राप्त होने वाला और सबके हृदय में स्थित है ॥१७॥ और तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि– यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व ॥तद्ब्रह्म॥ तैत्ति भृगु० अनु० १ ॥ जिससे ये संपूर्णभूत उत्पन्न होते हैं तथा जो समस्त जीवों की रक्षा और संहार करता है तथा जिससे मोक्ष को प्राप्त करते हैं उसको जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है ॥१॥ और वेदान्त दर्शन में भी लिखा है कि— जन्माद्यस्ययतः ॥ वेदा० अ० १ पा० १ सूत्र २ ॥ जिससे सम्पूर्ण चर अचररूप संसार की उत्पत्ति, पालन, संहार और मोक्ष होता है वही ब्रह्म है ॥२॥ इस पूर्वोक्त प्रकार से दूसरे सूत्र का यह अर्थ है कि स्मृति से पूर्वभागार्थ कर्म को निश्चय करते हैं, और इतिहास तथा पुराण इन दोनों से उत्तर भागार्थ ब्रह्म को निश्चय करते हैं ॥२॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि वेद के उत्तर भाग का अर्थ जो ब्रह्म है उसको निश्चय करनेवाले जो इतिहास और पुराण हैं, इन दोनों में कौन सा प्रबल है।

अनयोरुभयोर्मध्ये इतिहासः प्रबलः ॥ ३ ॥

अर्थः—(अनयोः) इतिहास और पुराण (उभयोः) इन दोनों के (मध्ये) मध्य में (इतिहासः) इतिहास (प्रबलः) प्रबल है। कारण कि उनके बहुत लोगों के परिग्रह करने से तथा सर्वत्र मध्यस्थ हो भूतकाल के अर्थ को प्रतिपादन करने से, वचन सौन्दर्य से और कर्ता के आततम होने से क्योंकि मूल रामायण के आदि में जो कुश-लव का मंगल स्तव है उसमें लिखा है कि—

वेदेवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना । म्० रा० १० ॥

वेद से जानने योग्य परपुरुष श्रीमन्नारायण भगवान् जब दशरथ महाराज के पुत्ररूप से उत्पन्न हुए तब वह वेद प्रचेता ऋषि के पुत्र जो वाल्मीकि महर्षि हैं उनके द्वारा साक्षात् रामायण रूप से हुआ ॥ १० ॥ और भी लिखा है कि — वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ॥ आदौचान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥ महाभारत० स्वर्गारो० पर्व १८ अ० ६ श्लोक ९३ ॥ सर्वत्र पुण्य वेद तथा रामायण और महाभारत के आदि तथा मध्य और अन्त में, हे भरतर्षभ ! श्रीमन्नारायण का वर्णन है ॥ और भी लिखा है कि—

धर्मे चार्थे च मोक्षे भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥
। महाभारत स्वर्गारो० पर्व १८।५ ५० ॥

हे भरतर्षभ ! धर्म अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो इस महाभारत में है सो अन्यत्र भी है और जो इस महाभारत इतिहास में नहीं है वह कहीं पर भी नहीं है ॥ ५० ॥ इससे स्पष्ट साबित होता है कि पुराण से इतिहास श्रेष्ठ है इसी बात को जगदाचार्य जी ने तीसरे सूत्र में कहा है कि इतिहास पुराण इन दोनों में इतिहास प्रबल है ॥ ३ ॥

अब श्रीमल्लोकाचार्य स्वामीजी अपने ही साक्षात्साधन करते हैं कि पुराण से इतिहास श्रेष्ठ है ।

॥ तेन स पूर्वं भवति ॥ ४ ॥

अर्थ —पुराण से इतिहास (तेन) प्रबल होने से (सः) वह इतिहास शब्द, इतिहास और पुराण इन दोनों के द्वन्द समास करने पर (पूर्वम्) पहले ॥ अभ्यर्हितं च ॥ इस वार्तिक से पूर्वनिपात (भवति) होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इतिहासपुराणाभ्याम् ॥ महाभारत आदि प० १ अध्याय १ श्लोक ६७ ॥ इस श्लोक के पद में और ॥ इतिहास-पुराणानि ॥ अश्वलायन सूत्र अ० ३ ॥ इस सूत्र के पद में और इतिहासपुराणम् ॥ छान्दोग्य प्रपा० ७ खंड १ ॥ इस उपनिषद् के पद में तथा ॥ इतिहास पुराणम् ॥ शतप० अध्याय ११ प्र० ३ ब्रा० ८ कं० ८ ॥

इस वेद के ब्राह्मण भाग के पद में और स्मृतीतिहासपुराणैः ॥ श्रीवचनभू० सूत्र १ ॥ इस सूत्र के पद में इतिहास और पुराण इन दोनों के साथ चार्थेद्वन्द्वः ॥ व्याक० अ० २ पाद २ सूत्र २६ । इस सूत्र से द्वन्द्व समास करने पर इतिहास शब्द से पुराण शब्द में अल्पस्वर है इससे ॥ अल्पाचतरम् ॥ व्या० अ० २ पाद सूत्र ॥ ३४ ॥ इस सूत्र द्वारा पुराण शब्द का पूर्व निपात प्राप्त हुआ परन्तु अभ्यर्हितं च ॥ इस वार्तिक से श्रेष्ठ होने के कारण इतिहास शब्द का ही पूर्व निपात होता है और चौथे अध्याय के तीसरे पाद के महाभाष्य में लिखा है कि—

वासुदेवार्जुनाभ्यांवुन् ॥ व्या० अ० ४ पा० ३ सू० ६८ ॥ यहाँ पर **अजाद्यदन्तम्** ॥ व्या० अ० २ पा० २ सू० ३३ ॥ इस सूत्र से या ॥ अल्पाचतरम् ॥ अ० २ पा० २ सू० ३४॥ इस सूत्र से अर्जुन शब्द का पूर्व निपात प्राप्त होने पर भी पाणिनि महर्षि ने नहीं किया है कि— (सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वं निपतति) श्रेष्ठ का सबसे पूर्व निपात होता है। ऐसा ज्ञापन करने के लिये। अतः इतिहास पुराण इत्यादि स्थलों में श्रेष्ठ होने से इतिहास शब्द का प्रयोग पहले किया जाता है। इस बात को इस प्रबन्ध के कर्ता भी कहते हैं कि श्रेष्ठ होने से इतिहास पहले कहा गया है ॥ ४ ॥

इति वेदार्थनिर्णयनामकोपोद्घातः समाप्तः ।

॥ अथ पुरुषकारवैभवनाम प्रथमप्रकरणम् ॥

श्रीमल्लोकाचार्य स्वामीजी, पहले स्मृति से इतिहास तथा पुराण से ब्रह्मनिश्चय होता है और पुराण से इतिहास श्रेष्ठ है ऐसा कहकर मुमुक्षु चेतनों के उज्जीवन के लिये ॥ **इतिहासश्रेष्ठेन श्रीरामायणेन कारागृहवासकर्व्या वैभव उच्यते ॥ श्रीवचनभू० सूत्र ५॥** इस सूत्र से लेकर ॥ **अर्जुनस्य दौत्यसारथ्यकरणं प्रपत्युपदेशकरणं चैतदर्थम्॥ श्रीवचनभू० सूत्र २६ ॥** इस सूत्र पर्यन्त बाईस सूत्रों में पुरुषकार वैभव प्रकरण को कहा है। जिसमें वेद के उत्तर भागार्थ ब्रह्म को निश्चय करने वाले इतिहास और पुराणों में इतिहास श्रेष्ठ है और इतिहासों में वाल्मीकि रामायण प्रबल है। इससे प्रबन्धकर्ता वाल्मीकि रामायण प्रतिपाद्य श्री जगज्जननी लक्ष्मी देवी के वैभव को कहते हैं कि —

॥ इतिहासश्रे 'न श्रीरामायणेन कारागृहवासकर्त्र्या वैभव उच्यते ॥ ५ ॥

यस्याः कटाक्षमृदुवीक्षणवीक्षणेन सद्यः समुल्लसितपल्लवमुल्ललास ।
विश्वविपर्ययसमुत्थविपर्ययं प्राक् तां देवदेवमहिषीं श्रियमाश्रयामः ॥ १ ॥

अर्थ०—(इतिहासश्रेष्ठेन) इतिहासों में श्रेष्ठ (श्रीरामायणेन) श्रीवाल्मीकि रामायण से (कारागृहवासकर्त्र्याः) कारागार में निवास करनेवाली महालक्ष्मीजी का (वैभवः) वैभव (उच्यते) कहा जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या प्रमाण है कि इतिहासों में श्रेष्ठ वाल्मीकि रामायण है ? इसका उत्तर यह है कि **नास्ति रामायणात्परम् ॥**

॥ स्कन्द पुराण० उ० खं० रा० मा० अ० ५।२१ ॥

रामायण से श्रेष्ठ नहीं हैं ॥२१॥ इससे साबित होता है कि रामायण सबसे श्रेष्ठ है। और दूसरा उत्तर यह है कि—

रामायणमादिकाव्य सववेदार्थसम्मतम् ।

। स्कन्द० उत्तर खंड रामा० अ० ५ श्लो० ॥६४॥

सम्पूर्ण वेदों के अर्थ से सम्मत रामायण आदि काव्य है ॥ ६४॥ इस प्रमाण द्वारा सब वेदार्थ सम्मत होने से तथा आदि काव्य होने से रामायण सब इतिहासों में श्रेष्ठ है। तीसरा उतर यह है कि

आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयंप्रभुः ।

चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टं तं मुनिपुंगवम् । वा० रा० १।२।२३

महान् तेजवाले लोककर्ता चतुर्मुख ब्रह्मा बिना बुलाये हुए मुनियों में श्रेष्ठ उस वाल्मीकि महर्षि के दर्शन करने के लिये आये ॥२३॥ और

वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं ततः ॥ २६ ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने । २७ ॥

इसके बाद वाल्मीकि महर्षि के लिये ब्रह्माजी ने आसन दिया ॥२६॥ ब्रह्माजी की अनुज्ञा पाकर वे आसन पर बैठे ॥२७॥ इन प्रमाणों से साबित होता है कि सर्व पितामह ब्रह्मा से सत्कृत वाल्मीकि महर्षि ने रामायण को बनाया है, इससे सब इतिहासों में श्रेष्ठ है। और चौथा उत्तर यह है कि- **न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥३५॥**

इस रामायणरूप काव्य में आपकी एक भी बात झूठी नहीं होगी ॥३५॥ ऐसा ब्रह्माजी के अनुग्रह करने से रामायण में कहे हुए सब अर्थ सत्य

होने से इतिहासों में रामायण श्रेष्ठ है। तथा पाँचवाँ उत्तर यह है कि—
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्चमहीतले। तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥३६॥ जब तक पृथ्वी पर पवत और नदी ठहरेंगे तबतक रामायण की कथा का लोक में प्रचार रहेगा ॥३६॥ इस प्रकार समस्त लोक परिगृहीत होने से भी रामायण श्रेष्ठ है। और छठवाँ उत्तर यह है कि—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना। मू० रा०। १०।

जैसे वेद से जानने योग्य परमात्मा संसारी चेतनों की रक्षाके लिए दशरथ महाराज के पुत्र रूप से मनुष्यावतार धारण करते हैं वैसे ही श्रीरामवतार के गुणचेष्टितों के कथन द्वारा श्रीरामभद्र में प्रेम कराने के लिए वेद रामायणावतार वाल्मीकि महर्षि से धारण करता है ॥१०॥ इस प्रमाण से स्पष्ट वेदावतार रामायण ज्ञात होता है। इससे सिद्ध होता है कि सब इतिहासों में रामायण श्रेष्ठ है। उस श्रेष्ठ रामायण की संख्या भी लिखी हुई है कि—

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान्पंच षट् काण्डानि तथोत्तरम् ॥ वा०रा० १।४।२।

वाल्मीकि महर्षि ने श्रीरामायण में चौबीस हजार श्लोकों को तथा पाँच सौ सर्गों को और बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध, उत्तर इन सात काण्डों को कहा है ॥ २ ॥ और सम्पूर्ण श्रीरामायण सीताजी के वैभव को कहता है, यह लिखा है कि

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ॥ वा० रा० १।४।७

महाकाव्य श्रीरामायण सम्पूर्ण सीताजी का महच्चरित्र है ॥ ७ ॥ इस पाँचवें सूत्र में महालक्ष्मी नहीं कहकर कारागार में वास करनेवाली-ऐसा जगदाचार्यजी कहते हैं, वस्तुतः लक्ष्मीजी की अतिशय दया को प्रकट करने के लिए। जैसे बालक के कुएँ में गिरने पर उसकी माता बालक के साथ कूदकर निकालती है, वैसे ही इस संसार कूप में गिरे चेतनों के उद्धार करने के लिये आप स्वयं जन्म लेती हैं और आश्रित जनों के दुःखों को अपने भोगकर रक्षा करती हैं, परन्तु जो लोग लक्ष्मीजी की शक्ति को नहीं जानते हैं वे लोग यह कहते हैं कि रावण बलपूर्वक सीताजी को लङ्का में ले गया। बुद्धिमानों को इस विषय में विचार

करना चाहिए कि जिसके ॥ शीतो भव हनूमतः ॥ वाल्मीकि रा० सुन्दर कां० स० ५३ श्लो० २७ । ऐसा वाक्य कहने से अग्नि हनुमानजी की पूँछ पर शीतल हो गयी उसके साथ रावण बलपूर्वक आचार कैसे कर सकता है ? जिस महालक्ष्मी देवी के विषय में ऋग्वेद में लिखा है कि—

अहंमित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नि अहमश्विनोभा
ऋग्वे० अष्ट ८ मण्ड० १० अ० १० सूत्र १२५ मंत्र॥ १ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहंत्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहराष्ट्री संगमनीवसूनां चिकितुषी प्रथमायज्ञियानाम् ।
तां मादेवाव्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूय विशयन्तीम् ॥३॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥४॥
मया सो अन्नमत्तियो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवोमान्त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवंतेवदामि ॥५॥
अहंरुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषेशरवेहन्तवाउँ ।
अह जनाय समदं कृणोम्यह द्यावा पृथिवा आविवेश ॥ ६ ।

महालक्ष्मी देवी कहती हैं कि मैं मित्र देव तथा वरुण देव को धारण और पालन करती हूँ । मैं इन्द्रदेव तथा अग्निदेव को और दोनों अश्विनी कुमारों को धारण तथा पालन करती हूँ ॥१॥ मैं सब ओर से मारनेवाले सोमदेव को धारण और पोषण करती हूँ और जो यजमान सुन्दर हविष्य तथा सोम इन्द्रादि देवों के लिये देते हैं उनके लिये मैं धन देती हूँ ॥ २ ॥ मैं सब संसार की ईश्वरी तथा मिलनेवाली ज्ञानवाली पहली यजनीय देवताओं में अनेक तरफ से स्थित होनेवाली अनेक तरह से सब ओर से प्रवेश कराती हूँ । मुझको देव लोग अनेक जगह विधान करते हैं ॥३॥ मैं ही आप यह कहती हूँ जो कि देवताओं से तथा मनुष्यों से सेवित है, जिसको मैं चाहती हूँ उसको उत्तम बढ़िय बनाती हूँ उसको ब्रह्मा, उसको ऋषि और उसका मेधावी बनाता हूँ ॥४॥ मेरी सहायता से सब अन्न को खाते हैं, देखते हैं, श्वास लेते हैं, सुनते हैं और जो मेरे कहे हुए को नही मानता है वह नष्ट हो जाता है । सुन, सखे ! श्रद्धा और

यत्न से प्राप्त होनेवाले वचन को तुझसे कहती हूँ ॥५॥ मैं रुद्र के धनुषको विस्तार युक्त करती हूँ, ब्राह्मण के वैरियों को तथा हिंसकों के मारने के लिये और मैं ही जनके लिये मदयुक्त करती हूँ तथा मैं आकाश पाताल में व्याप्त हो रही हूँ ॥६॥ इन प्रमाणों से सिद्ध जो सर्वशक्तिमती लक्ष्मी देवी हैं, उनका वैभव इतिहास श्रेष्ठ श्रीरामायण से कहा जाता है ॥५॥

श्रीलोकाचार्य स्वामीजी श्री रामायण प्रतिपाद्य अर्थ को कह कर अब महाभारत प्रतिपाद्य अर्थ को कहते हैं कि—

श्रीमहाभारतेन दौत्येन गतवतो वैभव उच्यते ॥६॥

अर्थ-(श्रीमहाभारतेन) श्री महाभारतनामवाले इतिहास से (दौत्येन) दूतभाव को (गतवतः) प्राप्त करनेवाले श्रीकृष्णरूपधारी नारायण का (वैभवः) वैभव (उच्यते) कहा जाता है, क्योंकि लिखा है कि—

नमो भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे ।
यस्य प्रसादाद्वक्ष्यामि नारायणकथामिमाम् ॥ महाभार० ॥

उन भगवान् व्यासजी के लिए मैं नमस्कार करता हूँ जिनके प्रसाद से मैं इस नारायण की कथा को कहता हूँ ॥ अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि महाभारत नाम इस इतिहास का क्यों रखा गया ? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत के आदिपर्व के पहले अध्याय में लिखा है कि—

एकतश्चतुरोवेदा भारतंचैतदेकतः ॥ महाभा०आदिप०१अ० १ श्लो० ७१

पुराकिल सुरैः सर्वैः समेत्यतुलयाधृतम् ।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्योवेदेभ्योह्यधिकंयदा

तदा प्रभृतिलोकेऽस्मिन्महाभारतमुच्यते । ७२।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ॥७३॥
महत्वाद्भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ।
निरुक्तमनयोवेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥७४॥

एक तरफ ऋग्यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदों को और एक तरफ महाभारत इतिहास को ॥७१॥ पहले सब देवताओं ने मिलकर तुलना करने के लिये तराजू पर रखा। निश्चय करके जब रहस्य सहित चारों वेदों से महाभारत अधिक हो गया ॥७२॥ तब उसी दिन से इस लोक में इसको महाभारत सब लोग कहते हैं। क्योंकि यह इतिहास महत्व में

और गुरुत्व में तुला पर रखने पर अधिक हो गया है ॥७३॥ सब से महान् होने से और भारवाला होने से इसको सब लोग महाभारत कहते हैं। इस महाभारत के महत्वात् भारत्वात्॥ इस निरुक्त को जो जानता है वह सब पापों से छूट जाता है॥७४॥ इस छठवें सूत्र में (सर्वेश्वरस्य) ऐसा न कह कर॥ दौत्येन गतवतः॥ ऐसा पद लोकाचार्य स्वामीजी ने नारायण भगवान के आश्रित-पारतन्त्र्य स्वभाव को बताने के लिये कहा है। पूर्वोक्त गुणविशिष्ट नारायण भगवान का वैभव महाभारत इतिहास से कहा जाता है ॥६॥ मुमुक्षुओं के उज्जीवन के लिये जो अर्थ निरूपण करने के लिये उपक्रम किया है, उसमें इन पाँचवें छठवें सूत्रों से वेदान्त के कौन से अर्थ कहे गये हैं? इस बात को लोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि—

एतद्द्वाभ्यांपुरुषकारवैभव उपाय वैभवश्चोक्तः ७॥

अथ (एतद्द्वाभ्याम्) इन पाँचवें और छठवें दोनों सूत्रों से (पुरुषाकार वैभवः) कारागार में वास करनेवाली पुरुषकार भूत महालक्ष्मीजी का वैभव और (उपायवैभवः) दूतकृत्य करनेवाले उपाय भूत नारायण भगवान का वैभव (च) और भी (उक्तः) कहा गया है। अर्थात् पाँचवें सूत्र से पुरुषकार वैभव और छठवें सूत्र से उपाय वैभव कहा गया है। भगवत्प्राप्ति के लिये लक्ष्मीदेवीही कोपुरुषकार, भगवान ने कहा है—

मत्प्राप्ति प्रति जन्तूनां संसारे पततामधः॥
लक्ष्मीः पुरुषकारत्वे निर्दिष्टापरमर्षिभिः॥
ममापि च मतं ह्येतन्नान्यथा लक्षण भवेत्।
अहंमत्प्राप्युपायो वै साक्षाल्लक्ष्मीपतिः स्वयम्॥
लक्ष्मीपुरुषकारेण वल्लभाप्राप्ति योगिनी।
एतस्याश्च विशेषोऽयं निगमान्तेषु शब्द्यते॥
आकिंचन्यैकशरणाः केचिद्दुर्भाग्याधिकाः पुनः॥
मत्पादांभोरुहद्वन्द्वः प्रपद्य प्रीतमानसाः॥
लक्ष्मीं पुरुषकारेण वृतवन्तो वरानन॥
मत्क्षमां प्राप्यसेनेश प्राप्य प्रापकमेवमाम्॥
लब्ध्वा कृतार्थाः प्राप्यन्तेमामेवानन्यमानसाः॥ भगवच्छास्त्र०

संसार में अधःपतित जीवों को हमारी प्राप्ति के लिये महर्षि लोग लक्ष्मी को पुरुषकार कहते हैं। हमारा भी यही मत है। इसका और लक्षण नहीं है, स्वयं लक्ष्मीपति मैं अपनी प्राप्ति के लिये उपाय हूँ। मेरी प्रिय लक्ष्मी प्राप्ति करानेवाली है। इसका यह वैभव वेदान्त में कहा जाता है। आकिंचन्य ही शरण है जिसको ऐसे अधिक भाग्यवाले लोग लक्ष्मी को पुरुषकार रूप से स्वीकार करके, हे सेनेश हमारी क्षमा के विषय हो और हमको प्राप्य प्रपाक समझ कर कृतार्थ हो हमको प्राप्त होते हैं॥ इस पूर्वोक्त प्रमाण से उपाय और उपेय दोनों नारायण ही हैं यह भी प्रमाणित होता है। अनन्योपाय को मुण्डकोपनिषद् भी कहती है कि— **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैषवृणुते तनूं स्वाम् मुण्ड० ३ खंड २ मं० ३ ॥** यह आत्मा बहुत कहने से नहीं प्राप्त होती है न तो बुद्धि या तर्क से प्राप्त होती है न तो बहुत सुनने से प्राप्त होती है। जिसको यह परमात्मा निर्हेतुदया करके स्वीकार कर लेता है वही परमात्मा को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ भगवद्गीता में भी लिखा है कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। भगवद्गी०॥ १८। ६६ ॥

भगवत् प्राप्ति के लिये उपाय रूप से जो धर्म कहे गये हैं उन सम्पूर्ण धर्मों को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा को ही प्राप्य और प्रपाक समझ कर शरण प्राप्त करो ॥६६॥ इस प्रकार पाँचवें और छठवें इन दोनों सूत्रों से पुरुषकार वैभव और उपाय वैभव कहा गया है॥ ७ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार पुरुषकार होने के समय में जिन जिन गुणों को अवश्य होना चाहिये उन उन गुणों को कहते हैं कि–

पुरुषकारभवनसमये कृपापारतंत्र्यमनन्यार्हत्वं चापेक्षितम् ॥ ८ ॥

अर्थ :–(पुरुषकारभवनसमये) पुरुषकार होने के समय में (कृपा) पर दुःखकी असहिष्णुता (पारतन्त्र्यम्) पराधीनता (च) और (अनन्यार्हत्वम्) ईश्वर को छोड़कर अन्य विषय के योग्य न होना (अपेक्षितम्) ये तीनों गुण अवश्य अपेक्षित हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों गुण पुरुषकार को कैसे अवश्य अपेक्षित हैं? इसका उत्तर यह है कि— चेतन को इस संसार में दुःख पाते देख, उनका दुःख न सह कर ईश्वर के

साथ जीव को मिलाने का यत्न करने के लिये कृपा की आवश्यकता है। परमात्मा को वश करने के समय अनुवर्तन की आवश्यकता होने से पारतंत्र्य अपेक्षित है। हमसे अन्य किसी विषय के योग्य न हो हमको अतिशय करनेवाली होने से मेरे कार्य को ही कहती है ऐसा विचार जैसा कहेगी तैसा करने के उपयुक्त होने से अनन्यार्हत्व अपेक्षित है। इससे पुरुषकार होने के समय में कृपा १ पारतंत्र्य २ अनन्यार्हत्व ३ अपेक्षित हैं ॥ ८ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी पुरुषकार होने के समय में अवश्य अपेक्षित जो लक्ष्मीजी की कृपा है उसको कहते हैं।

लक्ष्म्याः प्रथमविश्लेषः स्वकृपाप्रकाशनार्थम् ॥९॥

अर्थ पंचवटी में (लक्ष्म्याः) सीता रूप धारिणी लक्ष्मीजी का (प्रथमविश्लेषः) श्रीरामावतार धारण करनेवाले नारायण भगवान से पहला विश्लेष (स्वकृपाप्रकाशनार्थम्) अपनी कृपा को प्रकट करने के लिये हुआ। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि लक्ष्मीजी ने सीता का रूप धारण किया था इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि—

देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।

विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम् ॥

परमात्मा के देवरूप धारण करने पर लक्ष्मीजी देवीरूप धारण करती हैं मनुष्य रूप धारण करने पर मनुष्यरूप धारण करती हैं, यह लक्ष्मी अपने रूप को विष्णु के रूप के सदृश बनाती है। सीतोपनिषद् में लिखा है कि—

महालक्ष्मीर्देवेशस्य नित्याभिन्नरूपा चेतनाचेतनात्मिका ब्रह्मस्थावरात्मा तद्गुणकर्मविभागभेदाच्छरीररूपा देवर्षिमनुष्यगन्धर्वरूपा ॥

॥ सीतोपनि० ॥ महालक्ष्मी देवी नारायण के भिन्न-भिन्न स्वरूपा नारायण के गुण और कर्म के विभाग के भेद से जैसा देव या ऋषि या मनुष्य या गन्धर्व का स्वरूप होता है वैसा ही रूप धारण करती हैं ॥ इससे यह सिद्ध होता है कि—लक्ष्मी का अवतार सीता हैं और इसी प्रकार से नारायणवतार श्रीरामचन्द्रजी हैं, क्योंकि वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

ततो नारायणो विष्णु र्नियुक्तः सुरसत्तमैः ।
जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् वा० रा० १।१६।१
उपायः को बधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः ॥२।

देवताओं की प्रार्थना करने के बाद विष्णु नारायण भगवान् जानते हुए भी इस मधुर वचन को बोले ॥१॥ कि हे देवगण ! उस राक्षसाधिपति रावण को मारने का कौन उपाय है ॥२॥ ऐसा कहने पर तो देवता सब कहते हैं कि—

मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥३॥

मनुष्य का रूप धारण करके संग्राम में रावण को मारिये ॥ ३ ॥ इस कथन से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि नारायण का अवतार रामभद्र हैं। लंका में श्रीसीता की अग्नि-परीक्षा करने पर देवताओं ने स्तुति की— त्वंहि नारायणः श्रीमान्सीतालक्ष्मीः सनातनी ॥ प०पु०खंड २६९।३३६॥ और श्री अम्बाजी के प्रथम विश्लेष की कथा वाल्मीकि रामायण के अरण्य काण्ड के उनचासवें सर्ग में स्पष्ट लिखी हुई है। अब यह प्रश्न होता है कि श्री अम्बाजी प्रथम विश्लेष में अपनी कृपा का कहाँ तक प्रकाशन करती हैं ? इसका उत्तर यह है कि अति क्रूर चालवाली राक्षसियों के विषय में। क्योंकि वाल्मीकि रामायण के सुन्दर कांड में लिखा है कि रावण की पराजय और रामजी की जीत को स्वप्न में देखने वाली त्रिजटा का वाक्य सुनकर —

सर्वा एवा ब्रुवन्भीताः । वा० रा० ५।२७।७

सब ही राक्षसियाँ डरकर बोलीं ॥७॥ इस प्रमाण से अत्यन्त भयभीत राक्षसियों के प्रति श्री अम्बाजी ने कहा है कि—

यदितत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ।वा०।५।२७ ४८

हमारे स्वामी को विजय हो जायेगी तो तुमलोगों की मैं रक्षा करूँगी ॥ ४८ ॥ ऐसा अभय प्रदान करके फिर रावण के बध होने पर शुभ वृतान्त सुनाने के लिये आये हुए महावीरजी ने राक्षसियों को चित्रबध करने के लिये मुझे सौंप दो, ऐसा कहा तब श्री अम्बाजी ने कहा—

राजप्रभयवश्यानां कुर्वतीनांपराज्ञया । वा० रा०६।११५।३६
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद्वानरोत्तम ।

भाग्यवैषम्यदोषेण पुरस्ताद्दुष्कृतेन च ।३७॥
मयैतत्प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते ।
मैवं वद महाबाहो दैवीह्येषापरा गतिः ।३८॥
प्राप्तव्यं तु दशायोगान्मयैतदिति निश्चितम् ।
दासीनां रावणस्याहं मर्षयामीह दुर्बला ॥३९॥
आज्ञाप्ता राक्षसेनेह राक्षस्यस्तर्जयन्तिमाम् ।
हते तस्मिन्नकुर्वन्ति तर्जनं मारुतात्मज ।४०॥
अयंव्याघ्रसमीपे तु पुराणोधर्म संहितः ।
ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तं निबोध प्लवंगम ४१।
न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु सतश्चारित्रभूषणः ।४२॥
पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ॥
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥४३॥
लोकहिंसाविहाराणां क्रूराणां पापकर्मणाम् ।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम् ॥४४॥

राजसंश्रित अतएव राजा के अधीन दूसरे की आज्ञा से करनेवाली ॥३६॥ इन रावण की दासियों पर हे श्रेष्ठ बानर कौन क्रोध करे ? विषम भाग्य दोष से और पहले के किये हुए बुरे कर्म से ॥ ३७ ॥ मैं यह क्लेश सब पाती हूँ क्योंकि निश्चय करके अपना ही किया भोगा जाता है। हे महाबाहो ! ऐसा मत बोलो, यह दैवी परागति है ॥३८॥ अपनी दशा के योग से दुःख पाती हूँ यह मुझे निश्चय है। यहाँ दुर्बल मैं रावण की दासियों की सहती हूँ ॥३९॥ हे पवनसुत ! यहाँ रावण की आज्ञा पाकर ये राक्षसियाँ मुझको डराती हैं, रावण के मना करने पर नहीं डरवाती हैं ॥४०॥ व्याघ्र के समीप में यह धर्मयुक्त पुराना श्लोक भालू ने गाया है। हे बन्दर तुम उसको मुझसे जानो ॥४१॥ दूसरे पापकर्म वाले के पाप को दूसरा नहीं ले सकता है। समय रक्षा करने योग्य है क्योंकि सन्तों का चरित्र ही भूषण है ॥४२॥ पापी हों या अच्छे हों या मारने योग्य हैं परन्तु आर्य पुरुष को दया करनी ही चाहिये क्योंकि ऐसा कोई

नहीं है जिसने अपराध न किया हो ॥४३॥ लोक में हिंसा में विहार करने वाले और पापकर्मवाले हिंसक जीवों के पाप करते हुए भी उनके कार्य अशोभन नहीं हैं ॥४४॥ इस प्रकार मे अपनी पहली प्रतिज्ञा के अनुसार अत्यन्त अपराधी राक्षसियों को रक्षा करने से अपनी कृपा को अम्बा ने प्रकट किया है। इसीसे कहते हैं कि श्री अम्बाजी का पहला विश्लेष अपनी कृपा को प्रकट करने के लिए हुआ ॥९॥

अब श्रीवचनभूषणकार पुरुषकार होने के समय में जो लक्ष्मीजी की पराधीनता है। यह अवश्य अपेक्षित दूसरा गुण है उसको कहते हैं कि—

मध्यमविश्लेषः पारतंत्र्यप्रकाशनार्थम् ॥१०॥

अर्थ—वाल्मीकि महर्षि के आश्रम के पास में सीतारूप धारिणी लक्ष्मीजी का रामावतार धारण करनेवाले नारायण भगवान से (मध्यमविश्लेषः) मध्यमविश्लेष (पारतंत्र्यप्रकाशनार्थम्) पराधीनता को प्रकट करने के लिए हुआ। अर्थात् रावण के मरने के बाद अयोध्या में गर्भवती सीता से रामजी ने कहा है कि—

अपत्यलाभो वै देहि त्वयि मे समुपस्थितः।
किं मन्यसि वरारोहेकामः किंक्रियतां तव। वा०रा०७।४२।३१

हे जानकी तेरे में पुत्रलाभ मुझको उपस्थित हुआ है, तुम क्या इच्छा करती हो, तेरी किस इच्छा को मैं पूर्ण करूँ ॥ ३१ ॥ ऐसा पूछने पर जानकीजी ने कहा है कि—

तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव।
गंगातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम् ॥ वा० रा० ७।४२।३३
फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्तितुम्।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम् ॥३४॥
अप्येकरात्रं काकुत्स्थ निवसेयं तपोवने ॥३५।

हे राघव! पवित्र तपोवनों को देखने की इच्छा करती हूँ और गंगा के तट पर रहनेवाले ऋषियों को ॥३३॥ जिन लोगों का अत्यन्त तेज है तथा फलमूल भोजन करनेवाले हैं उनलोगों के चरणमूलों में वास करने

की इच्छा करती हूँ । और हे देव काकुत्स्थ फल-मूल भोजन करनेवालों के तपोवन में एक रात्रि भी तो वास करूँगी यही मेरी श्रेष्ठ कामना है ।।३४।। ।।३५।। ऐसा कहने पर लोकापवाद को दूर करने के लिए लक्ष्मणजी के द्वारा तपोवन में छोड़ने के समय सीताजी कहती हैं कि—

न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले ।

त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते वा० रा० ७।४८ ८

हे सुमित्रानन्दन लक्ष्मण ! मेरे स्वामी से प्राप्त जो मेरे गर्भ में राजकुमार है वह मेरे मरने से मर जायगा तो स्वामी के वंश का नाश हो जायगा, जिससे स्वामी के वंश का नाश नहो इसलिए ही मैं प्राण को आज गंगा के प्रवाह में परित्याग नहीं करती हूँ । इससे स्पष्ट पराधीनता साबित होती है, इसी को कहते हैं कि मध्यम विश्लेष पराधीनता को प्रकट करने के लिये हुआ है ।। १ ।।

अब लोकाचार्य स्वामीजी पुरुषकार होने के समय में अवश्य अपेक्षित जो तीसरा अनन्यार्हत्व गुण है उसको कहते हैं कि—

अनन्तरविश्लेषोऽनन्यार्हत्वप्रकाशनार्थम् ।।११।।

अर्थ --नैमिषारण्य में सीता रूपधारणी लक्ष्मीजी का रामावतार धारण करने वाले नारायणभगवान् से (अनंतरविश्लेषः) तीसरा वाल्मीकि महर्षि के आश्रम से लौटकर रामजी की सन्निधि में पृथ्वी में प्रवेश करना (अनन्यार्हत्व प्रकाशनाथम्) अनन्यार्हत्व को प्रकट करने के लिये हुआ । यह लिखा है कि—

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा । वा० रा० ५।२१ १५

जैसे सूर्य का साथ प्रभा नहीं छोड़ती है वैसे ही श्रीरामचन्द्र का साथ मैं नहीं छोड़ती हूँ ।।१५।। और भी लिखा है कि—

सर्वान्समागतान्दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी ।। वा० रा० ७।९७।१३
यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ।। १४ ।।

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १५ ॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १६ ॥

काषायवस्त्र पहनी हुई सीताजी ने आये हुए सब ऋषियों को देखकर नीचे पृथ्वी को देखती हुई हाथ जोड़ करके इस बात को कहा ॥ १३ ॥ यदि मैंने श्री रामजी से अन्य किसी को मन से भी स्मरण न किया हो तो भूमि देवी मुझको स्थान देगी ॥ १४ ॥ यदि मन, वचन और देह से श्रीरामजी को ही मैंने पूजन किया हो तो भूमि देवी मुझको स्थान देगी ॥ १५ ॥ श्री राम से अतिरिक्त और किसी को भी मैं नहीं जानती यदि यह बात सत्य हो तो भूमि देवी मुझको स्थान देगी ॥ १६ ॥ और भी वहीं लिखा है कि—

तथा शपंत्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत्तदद्भुतम् ।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ।वा० रा० ७।६७।१७
ध्रियमाण शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः ।
दिव्यं दिव्येनवपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः ॥ १८ ॥
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्यमैथिलीम् ।
स्वागतेनाभिनंद्यैनामासने चोपवेशयत् १९ ॥
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशंतीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥ २० ॥

इस प्रकार जानकीजी के शपथ करने पर अत्यद्भुत दिव्य उत्तमोत्तम सिंहासन भूमि से प्रकट हुआ ॥ १७ ॥ दिव्यरत्न विभूषित और बड़े बड़े पराक्रमवाले तथा शरीरवाले नागगणों द्वारा मस्तकों से यह धारण किया हुआ दिव्य सिंहासन ॥ १८ ॥ उस दिव्य सिंहासन में भूमि देवी ने सीताजी को स्वागतकर भुजाओं से मिलकर बैठाया ॥ १९ ॥ उस सिंहासनपर बैठकर रसातल में प्रवेश करती हुई सीताजी के ऊपर विच्छेद रहित दिव्य पुष्पवृष्टि देवताओं ने की ॥ २० ॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से श्रीअम्बाजी में स्पष्ट अनन्यार्हत्व गुण सिद्ध होता है। इसी को

कहते हैं कि — तीसरा विश्लेष अनन्यार्हत्व प्रकाश करने के लिये हुआ ॥ ११ ॥

अब जगदाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि इस प्रकार कृपा तथा पराधीनता और अनन्यार्ह गुणवाली सीताजी की पुरुषकारता संयोग में या वियोग में कहाँ दीखता है ?

संश्लेषविश्लेषयोरुभयोश्च पुरुषकारत्वं भाषते ॥ १२।

अर्थ —(संश्लेषविश्लेषयोः) श्रीसीताजी के रामभद्र के साथ वर्तमान दशा में (च) और रामभद्र से अलग रहने की दशा में (उभयोः) अर्थात् संश्लेष और विश्लेष इन दोनों में (पुरुषकारत्वम्) पुरुषकारत्व (भासते) दीखता है। अब यह प्रश्न होता है कि श्रीसीताजी के रामचन्द्र के साथ रहने पर कहाँ पर पुरुषकारत्व भासता है और रामचन्द्र से अलग रहने पर कहाँ पर सीताजी में पुरुषकारत्व भासता है ? इसका उत्तर यह है कि सीताजी के रामभद्र के साथ रहने पर लक्ष्मण जी के विषय में देखा जाता है कि—

सभ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः ।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ॥ वा० रा० ३।१५।६

वे लक्ष्मणजी भ्राता रामचन्द्र के दोनों चरणों को जोर से पकड़ कर अत्यन्त श्रेष्ठ श्रीसीताजी से और महव्रत श्रीरामजी से बोले ॥ २ ॥ इस कथन से श्रीलक्ष्मणजी को शरणागति करने के समय और पंचवटी में पहुँचने पर पर्णशाला को बनाओ ऐसा रामजी के कहने पर लक्ष्मणजी के विषय में देखा जाता है कि—

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयतांजलिः
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् । वा० रा० ३।१५।६
परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्ष शतं स्थिते ॥
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥७॥

इस प्रकार श्री रामजी के कहने पर लक्ष्मणजी हाथ जोड़ करके सीताजी के सामने श्रीरामजी से बोले ॥ ६ ॥ कि हे राघव ! आपकी सत्ता जहाँ तक रहेगी वहाँ तक मैं परतंत्र हूँ। आप ही अपने इच्छित सुन्दर स्थान को दिखा कर मुझे बनाने की आज्ञा कीजिये ॥ ७ ॥ इन

पूर्वोक्त प्रमाणों से श्रीरामजी के साथ रहने पर श्रीअम्बाजी का पुरुषकारत्व भान होता है। और सीताजी को श्रीरामजी से अलग रहने पर रावण के विषय में देखा जाता है कि—

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे ;
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता। वा० रा० ५।२१।९

हे रावण! जिस कारण से तेरी बुद्धि आचार भ्रष्ट और विपरीत है उस कारण से मैं समझती हूँ कि इस लंका में सत्पुरुष नहीं हैं या होने पर भी तुम उनका अनुवतन नहीं करते हो ॥९॥ इस पूर्वोक्त प्रमाण से श्रीरामजी से अलग रहने पर भी श्रीअम्बाजी का पुरुषकारत्व भान होता है। इसको कहते हैं कि— संश्लेष और विश्लेष इन दोनों में पुरुषकारत्व भासता है ॥ १२ ॥

अब लोकाचार्य स्वामी यह कहते हैं कि संश्लेष और विश्लेष इन दोनों दशाओं में श्रीअम्बाजी का पुरुषकार प्रकार कैसा है ?

संश्लेषदशायामीश्वरं वशीकरोति, विश्लेषदशायां चेतनं वशीकरोति ॥ १३ ॥

अर्थ—(संश्लेषदशायाम्) श्रीनारायण के पास रहने पर श्रीअम्बाजी (ईश्वरम्) नारायण को (वशीकरोति) वश करती है। अर्थात् जीव के अपराध को देखकर मैं नहीं सहूँगा ऐसा कहनेवाले ईश्वर के स्वातंत्र्य को हटाकर अंगीकार करने के लिये उन्मुख करती हैं और (विश्लेष-दशायाम्) नारायण से अलग रहने पर श्रीअम्बाजी (चेतनम्) जीव को (वशीकरोति) वश करती हैं। अर्थात् अकृत्यकारी और भगवद्विमुख इन चेतनों के दोषों को दूर कर आश्रयण करने के लिये भगवान् को उन्मुख करती है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ईश्वर किसको कहते हैं ? इसका उत्तर महर्षि पतंजलिजी ने यों दिया है कि—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥
॥ योगशा० १।१।२४

अविद्यादिक क्लेश तथा शुभाशुभ कर्म और कर्मों के सुख दुःख फल तथा संस्कार इन सबों के सम्बन्ध से रहित जो पुरुष विशेष है वही ईश्वर है ॥२४॥ ईश्वर का लक्षण विशेष पहले कह चुका हूँ। पूर्वोक्त प्रकार

से श्रीअम्बाजी ॥ संश्लेष दशा में ईश्वर को वश करती हैं और विश्लेष दशा में चेतन को वश करती हैं ॥ १३ ॥

अब इस प्रबन्ध के कर्ता यह कहते हैं कि श्री अम्बाजी किस उपाय से ब्रह्म और जीव इन दोनों को वश करती हैं।

उभयोर्वशीकरणमुपदेशेन ॥१४॥

अर्थ - (उभयोः) ईश्वर और जीव इन दोनों को (उपदेशेन) उपदेश से (वशीकरणम्) श्री अम्बाजी वश करती हैं। जैसे महापराधी जयन्त की रक्षा श्रीरामजी को उपदेश करके सीताजी ने करायी है, यह पद्मपुराण में लिखा है कि—

प्राणसंशयमापन्ने दृष्ट्वा सीताथ वायसम् ।
पाहि पाहीति भर्तारमुवाच दयया विभुम् ॥
। प पु० उ० ख० २६६ अ० २०६ श्लोक ।

प्राण के संशय प्राप्त हुए जयन्त कौवा को देख कर सीताजी दया से अपने पति से कहती हैं कि हे भगवन् इस कौए को रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥ इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर को उपदेश देती हैं। और जीव को भी उपदेश देती हैं, यह वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि-

मित्रभौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता । वधं चानिच्छता घोरं त्वयासौ पुरुषर्षभः ॥वा० रा० सुन्दकां० ५।२१।१६ विदितः सर्व धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः । तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥२०॥ प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम् ॥२१॥

हे रावण यदि लंका को बचाने को तेरी इच्छा हो और घोर वध को न चाहते हो तो उस पुरुषोत्तम का आश्रयण करो ॥ १६ ॥ वे शरणागत रूपधर्म को जाननेवाले और शरणागतवत्सल हैं। यदि जीने की इच्छा हो तो उस श्रीरामजी के साथ मित्रता करलो ॥ २० ॥ हे रावण शरणागतवत्सल उस श्रीरामजी को तुम प्रसन्न करो ॥ २१ ॥ इन पूर्वोक्त श्लोकों से मालूम होता है कि श्रीअम्बाजी जीव को भी उपदेश देती हैं। यह कहा भी है कि दोनों को उपदेश से वश करती हैं ॥१४॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि श्रीअम्बाजी के उपदेश से जीव और ईश्वर को क्या लाभ होता है ?

उपदेशेनोभयोरपि कर्मपारतंत्र्यंनश्यति ॥१५॥

अर्थः—श्री अम्बाजी के (उपदेशेन) उपदेश से (उभयोः) जीव और ईश्वर इन दोनों का (अपि) भी (कर्मपारतंत्र्यम्) अर्थात् अनादि माया के सम्बन्ध से होने वाले अज्ञान से उत्पन्न जीव का कर्म पारतंत्र्य और निरंकुश स्वातंत्र्य कार्य-भूत अपने संकल्प से आया हुआ ईश्वर का कर्म-पारतंत्र्य (नश्यति) नाश हो जाता है। क्योंकि इन दोनों के कर्म का पारतंत्र्य अनादि होने पर भी मातृत्व सम्बन्ध से जीव को और महिषीत्व सम्बन्ध से ईश्वर को अभिमत होनेवाली लक्ष्मीजी उपदेश देती हैं। इसी से कहते हैं कि उपदेश से जीव और ईश्वर इन दोनों का कर्म पारतंत्र्य नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि यदि श्री अम्बाजी के उपदेश से जीव और ईश्वर कम पारतंत्र्य से नहीं हटेंगे तो श्रीअम्बाजी उन दोनों को कैसे वश में करेंगी ?

उपदेशेनानिवर्तने चेतनं कृपया वशीकरोति ईश्वरं सौन्दर्येण वशीकरोति ॥१६॥

अर्थः—(उपदेशेन) उपदेश से [अनिवर्तने) जीव और ईश्वर को कर्म पारतंत्र्य से नहीं लौटने पर (चेतनम्) श्रीअम्बाजी जीव को (कृपया) कृपा से (वशीकरोति) वश करती हैं और (ईश्वरम्) ईश्वर को (सौन्दर्येण) सौन्दर्य से अर्थात् अपने मन्द हास्य से तथा चंचल कटाक्ष से (वशीकरोति) वश करती हैं, कहते हैं कि—उपदेश से नहीं लौटने पर जीव को दया से वश करती हैं और ईश्वर को सौन्दर्य से वश करती हैं ॥१६॥

॥ अथ पुरुषकारवैभवनाम प्रथमप्रकरणे उपायवैभवः ॥

पूर्वोक्त प्रकार से श्रीरामायण में कहे हुए अर्थ को कहकर अब लोकाचार्य स्वामीजी महाभारत में कहे हुए अर्थ को कहते हैं कि—

अज्ञातार्थान् साकल्येन ज्ञापयित्वाचार्यकृत्यस्य पुरुषकारकृत्यस्योपायकृत्यस्य च स्वेनैव स्वोपर्या-

रोपितत्वान्महाभारत उपायवैभवउक्तः । १७ ।

अर्थ—(अज्ञातार्थान्) तत्त्वविवेक से लेकर प्रपत्ति पर्यन्त जो अर्थ पहले अर्जुन को नहीं मालूम था उन सब अर्थों को (साकल्येन) पूर्णरूप से (ज्ञापयित्वा) जनाकर (आचार्य कृत्यस्य) पुरुषकारका कृत्य (च) और (उपायकृत्यस्य) उपाय के कृत्यको (स्वेन) अपने से (एव) निश्चय करके (स्वोपर्यारोपितत्वात्) अपने ऊपर आरोपण करने से [महाभारते) महाभारत में (उपायवैभव) उपायवैभव (उक्तः) कहा गया है। यह महाभारत के भीष्म पर्व में जो भगवद्गीता है उसमें स्पष्ट लिखा है कि

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामःसर्वे वयमतः परम् ॥ भगवद्गी० २।१२
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारे यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

न तो ऐसा ही है कि किसी काल में मैं अथवा तू नहीं था, अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥१२॥ जैसे जीवात्मा के इस शरीर में कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। उस विषय में धीर पुरुष नहीं मोहित होता है ॥१३॥ इन सब श्लोकों से प्रकृति और जीवात्मा का विवेक तथा जीवात्मा और परमात्मा का विवेक रूप तत्वज्ञान को और—

अन्तवन्त इमे देहानित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्वभारत । भगवद्गी० २।१८

नाश रहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा का यह सब शरीर नाशवान कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन तू युद्ध करो ॥१८॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह जीव किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह होकर के फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा नित्य शाश्वत और पुराना है। शरीर के नाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता है ॥२०॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानिगृह्णातिनरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को पहनता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होती है ॥२२॥ इन सब श्लोकों से जीवात्मा का नित्यत्व और शरीर के अनित्यत्व को उपदेश देकर अर्जुन के स्वातंत्र्य भ्रम को दूर करने के लिये—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ भगवद्गी० ७।४
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिंविद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्व और मूल प्रकृति ये आठ प्रकार के हमारे अचेतन शरीर है ॥४॥ जिस जीवरूप हमारे शरीर से जगत् धारण किया है वह अचेतन शरीर में श्रेष्ठ समझो ॥५॥ इन श्लोके के अनुसार चेतन और अचेतन दोनों का शरीरी होना व्यक्त होता है ।

सर्वस्यचाहं हृदि सन्निविष्टोमतःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । गी०१५।१५

और मैं सबके हृदय में वास करता हूँ । मुझ से ही स्मरण ज्ञान और अपोहन होते हैं ॥१५॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारुढानि मायया ॥ भगवद्गी० १८।६१

हे अर्जुन शरीररूप यंत्र में आरूढ़ हुए सब जीवों के अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियों के हृदय में स्थित है ॥६१॥ इस उक्त प्रकार से सर्वजन-हृदयस्थ प्रवृत्ति-निवृत्ति को करनारूप अपनी नियमनशक्ति को एवं सर्व नियन्ता और सबसे परे होकर रहते हैं और—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ भगवद्गी० ४।८

साधुओं की रक्षा करने के लिये तथा दुष्टों के विनाश करने के लिये और धर्म को स्थापन करने के लिये मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ ॥८॥ इस प्रकार अपने अवतार को और—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥ भगवद्गी ६।२६

सब प्राणियों के विषय में मैं समान हूँ। मुझको प्रिय और अप्रिय कोई नहीं है ॥२६॥ इससे समता को तथा—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ भगवद्गी० ३।२७

प्रकृति के सत्त्व, रज, तमों गुणों से किये जाने वाले सम्पूर्ण कर्मों के प्रति अहंकार से मोहित अन्तःकरणवाला पुरुष मैं करता हूँ ऐसा मानता है ॥२७॥ इस प्रकार अहंकार के दोष को और—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ भगवद्गी० २।६०

हे अर्जुन जिससे कि यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के भी मन का प्रमथन स्वभाववाली ये इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं ॥६०॥ इस प्रकार इन्द्रियों के प्राबल्य को तथा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥ भगवद्गी० ६।३०

हे अर्जुन चंचल मन को रोकना अशक्य है इसमें संशय नहीं है ॥३५॥ इससे मन को प्रबलता को दिखाया है और—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥ भगवद्गी० २।६१

उन इन्द्रियों और मन को रोककर हमारे विषय में लगाना चाहिए क्योंकि जिसके वश में इन्द्रियाँ हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६१॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ भगवद्गी० ६।२६

यह स्थिर न रहनेवाला और चंचल मन जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है, उससे रोककर आत्मा को वश में लाना

चाहिये ॥२६॥ इस प्रकार से बाह्य और आन्तर इन्द्रियों को अपने वश में लाने के प्रकार को तथा—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभः । भगवद्गी०७।१६

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन उत्तम कर्मवाले संकट निवारण के लिये भजनेवाला आर्त तथा भगवत् को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भजने वाला जिज्ञासु और सांसारिक पदार्थों के लिये भजनेवाला अर्थार्थी तथा ज्ञानी ये चार प्रकार के भक्तजन मुझ को भजते हैं ॥ १६ ॥ इस प्रकार से चार प्रकार के अधिकारियों को और—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च भगवद्गी०१६।६

हे अर्जुन इस लोक में प्राणियों का स्वभाव दो प्रकार का होता है एक तो देवों के जैसा और दूसरा असुरों के जसा ॥ ६ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता । भगवद्गी० १६।५

दैवी संपत्ति मोक्ष के लिये होती है और आसुरी सम्पति संसार के लिये होती है ॥५॥ इस प्रकार देवासुर त्रिभाग को तथा —

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतःकुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे । भगवद्गी० १०।१६

हे कुरुश्रेष्ठ अब मैं तेरे लिये अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है ॥ १६ ॥ ऐसा प्रारम्भ कर इस विभूति में समस्त पदार्थों का वाचक शब्द हममें पर्यवसान होते हैं इस प्रकार को और—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ भगवद्गी० ११।८

तेरे लिये अलौकिक दिव्य नेत्र देता हूँ उस नेत्र से तू मेरे ईश्वर के प्रभाव को और योगशक्ति को ॥ ८ ॥ इस तरह दिव्य नेत्र को देकर-

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगाँश्च दिव्यान् ॥

भगवद्गी० ११।५

हे देव आपके देह में सम्पूर्ण देवताओं को तथा समस्त प्राणी को और चतुर्मुख ब्रह्मा को तथा ब्रह्मा की गोद में बैठे हुए महादेव को तथा सम्पूर्ण ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूँ ॥ १५ ॥ इत्यादि से अपने विश्व रूप को दिखाकर और कहते हैं कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे । भगवद्गी० १८।६५

केवल मुझ में मन लगाओ, मेरा भक्त बनो, मेरी अराधना करो और मुझको नमस्कार करो । ऐसा करने से मुझ को ही प्राप्त करोगे यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ ५ ॥ इस प्रकार तथा—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ भगवद्गी० ७।१४

जो पुरुष केवल मेरी ही प्रपत्ति करते हैं, वे पुरुष इस माया को तरते हैं ॥ १४ ॥

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये । भगवद्गी० १६।४

उस आदि पुरुष नारायण को ही आश्रयण प्रपत्ति करता हूँ ॥४॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥ भगवद्गी० १८।६२

हे भारत सम्पूर्ण भाव से उस नारायण की ही शरण जाओ ॥६२॥ इस पूर्वोक्त प्रकार से जो अर्थ अर्जुन को नहीं मालूम था उस अज्ञात अर्थ को बताने से आचार्य के कृत्य को अपने ही श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है । और पुरुषकार कृत्य को भी अपने ही नारायण पांचरात्र में कहते हैं कि—

मत्प्राप्तिं प्रति जन्तूनां संसारे पततामधः ॥
लक्ष्मीः पुरुषकारत्वे निर्दिष्टा परमर्षिभिः ॥
ममापि च मतं ह्येतन्नान्यथा लक्षणं भवेत् ॥

संसार में अधःपतित प्राणियों को हमारी प्राप्ति के लिये लक्ष्मीजी पुरुषकार हैं, ऐसा महर्षियों ने कहा है । हमारा भी यही मत है और दूसरा इसका लक्षण नहीं है । इत्यादि से लक्ष्मी पुरुषकार है, इस बात को नारायण ही साक्षात् पांचरात्र में कहते हैं । और उपाय कृत्य को भी कहते हैं कि—

अहंमत्प्राप्त्युपायो वै साक्षाल्लक्ष्मीपतिः स्वयम् ॥

स्वयं लक्ष्मीपति मैं अपनी प्राप्ति के लिये उपाय हूँ । यह नारद पांचरात्र में लिखा है, और भगवद्गीता में लिखा है कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥भगवद्गी० १८।६६

मेरी प्राप्ति के लिये जितने धर्म मुझसे कहे गये हैं उन सब धर्मों को छोड़कर उपाय तथा उपेय स्वरूप सच्चिदानन्दघन जो केवल वासुदेव मैं हूँ उस मुझको उपाय समझ कर शरणगति करो । मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से छुड़ा दूँगा । तुम शोक मत करो ॥६६॥ इस पूर्वोक्त प्रमाण से ईश्वर के उपायकृत्य भी स्वतः स्वरूप सिद्ध हैं । इस तरह से सूत्रार्थ होने पर तो यह प्रश्न होता है कि आचार्य का क्या लक्षण है ? इस प्रश्न का उत्तर अद्वयतारकोपनिषद् में लिखा है कि—

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ।
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः ।
एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।
'गु'शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु शब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ अद्वयतार०

आचार्य वेद पढ़ा हो तथा विष्णु भगवान् का भक्त हो । मत्सर रहित हो । योग का जाननेवाला हो तथा योग में निष्ठा हो । वह सदा योगात्म हो और गुरु की भक्ति से संयुक्त जो हो तथा स्वस्वरूप को और पर स्वरूप को जानने वाला हो । इस प्रकार के लक्षण से संयुक्त जो हो उसको गुरु ऐसा कहते हैं । 'गु' कहते हैं अन्धकार को और 'रु' कहते हैं प्रकाश को, अन्धकार के दूर करने से गुरु ऐसा कहा जाता है । मनुस्मृति में लिखा है कि —

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ मनु० २।१४०

जो द्विज यज्ञोपवीत करके कल्प और उपनिषदादि सहित वेदों को

पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं ।।१४०।। इस सत्रहवें सूत्र से पुरुषकार और उपाय इन दोनों का असाधारण वैभव कहा है, अज्ञात अर्थों को पूर्णतया जनाकर आचार्यकृत्य, पुरुषकारकृत्य को आप ही अपने ऊपर आरोपण कर लेने से महाभारत में उपाय वैभव कहा गया है ।।१७।।

इतिश्रीवचनभूषणे पुरुषकारवैभवनाम प्रथमप्रकणे उपायवैभवः समाप्तः

अथ पुरुषकारवैभवनाम प्रथमप्रकरणे उभयसाधारणवैभवः ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी पुरुषकार और उपाय इन दोनों के साधारण वैभव को कहते हैं कि—

पुरुषकारस्योपायस्य च वैभवोनामदोषंगुणहानिं च दृष्ट्वा अनुपेक्षणमात्रं विनांगीकारस्य तयोरेवोपदात्वेन स्वीकारः॥

॥१८॥

अर्थः—(पुरुषकारस्य) पुरुषकार के (च) और (उपायस्य) उपाय के (वैभवः) वैभव (नाम) किसको कहते कि (दोषम्) अकृत्य करणादिक निषिद्धानुष्ठानरूप जीव के दोष को (च) और (गुणहानिम्) विहितको न करना रूप जीव के गुण और हानि को (दृष्ट्वा) देखकर (अनुपेक्षणमात्रं विना) उपेक्षा न करके (अंगीकारस्य) अंगीकार करने के लिये (तयोः) चेतन के दोष और गुणहानि को (एव) निश्चय करके (उपदात्वेन) भेंट समझकर (स्वीकारः) स्वीकार करना। उपेक्षा न करने में हेतु दया और क्षमा है। भेंट समझने में हेतु वात्सल्य गुण है। गोमूत्रादि लगे हुये स्थल में घास न खानेवाली गौ अपने पैदा हुए बच्चे के उपर के मल को भोगतया जैसे चाटती है वैसे ही आश्रितों के दोष को श्रीमन्नारायण भगवान् भोग्यत्वेन स्वीकार करते हैं। इसी से कहते हैं कि पुरुषकार और उपाय का वैभव माने दोष और गुण हानि को देख उपेक्षा न कर अंगीकार करने के लिए उनको ही भेंट मानना ।।१८।।

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि पुरुषकार और उपाय के दोष तथा गुण हानि के रहते हुए अंगीकार क्यों करते हैं? वे दोनों निवृत्ति होने पर ही अंगीकार करेंगे ऐसा समझकर रहेंगे तो कौन दोष होगा?

उभयमप्युभयमपि निवृत्तं स्यादिति तिष्ठति यदि-उभयोरप्युभयमपि प्रसज्येत् ॥१६॥

अर्थ—(उभयम्) पुरुषकार और उपाय ये दोनों (अपि) भी (उभयम्) चेतन के दोष और गुण हानि ये दोनों (अपि) भी (निवृतम्) निवृत्त (स्यात्) हो जायें (इति) ऐसा (तिष्ठति) ठहरने पर (यदि) तो (उभयोः) पुरुषकार और उपाय इन दोनों के (अपि) भी (उभयम्) दोष और गुण हानि ये दोनों (अपि) भी (प्रसज्येत्) हो जायेंगे। दोष का होना यह है कि

सकलभुवनमाता संततं श्रीःश्रियै नः ॥ सौभाग्यलक्ष्म्युपनि० मं० १॥

संपूर्णभुवन की माता श्रीदेवी सर्वदा हम सबों की श्रीके लिये होवें ॥१॥

और

पितासिलोकस्य चराचरस्य । भगवद्गी० १।४३

आप इस चर अचर संसार के पिता हैं ॥४३॥ इन प्रमाणों से निरुपाधिक माता पिता होने पर भी इस चेतन के दोष को देखकर अङ्गीकार न करने से तादृश सम्बन्ध की हानि होना और गुण हानि होना यह है कि वात्सल्य गुण होते हुए इस चेतन के दुःख को देखकर दया नहीं करना। इसी को कहते हैं कि दोनों-दोनों निवृत हो ऐसा मानने पर दोनों को दोनों होंगे ॥१६॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि चेतन दोषादि न होने से ही परमात्मा मुझको स्वीकार किये हैं ऐसा माने तो इस चेतन को दोष और गुण-हानि ये दोनों होंगे।

उभयमपि निवृत्तमिति स्थितावस्योभयमपि प्रसज्येत् ॥२०॥

अर्थ—(उभयम्) दोष और गुण-हानि ये दोनों (अपि) भी (निवृत्तम्) मेरे दूर हो गये हैं (इति) इस प्रकार की (स्थितौ) स्थिति होने पर तो (अस्य) इस जीवात्मा के (उभयम्) दोष और गुण-हानि ये दोनों (अपि) भी प्रसज्येत्) होंगे। इसी को कहते हैं कि दोनों निवृत हुए ऐसा माने तो इस चेतन को दोनों होते हैं ॥२०॥

राक्षसीनां दोषः प्रसिद्धः ॥२१॥

अर्थ—(राक्षसीनाम्) एक जटा, हरिजटा, विकटा, दुर्मुखी, विनता, चंडोदरी, प्रघसा, अजामुखी, एकाक्षी, एक कर्णी, इत्यादि राक्षसियों का (दोषः) दोष (प्रसिद्धः) है। वाल्मीकि रामायण के सुन्दर-काण्ड के तेइसवें और चौबीसवें सर्ग में यह लिखा है कि राक्षसियों ने श्रीअम्बाजी को अनेक प्रकार की पीड़ा दी है। यह दोष राक्षसियों का प्रसिद्ध है तो भी रावण के वध होने के बाद हनुमानजी राक्षसियों का वित्रवध करने के लिए तैयार हुए तब श्रीअम्बाजी ने राक्षसियों के दोष को भेंट मान उन सबों का बध नहीं करने दिया है। इस बात को श्रीपराशर भट्टाचार्य भी कहते हैं कि—

मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयितदैवार्द्रापराधास्त्वया रक्षंत्या पवनात्-मजाल्लघुतरारामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्यु-क्तिक्षमौ रक्षतः सानः सान्द्रमहागसः सुखयतुक्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥

हे मातः! हे मैथिलि! तत्कालिक अपराधी राक्षसियों को हनुमान जी से रक्षा करानेवाली आपकी कृपा की अपेक्षा शरणागत जयन्त कौए को और विभीषण को रक्षा करने वाले श्रीरामजी को दया लघु होती है वह आपकी निर्हेतु कृपा अत्यन्त महापापी मादृश जानों को सुखी करे। इसीसे कहते हैं कि—राक्षसियों के दोष प्रसिद्ध हैं ॥२१॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते है कि राक्षसियों की तरह अर्जुन में दोष नहीं है और गुण भरे हैं, तो भी अर्जुन में दोष है।

जितेन्द्रियेषु मस्तकस्यास्तिकाग्रेसरस्य'केशवस्यात्मा'इति कृष्णस्य धारकस्यार्जुनस्य दोषः कः इतिचेत् ॥२२॥

अर्थ—(जितेन्द्रियेषु) इन्द्रियों को जीतनेवालों में (मस्तकस्य) प्रधान तथा (आस्तिकाग्रेसरस्य) धर्म, अधर्म, परलोक, चेतन, ईश्वर आदि के प्रतिपादक शास्त्रों के प्रमाण माननेवालों में प्रधान और (केशवस्य) केशव भगवान् की (आत्मा) आत्मा (इति) ऐसा श्रीकृष्ण भगवान् का (धारकस्य) धारक (अर्जुनस्य) अर्जुन का (दोषः) दोष (कः) क्या है (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर आगे के सूत्र में लिखा है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इन्द्रियों को जीतने वालों में प्रधान अर्जुन है इसका क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत

के वनपर्व के छियालिसवें अध्याय में लिखा है कि अति सौन्दर्यवती उर्वशी ने रात्रि में अर्जुन के पास जाकर कहा कि—

तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिन्दम् ॥ महा०व०प० ४६।३४
त्वद्गुणाकृष्टचित्ताहमनंगवशमागता ।
चिराभिलषितो वीर ममाप्येषः मनोरथः ॥ ३५॥

हे शत्रुओं के दमन करनेवाले वीर आपके गुणों से आकृष्ट चित्तवाली तथा काम के वश में हुई मैं एकान्त सेवा करने के लिये आपके पास आई हूँ, यही बहुत दिनों का अभिलषित मेरा मनोरथ है ॥ ३४।३४ ॥ इस प्रकार अनेक बार उर्वशी के प्रार्थना करने पर अर्जुन ने कहा है कि—

यथाकुंती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंश जननी त्व हि मेऽद्यगरीयसी ॥महा०व०प०४६।४६
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया

ऐ पाप रहित उर्वशी जैसे कुन्ती तथा माद्री और इन्द्राणी मेरी माता हैं वैसे ही तुम भी मेरे वंश की माता गरीयसी हो ॥ ४६ ॥ इससे यहाँ से तुम चली जाओ। मैं मस्तक से तेरे चरणों को प्रणाम करता हूँ तू मेरी माता के समान पूजा करने योग्य हो और मैं पुत्र के तुल्य तेरे द्वारा रक्षा किये जाने योग्य हूँ ॥४७॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट मालूम होता है कि इन्द्रिय की जय करने वालों में अर्जुन से अधिक कोई नहीं है। इस प्रकार से पहले प्रश्न का उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि आस्तिकों में अग्रसर अर्जुन है इसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवद्गीता में लिखा है कि

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ भगवद्गी० १८।६४

मेरा अत्यन्त प्रिय हो इससे परम हितकारक वचन मैं तेरे लिए कहूँगा ॥६४॥ और भी लिखा है कि—

प्रियोऽसि मे ॥ भगवद्गी० १८।६५

मेरा अत्यन्त प्रिय तुम हो ॥६५॥ इस वचन के अनुसार अत्यन्त प्रिय अर्जुन मालूम होते हैं और बिना आस्तिकों में अग्रसर हुए भगवान

के अत्यन्त प्रिय हो नहीं सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन आस्तिकों में अग्रसर है। इस प्रकार से दूसरे प्रश्न के उत्तर होने पर तो अन्तिम तीसरा प्रश्न होता है कि केशव की आत्मा अर्जुन हैं इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि—

अर्जुनः केशवस्यात्मा कृष्णश्चात्मा किरीटिनः ॥

अर्जुन केशव की आत्मा हैं और श्रीकृष्ण अर्जुन की आत्मा है॥ यह वचन प्रमाण है और भी लिखा है कि—

योऽहंतमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनःसोऽहमेवतु ॥ महा० मौ० प० ६।२१

जो मैं हूँ उसी को तुम अर्जुन जानो श्रीकृष्ण जानो ॥२१॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट साबित होता है कि केशव की आत्मा अर्जुन हैं। इसी से शंका की गयी कि जितेन्द्रियों में प्रधान, आस्तिकाग्रेसर, केशव की आत्मा, ऐसे अर्जुन का जो श्रीकृष्ण के धारक हैं, उनका कौन सा दोष है ॥२२॥

अबलोकाचार्य स्वामीजी अर्जुन के दोषों को कहते हैं कि—

बंधुषु स्नेहः कारुण्यं वधभीतिश्च ॥२३॥

अर्थ!—बिना समय के बाण छोड़ने के समय में (बन्धुषु) बन्धुओं के ऊपर (स्नेहः) स्नेह तथा (कारुण्यम्) करुणा (च) और (वधभीतिः) स्ववर्ण धर्म रूप वध में अधर्म बुद्धि से की हुई वध भीति ये अर्जुन के दोष हैं, क्योंकि लिखा है कि—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव ॥ भगवद्गी० १।१

धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से मेरे और पाण्डु के पुत्र सब इकट्ठे हुये ॥१॥ तो उस समय में युद्ध करना आवश्यक होने पर भी—

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ भगवद्गी० १।३२
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वाधनानि च ॥३३॥

हे कृष्ण भगवन् ! मैं विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता। हे गोविन्द ! मुझे राज्य से क्या प्रयोजन है ? अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है ॥३२॥ हमें जिनके लिए राज्य भोग और सुखादि इच्छित है वे ही ये सब धन और प्राणों को छोड़कर युद्ध में खड़े हैं ॥३३॥ इस तरह अपने बंधुओं को मार कर हम कैसे जी सकते हैं ऐसा बन्धुओं के ऊपर बिना समय का स्नेह करना अपने क्षत्रिय धर्म के विरूद्ध होने से दोष है, और—

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ भगवद्गी० १।२७

उन खड़े हुये सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर वह अत्यंत करुणा से युक्त हुआ अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला ॥२७॥ इस प्रकार से युद्ध के समय में करुणा करना क्षत्रिय धर्म से विरुद्ध अर्जुन का दोष है और—

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ भगवद्गी० १ ३९

हे जनार्दन ! कुल के नाश करने से होनेवाले दोषों को जाननेवाले हमलोगों को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ॥३९॥ इस प्रकार से प्रारंभ करके ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ भगवद्गी० १।४५

यह खेद की बात है कि हमलोग महान पाप करने के लिए तैयार हुये हैं जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए तैयार हैं ॥४५॥ इस श्लोक पर्यन्त स्ववर्णधर्म रूप धर्म में अधर्म बुद्धि से की हुई भीति भी अर्जुन का दोष हे। इसीसे कहते हैं कि— बन्धुओं के ऊपर स्नेह, तथा करुणा और अध-भीति ये तीन अर्जुन के अप्रधान दोष है ॥२३॥ अब श्रीवचनभूषणकार अर्जुन के प्रधान दोष को कहते हैं कि—

द्रौपदीपरिभवं दृष्ट्वा स्थितिः कृष्णाभिप्रायेण प्रधानदोषः ॥२४॥

अर्थ—सभा में (द्रौपदीपरिभवम्) द्रौपदी के वस्त्राकर्षण रूपी अनादर को (दृष्ट्वा) देखकर (स्थितिः) ठहरे रहना (कृष्णाभिप्रायेण) श्रीकृष्ण भगवान् के अभिप्राय से (प्रधानदोषः) प्रधान दोष अर्जुन का है। क्योंकि भगवदाश्रितों का अन्य लोग कर्तृक परिभव को देखकर समर्थ हो तो रोकना चाहिए और असमर्थ हो तो वहाँ से हट जाना चाहिये। नहीं तो भागवतापचाररूप प्रधान दोष होता है। इसी से कहते हैं कि--द्रौपदी के परिभव को देखते रहना श्रीकृष्ण भगवान् के अभिप्राय से प्रधान दोष है ॥ २४ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी भागवतापचाररूप दोष की प्रधानता को प्रतिपादन करते हैं कि—

पाण्डवानां च निरस्सनस्य प्राप्तौ स्थापनं द्रौपदीमंगलसूत्रार्थम् ॥२५॥

अर्थ—द्रौपदी को परिभव करनेवाले दुर्योधनादिकों के समान उसके परिभव देखकर ठहरनेवाले (पांडवानाम्) युधिष्ठिर, भीम अर्जुन, नकुल, सहदेव इन पांडवों का (च) भी (निरस्सनस्य) शिरश्छेदनरूप निरसनका (प्राप्तौ) प्राप्ति होने पर (स्थापनम्) पांडवों की रक्षा करना (द्रौपदीमंगलसूत्रार्थम्) द्रौपदी के मंगल सूत्र के लिए है। अर्थात् जिसमें द्रौपदी विधवा न होवे इसलिये है। इसीसे कहते हैं कि—पांडवों को भी निरसन करना उचित होने पर भी उनकी रक्षा करना द्रौपदी के मंगल-सूत्र के लिए है ॥ २५ ॥

अब जगदाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि मारने योग्य अर्जुन का सारथी बनकर श्री कृष्ण भगवान् परम रहस्यमय प्रपत्तिका उपदेश क्यों करते हैं।

अर्जुनस्य दौत्यसारथ्यकरणं प्रपत्त्युपदेशकरणं चैतदर्थम् ॥२६॥

अर्थ—(अर्जुनस्य) अर्जुनके(दौत्यसारथ्यकरणम्)दूत का काम करना

तथा सारथि का काम करना (च) और (प्रपत्त्युपदेशकरणम्) प्रपत्ति का उपदेश करना (एतदर्थम्) शरणागता द्रौपदी के संकल्पानुसार दुर्योधनादिकों को नाश करके द्रौपदी के केशको बाँधने के लिए है। अब यहाँ पर पहला प्रश्न होता हैं कि दूत का काम श्रीकृष्ण भगवान ने किया है इसका क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत के उद्योग पर्व में लिखा है कि—

अस्मान्वेत्थपरान्वेत्थार्थान्वेत्थ भाषितुम् ।
यद्यदस्मद्धितं कृष्ण तत्तद्ब्रूयःसुयोधनः । महाभा०उ०प०५।७२।६२

हम सबों को जानते हो, शत्रुओं को जानते हो, अर्थ को जानते हो, भाषण करने को जानते हो, हे श्रीकृष्ण भगवान् जो जो हमारा हित हो वही सुयोधन से कहना ॥६२॥ इससे प्रमाणित होता है कि दूत का काम श्रीकृष्ण भगवान् ने किया है। और भी लिखा है कि—

कृतार्था भुंजते दूतः पूजां गृह्णन्ति चैव हि ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समचिष्यसि भारत ॥ महा०उ०प० ५।६१।१८

श्रीकृष्ण भगवान् ने सुयोधन से कहा है कि हे भारत ! अपना काम करके दूत सब भोजन करते हैं और सत्कार को ग्रहण करते हैं। इससे जब मेरा काम हो जायेगा तब अमात्य के साथ दूत मुझको तू सत्कार करना ॥१८॥ इससे स्पष्ट साबित होता है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन का दौत्य किया है। इस प्रकार से पहले प्रश्न का उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि सारथि का काम श्रीकृष्ण भगवान् ने किया है इसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

उपयन्नमिदंपार्थ यत्स्पर्धसिमयासह ।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः संपद्यतां तव ॥ महा०उ०प० ५।७।३८

हे अर्जुन तुमने यह ठीक ही किया मुझको सारथी बना करके युद्ध की इच्छा को इसमें तेरे सारथि के कामों को मैं करूँगा। ऐसा कहने पर भीष्म पर्व में अर्जुन ने कहा है कि—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ भगवद्गी० १।२१

हे अच्युत भगवन् ! दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कीजिये ॥ २१ ॥ और भी लिखा है कि—

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् । भगवद्गी० १।२४

श्रीकृष्ण भगवानने दोनोंसेनाओं के बीच में उत्तम रथ को खड़ा करके ॥२४॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि अर्जुन के सारथि का काम श्रीकृष्ण भगवान ने किया है। इस प्रकार से दूसरे प्रश्न का उत्तर होने पर तीसरा अन्तिम प्रश्न होता है कि श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन का प्रपत्ति का उपदेश दिया है इसका क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर भी इस पर्व में लिखा है कि—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः । भगवद्गी० १८ ६४

सम्पूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय परम रहस्य युक्त वचन को तुम फिर भी सुनो ॥६४॥ ऐसा कहकर श्रीकृष्ण भगवान ने पैसठवें और छासठवें श्लोकों में प्रपत्ति का उपदेश किया है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को प्रपत्ति का उपदेश किया है। पूर्वोक्त दौत्य तथा सारथ्य और प्रपत्युपदेश ये तीनों द्रौपदी के लिये हैं। इसीसे कहते हैं कि— अर्जुन को दौत्य सारथ्यकर प्रपत्युपदेश करना द्रौपदी के लिये है ॥२६॥

॥ इति श्रीवचनभूषणे पुरुषकारवैभव नाम प्रथमप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ अथ उपायवैभव नाम द्वितीयप्रकरणम् ॥

अब श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी—

प्रपत्तेर्देशनियमः कालनियमोऽधिकारिनियमः
फलनियमश्च नास्ति ॥ श्रीवचनभू० सू० २७ ॥

इस सूत्र से लेकर ॥

एकांतीव्यपदेष्टव्यः ॥ श्रीवचनभू० सू० ८४ ॥

इस सूत्र पर्यन्त अठावन सूत्रों में उपाय वैभवनाम के द्वितीय प्रकरण को कहते हैं, जिसमें प्रपत्ति के प्रकार को विस्तार पूर्वक कहते हुये प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि प्रपत्तिका देशकाल आदि का नियम नहीं है।

प्रपत्तेर्देशनियमः कालनियमोऽधिकारिनियमः
फलनियमश्चनास्ति ॥२७॥

सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥१॥

अर्थः—(प्रपत्तेः) भगवान् को उपायतया स्वीकार रूप प्रपत्तिका (देशनियमः) पवित्र देश में करना अन्य देशों में नहीं करना यह देश नियम (कालनियमः) वसंतादिक कालों में करना और कालों में नहीं करना यह काल नियम तथा (अधिकारि नियमः) द्विजन्मा कर सकते हैं और अन्य संस्कार रहित नहीं कर सकते हैं यह अधिकारी नियम और (फलनियमः) दृष्टा-दृष्ट फलों में अमुक फल का साधन होना और फल का साधन नहीं होना यह फल नियम और (च) चकार से स्नान पद-प्रक्षालन पूर्वक करना अन्य प्रकार से नहीं करना यह प्रकार नियम (न) नहीं (अस्ति) है। क्योंकि भारद्वाज संहिता में लिखा है कि—

न जातिभेद न कुलं नलिंग न गुणक्रियाः । न देशकालौ नावस्था योगोह्ययमपेक्षते ब्रह्मक्षत्रविशःशूद्राः स्त्रियश्चान्तरजातयः सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम् ॥ भारद्वाज संहिता ॥

यह प्रपत्ति जाति भेद, कुल, आश्रम, शमदमादि, कर्मानुष्ठान, देश काल और अवस्थाओं को नहीं चाहती है ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और अवान्तर जाति, ये सभी सृष्टिकर्ता नारायण भगवान की प्रपत्ति कर सकते हैं ॥ पुनः सनत्कुमार संहिता में लिखा है कि—

प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं परापेक्षा न विद्यते सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा । सनत्कुमारसंहिता० ॥

प्रपत्तिका कही पर भी और उपायों की तरह अन्य की तरह अन्यकी अपेक्षा नहीं है। प्रपत्ति सब देश में सब काल में सब लोगों को सर्वाभीष्ट फल देती है ॥ इसी से कहते हैं कि—प्रपत्ति का देश नियम, काल नियम, प्रकार नियम, अधिकार नियम और फल नियम भी नहीं है ॥२७॥

विषयनियम एवास्ति ॥२८॥

अर्थ—प्रपत्ति के (विषयनियम.) विषय का नियम अर्थात् अमुक विषय में कर्त्तव्य ऐसा नियम (एव) ही निश्चय करके (अस्ति) है।

इसीसे कहते हैं कि—विषय नियम ही है ॥२८॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि यदि प्रपत्ति के ये सब नियम नहीं हैं तो और किसके ये सब नियम हैं।

कर्मणः पुण्यक्षेत्रं वसन्तादिकालः शास्त्रोक्तास्तत्तत्प्रकारास्त्रैवर्णिका इत्येते सर्वे व्यवस्थिताः ॥ २९ ॥

अर्थ—(कर्मणः) ज्योतिष्टोमयज्ञादि कर्म का (पुण्यक्षेत्रम्) शास्त्रों में पवित्रतया कहे हुए देश (वसंतादिकाल.) वसंत आदि शब्द से ग्रीष्म, शरद्, शुक्ल पक्ष, पूर्वाह्ण आदि काल और (शास्त्रोक्तः) शास्त्र से कहे हुए (तत्तत्प्रकाराः) शौच, स्नान, आचमन, व्रत, जप आदि तत्तत्प्रकार और (त्रैवर्णिकाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये त्रैवर्णिक (इति) ऐसा (एते) ये (सर्वे) सब (व्यवस्थिताः) व्यवस्थित हैं। अर्थात् नियम से करने योग्य हैं। इसी से कहते हैं कि कर्मका पुण्यक्षेत्र वसंतादि काल, शास्त्रोक्त तत्तत्प्रकार और त्रैवर्णिक ऐसा ये सब व्यवस्थित हैं ॥ २९ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी प्रपत्ति के विषय में पहले देश और काल के नियमाभाव को कहते हैं कि—

"स एष देशः कालश्च" इत्युक्तत्वादस्या देशकालनियमो नास्ति ॥ ३० ॥

अर्थ—(सः) वही (एषः) यह (देशः) देश है (च) और (कालः) काल (इति) ऐसा (उक्तत्वात्) वाल्मीकि रामायण युद्ध कांड के सतरहवें सर्गके सतावनवें श्लोक में कहने से (अस्याः) इस प्रपत्ति का (देशकालनियमः) पुण्य देश और वसंतादि काल का नियम (न) नहीं (अस्ति) है। अर्थात् श्रीरामजी की शरणागति करने के लिये जब विभीषण आये तब जांबवान् ने कहा कि—

वद्धवैराच्च पापाच्च राक्षसेन्द्राद्विभीषणः ॥ अदेशकाले संप्राप्तः सर्वथा शंक्यतामयम् ।वाल्मी० रामा० युद्धकां० ६ सर्ग १७ श्लो० ४६ ॥

वैर करनेवाले पापी रावण के यहाँ से विभीषण अदेश और असमय में प्राप्त हुआ है इसलिये सर्वथा यह संदेह करने योग्य है ॥ ६४ ॥ इस बात को सुनकर, श्रीरामजी से हनूमानजी कहते हैं कि—

अदेशकाले संप्राप्त इत्ययं यद्विभीषणः । विवक्षा तत्र मेऽस्तीयं ता न्निबोधयथामति ॥ वाल्मीकि रा०युद्धकां०६सर्ग० १७ श्लो० ५६। स एषदेशः कालश्च भवतीह यथातथा । पुरुषात्पुरुषं प्राप्य तथा दोषगुणावपि । ५७ । दौरात्म्यं रावणे दृष्ट्वा विक्रमं च तथा त्वयि। युक्तमागमनंतस्य सदृशं तस्यबुद्धितः ॥ ५८ ॥

यह विभीषण अदेश और अकाल में प्राप्त हुआ है इस विषय में मुझे कुछ कहने की इच्छा है उसको आप सुनिये ॥५६॥ जैसे वही देश और वही काल होता है। वैसे पुरुष से दूसरे पुरुष को प्राप्त हो दोष और गुण होते हैं ॥५७॥ रावण में दोष को देखकर और आपमें पराक्रम को देखकर विभीषण का यहाँ आना उचित है और उसकी बुद्धि के अनुगुण भी है ॥५८॥ इस प्रकार के शरणागति-धर्म को जाननेवाले हनुमानजी के निर्णय करने से मालूम होता है कि प्रपत्ति को देश और काल का नियम नहीं है। इसीसे कहते हैं कि वही यह देश और काल है ऐसा कहने से इसको देश और काल का नियम नहीं है ॥३०॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि देश कालादि के नियमाभाव प्रपत्ति के विषय में है, यह अर्थ द्वयमन्त्र के पहले पद में देख सकते हैं।

अयमर्थो मंत्ररत्ने प्रथमपदे द्रष्टव्यः ॥३१॥

अर्थ—(अयम्) देश और काल के नियम का अभावरूप यह (अर्थः) अर्थ (मन्त्ररत्ने) सब उपनिषदों का सार शीघ्र फल देनेवाले सर्वेश्वर के अभिमत सब मंत्रों में उत्कृष्ट द्वयमंत्र के (प्रथमपदे) पहले पद में (द्रष्टव्यः) देखने योग्य है अर्थात् स्पष्ट है। इस सूत्र से कहने का तात्पर्य यह है कि 'श्रीमन्नारायण चरणौ'। यह जो मंत्ररत्न द्वयमत्र का पहला पद है उसमें मतुबर्थ पुरुषकार और उपाय के नित्य सम्बन्ध का प्रयोजन यह है कि किसी देश, किसी काल में, किसी संसारी चेतन को भगवत्स-माश्रयण की रुचि उत्पन्न हो तो उसी देश और उसी काल में भगवत् की शरणागति करनी चाहिये नहीं तो—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ॥ भगवद्गी० ६।३४

हे कृष्ण भगवान यह मन बड़ा चंचल है ॥ ३४ ॥ इस भगवद्गीता के पद के अनुसार भगवत् के समाश्रयण से यह मन हट जायेगा। इससे पहले पद से यह स्पष्ट मालूम होता है कि प्रपत्ति को देश और काल के नियम का अभाव है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि द्वयमंत्र में कितने अक्षर और कितने पद हैं और द्वयमंत्र, मंत्ररत्न है, इस में क्या प्रमाण है। इस प्रश्न का उत्तर लिखा है कि—

पंचविंशाक्षरोमंत्रं पदैः षड्भिः समन्वितम्।
वाक्यद्वयपरंमंत्रं ज्ञेयं रत्नमनुत्तमम्। हारीत° ।

द्वयमंत्र में पच्चीस अक्षर हैं और छः पद हैं तथा दो खण्ड हैं और सब मंत्रों से श्रेष्ठ होने से इसका मन्त्ररत्न नाम है। यह पराशरीय धर्मशास्त्र के उत्तर खण्ड में लिखा है। पद्मपुराण के ब्रह्म नारायण संवाद में लिखा है कि—

द्वयेन मंत्ररत्नेन मत्प्रियेण भजेत्सदा ॥

मेरा प्रिय मन्त्ररत्न जो द्वयमंत्र है उससे सर्वदा मेरा भजन करे। और इस मंत्र को त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् में कहा है कि—

श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते नारायणाय नमः ॥
॥ त्रिपाद्वि भू० अ० ७। मं० शरणाग० ॥

यही मन्त्ररत्न द्वयमन्त्र है। इस प्रकार के पहले प्रश्न के उत्तर होने पर तो दूसरा यह प्रश्न होता है कि इस सूत्र में पद किसको कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि पाणिनिने दिया है कि—

सुप्तिङन्तंपदम् ॥ व्या० अ० १ पा० ४ सू० १४ ॥

सुबन्त और तिङन्त को पद संज्ञा होती है ॥१४॥ पूर्वोक्त प्रकार से ईकतिसवें सूत्र का यह भाव है कि मन्त्ररत्न जो द्वयमन्त्र है उसका जो "श्रीमन्नारायणचरणौ" यह पहला पद है उस पद में श्री शब्द से—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संबन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्तिमतुबादयः ॥

इस महाभाष्य की कारिका द्वारा नित्य योग में ॥

तदस्यास्त्यस्मिन्नितिमतुप् ॥ व्या० अ० ५ पा० २ सू० ९४ ।

इस सूत्र से मतुप् प्रत्यय होता है। इससे प्रपत्ति का देश और कालके नियम का अभाव सिद्ध होता है। इसीसे कहते हैं कि यह अर्थ मन्त्ररत्न के पहले पद में स्पष्ट है।

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि प्रपत्ति के प्रकार के नियम का अभाव है।

प्रकारनियतिर्नास्ति इत्यर्थः सर्वत्र द्रष्टुं शक्यते ॥३२॥

अर्थ—प्रपत्ति में (प्रकारनियतिः) प्रकार का नियम (न) नहीं (अस्ति) है (इति) ऐसा अर्थ (सर्वत्र) प्रपत्ति करने वाले और सुननेवाले सब लोगों में (द्रष्टुम्) देख (शक्यते) सकते हैं। अर्थात् प्रकार नियमाभाव को सर्वत्र देख सकते हैं ॥ ३२ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी ने प्रकार नियमाभाव कहाँ पर देखा है, इसको कहते हैं कि—

द्रौपदी स्नाता न खलु प्रपत्तिमकरोत्, अर्जुनो नीचमध्येऽमुमर्थमश्रृणोत् ॥३३॥

अर्थ—(द्रौपदी रजस्वला द्रौपदी ने (स्नाता) स्नान करके (न) नहीं (खलु) निश्चय करके (प्रपत्तिम्) प्रपत्तिको (अकरोत्) किया है (अर्जुनः) और अर्जुन ने(नीचमध्ये) नीच आततायियों के बीच में(अमुम्) इस प्रपत्ति रूप (अर्थम्) अर्थको (अश्रृणोत्) सुना है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि बिना स्नान किये द्रौपदी ने प्रपत्ति की है इसमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत के सभापर्व में लिखा है कि—

सा कृष्यमाणा नमितांगयष्टिः शनैरुवाचाथ रजस्वलाऽस्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नार्हसिमामनार्य ॥
॥ महाभा० सभापर्व० २ अ० ६७ श्लो० ३२ ॥

दुःशासन के खीचने से नत शरीरवाली द्रौपदी ने धीरे से कहा कि मैं रजस्वला और एक वस्त्रवाली हूँ, इससे हे मन्दबुद्धे ! अनार्य । तुम मुझको सभा में लेजाने के योग्य नहीं हो ॥ ३२ ॥ इससे साबित होता

है कि द्रौपदी रजस्वला थी। उसने स्नान नहीं किया था, उसी समय में प्रपत्ति की है—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥

॥ महाभा० सभाप० २ अ० ६८ श्लो० ४१॥

कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव हे नाथ हे रमानाथ
व्रजनाथार्तिनाशन। कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ।४२॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गो वन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ ४३ ॥

हे गोविन्द! हे द्वारिका वासिन्! हे कृष्ण! हे गोपीजन प्रिय ॥४१॥ हे केशव! कौरवों की सभा में नंगी की जानेवाली मुझको आप नहीं जानते हैं! हे नाथ! हे रमानाथ! हे ब्रजनाथ! हे आर्तिनाशन! हे जनार्दन! कौरव रूपी समुद्र में डूबती हुई मुझको उद्धार कीजिये ॥ ४२ ॥ हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगिन्! हे विश्वात्मन्! हे विश्वभावन्! हे गोविन्द! कुरुओं के बीच में नंगी की जानेवाली मुझको बहुत सा वस्त्र समर्पण करके रक्षा कीजिए ॥ ४३ ॥ इससे साबित हो गया कि विना स्नान किये हुए द्रौपदी ने प्रपत्ति की है। तथैव भगवद्विमुख नीच दुर्योधनादि आततायियों के बीच में अर्जुन ने—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ भगवद्गी० १८।६६

इस प्रपत्ति को सुना है। इससे मालुम होता है कि प्रपत्ति का श्रवण नीचों के बीच में नहीं करना चाहिये, इस नियम का अभाव है। इससे कहते हैं कि-द्रौपदी ने स्नान करके प्रपत्ति नहीं की है और अर्जुन ने नीचों के बीच में इस प्रपत्तिरूप अर्थ को सुना है॥ ३३ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार इसका प्रयोजन कहते हुये इस अर्थ को समाप्त करते हैं कि—

तस्माच्छुद्ध_यशुद्धी उभे अपि न संपाद्ये, स्थितप्रकारेणैवाधिकारी भवति ॥ ३४ ॥

अर्थ—(१) (तस्मात्) इससे प्रपत्ति के अनुष्ठान समय में और सुनने के समय में ये दोनों द्रौपदी तथा अर्जुन को ऐसा करने से (शुद्ध-यशुद्धो) शुद्धि और अशुद्धि (उभे) ये दोनों (अपि) भी (न) नहीं (संपाद्य) देखना अर्थात् प्रपत्ति के समय अशुद्ध को शुद्धि की अपेक्षा नहीं करना और शुद्ध को अशुद्धि की अपेक्षा नहीं करना (स्थितप्रकारेण) स्थित प्रकार से (एव) निश्चय करके (अधिकारी) प्रपत्ति का अधिकारी (भवति) होता है। अर्थात् प्रपति समय में अशुद्ध या शुद्ध जैसा हो वैसा ही प्रपत्ति का अधिकार होता है। इसीसे कहते हैं कि —इस कारण शुद्ध और अशुद्ध नहीं देखना स्थिति प्रकार से अधिकारी होता है ॥३४॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी पूर्वोक्त अर्थ के विषय में यथार्थ वक्ता के वचन को स्मरण कराते हैं।

अत्र वेल्लेट्टिप्पिल्वे इत्यस्य कलिवैरिदासोक्ता वार्ता स्मर्तव्या ॥३५॥

अर्थ—'अत्र' इस प्रपति के विषय में (वेल्वेट्टिप्पिल्लै) वेल्वेट्टिप्पिल्लै नाम वाले [इति] इस (अस्य) महात्मा के प्रति (कलिवैरिदासोक्ता) कलिवैरि स्वामीजी की कही (वार्ता) वार्ता (स्मर्तव्या) स्मरण करने योग्य है। वह वार्ता ऐसी है, वेल्वेटिप्पिल्लै नाम वाले महात्मा कलिवैरि स्वामीजी सेपूछते हैं कि, हे स्वामिन् श्रीरामजी समुद्र की शरण लेने पर-

ततः सागरवेलायां दर्भानास्तीर्य राघवः।
अंजलिं प्राङ्मुखः कृत्वा प्रतिशिश्ये महोदधेः॥ वाल्मीकि रा० युद्धकां० ६ स० २१ श्लोक १॥

इसके बाद श्रीरामजी ने समुद्र के तट पर कुशों को डसा करके अंजलि पूरब मुँह करके शयन किया ॥१॥ इन नियमों के साथ शरणागति की है। इससे ज्ञात होता है कि कर्मादि उपायों की तरह प्रपत्ति को भी किसी नियम की अपेक्षा है? ऐसा पूछनेपर कलिवैरि स्वामीजी कहते हैं कि श्रीरामजी में देखे हुए नियम इस प्रपत्ति का स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु प्रपत्ति करनेवाले श्रीरामजी के स्वभाव से आया है। श्रीरामजी को विभीषण कहते हैं कि—

समुद्रं राघवो राजा शरणं गतुमर्हति ॥ वाल्मीकि रा० का० स० १९ श्लोक ३० ।

राघव राजा समुद्र की शरणागति करें ॥३०॥ ऐसा उपदेश देनेवाले विभीषण श्रीरामजी की शरणागति करने के समय समुद्र में स्नान करके नहीं गये हैं। इससे यह मालूम होता है कि श्रीरामजी ने इक्ष्वाकु के वंश के और आचार प्रधान होने से अपने नियमों के साथ शरणागति की है और विभीषण ने राक्षसजाति का होने से स्थिति प्रकार से शरणागति की है। इसीको कहते हैं कि– इस स्थल में वेल्वेटिप्पिल्लै महात्मा से कलिवैरिस्वामीजो की वार्ता को स्मरण करे ॥३५॥

अब जगदाचार्यजी अधिकारी के नियम के अभाव को कहने की इच्छा से तज्जिज्ञासुकर्त्तृक प्रश्न को कहते हैं कि—

अधिकारिनियमाभावः कथमितिचेत् ॥३६॥

अर्थ –(अधिकारिनियमाभावः) प्रपत्ति के अधिकार नियम का अभाव (कथम्) कैसा (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो उसका उत्तर सैंतिसवें सूत्र में लिखा है। इससे कहते हैं कि — यदि ऐसा हो तो अधिकारी नियम का अभाव कैसा ॥३६॥

अब लोकाचार्य स्वामीजो अधिकारी नियम के अभाव को कहते हैं।

धर्मपुत्रादयः द्रौपदी काकः कालीयः श्रीगजेन्द्रः श्रीविभीषणः स्वामी बालस्वामी एतत्प्रभृतयः शरणागता इत्यधिकारिनियमो नास्ति ॥३७॥

अर्थ—(धर्मपुत्रादयः) युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव (द्रौपदी) द्रौपदी (काकः) जयन्त काक (कालीयः कालीय नाग (श्रीगजेन्द्रः) श्रीगजेन्द्र (श्रीविभीषणः) श्रीविभीषण (स्वामी) श्रीरामजी (बालस्वामी) श्रीलक्ष्मणजी (एतत्प्रभृतयः) ये और प्रभृति शब्द से सब मुनि तथा देवतागण और बानरों की सेना आदि ने (शरणम्) भगवत्की शरणागति (गताः) की है (इति) इससे (अधिकारिनियमः) अधिकार नियम (न) नहीं (अस्ति) है। अर्थात् क्षत्रिय जाति के युधिष्ठरादि ने शरणागति की है यह लिखा है कि—

द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्—

द्रौपदी के सहित पाँचों पाण्डव जनार्दन श्रीकृष्ण जी की शरण में गये। तथा स्त्री द्रौपदी ने शरणागति की है। यह लिखा है कि—

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन। प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ महाभारत सभापर्व० २अ० २८श्लो० ४३।

हे कृष्ण भगवान्! हे महायोगिन्! हे विश्वात्मन् हे विश्वभावन हे गोविंद कुरुओं के बीच में नंगी की जाती हुई प्रपत्ति करनेवाली मेरी रक्षा कीजिये ॥ ४३ ॥ महापराधी जयन्त ने शरणागति की है, यह लिखा है कि—

स पित्रा च परित्यक्तः सर्वैश्च परमर्षिभिः। त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेवशरणं गतः। वाल्मीकि रा०सुं० कां० ५ स० ३८श्लोक ३२॥

वह जयन्त काक अपने पिता इन्द्र से और सब महर्षियों से तिरस्कृत हो तीनों लोकों में घूमकर उस श्रीराम की ही शरण में गया ॥ ३२ ॥ पुनः तिर्यग्योनिवाले कालियनाग ने शरणागति की है। यह लिखा है कि—

सोहं ते देवदेवेश नाचनादौ स्तुतौ न च सामार्थ्यवान् कृपामात्र मनोवृत्तिः प्रसीद मे ॥

हे देवदेवेश आपकी पूजा और स्तुति करने में मैं समर्थ नही हूँ, केवल निर्हेतु दया से मेरे उपर अनुग्रह कीजिये ॥ कालीय नागने शरणागति की है, यह श्रीमद्भागवत दशमस्कंध के सोलहवें अध्याय में भी लिखा है और पशु योनिवाले श्री गजेन्द्र ने शरणागति की है। यह लिखा है कि—

परमापदमापन्नो मनसा चिन्तयद्धरिम्। स तु नागवरः श्रीमान् नारायणपरायणः ॥

परम आपत्ति को प्राप्त हो श्रीनारायणपरायण श्रीगजेन्द्र ने मन से श्रीहरि को शरणागति रूप स्मरण किया। श्री गजेन्द्र ने शरणागति की है यह श्रीमद्भागवत अष्टम् स्कन्ध के तीसरे अध्याय में लिखा है।

तथा राक्षश जातिवाले श्रीविभीषण ने शरणगति की है, यह लिखा है—

सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः । त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥ वाल्मीकिरा० युद्धकां०६ स० १७ श्लो०६॥

मैं उस रावण से कठोर वचन सुन नौकर की तरह अपमानित हो पुत्र और स्त्री को छोड़ श्रीराघवजी की शरण में आया हूँ ॥१६॥ और सर्व-रक्षक श्रीरामजी ने शरणागति की है, यह लिखा है कि—

ततः सागरवेलायां दर्भानास्तीर्य राघवः ।
अंजलिं प्राङ्मुखः कृत्वा प्रतिशिश्ये महोदधेः ॥
वाल्मीकि रा० युद्धकां० ६ स० २१ श्लोक १ ॥

इसके बाद समुद्र के तट पर कुशों को डसा करके श्रीरामजी ने पूर्वाविमुख हो हाथ जोड़ करके समुद्र की शरणागति की ॥ १ ॥ तथा नित्यविभूति में सदा अनुचर हो कार्य करने वाले श्रीलक्ष्मणजी ने शरणागति की है । यह लिखा है कि—

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः ।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ॥
वाल्मीकि रा० अयो० कां० २ स० ३१ श्लोक २ ॥

श्रीलक्ष्मणजी ने भ्राता श्रीरामजी के चरणों को गाढ़ आलिंगन करके अतियशा सीता से और महाव्रत श्रीरामजी से कहा ॥ २ ॥ और वैखानस वालखिल्यादि मुनियों ने शरणागति की है यह लिखा है, कि—

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥
वाल्मी० रा० अरण्यकां० ३ स० ६ श्लोक १६ ॥

निशाचरों से पीड़ित हम सब हे श्रीरामभद्र सर्वरक्षक आपकी शरणागति करने के लिये उपस्थित हैं इससे हम सबों की रक्षा कीजिये । तथा देवतागण ने शरणागति की है, यह लिखा है कि—

प्रणामप्रवणा नाथ दैत्यसैन्यपराजिताः ।
शरणं त्वामनुप्राप्ताः समस्ता देवतागणाः ॥

हे नाथ दैत्यों की सेना से पराजित हो प्रणाम करते हुए संपूर्ण देवता गण आपको शरण में आये हैं। वानरों की सेना ने शरणागति की है, यह लिखा है कि—

राक्षसैर्ह्यमानां वानराणां महाचमूः।

शरण्यंशरणं याता रामं दशरथात्मजम् ॥

राक्षसों से पीड़ित वानरों की महसेना रक्षक दशरथ कुमार श्रीराम जी की शरण में गयी। पुनः गोप और गोपियों ने शरणागति की है। यह लिखा है कि—

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः। गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ श्रीमद्भाग० स्कं० १० अ० २५ श्लो ११।

अत्यन्त वृष्टि और पवन से काँपते हुए पशु और गोप गोपियों ने श्रीकृष्ण की शरणागति की ॥११॥ और इसी प्रकार से मुचुकुन्द राजा तथा माधवी और कालिय नाग की स्त्रियाँ आदि ने शरणगति की है। ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक नहीं लिखता हूँ। पूर्वोक्त प्रकार से स्पष्ट साबित होता है कि अधिकारी का नियम नहीं है। इसीसे कहते हैं कि—धर्म पुत्रादिक द्रौपदी काक कालीय श्रीगजेन्द्र, श्रीविभीषण, श्रीरामजी और लक्ष्मणजी प्रभृति ने शरणागति की है; इससे अधिकारी का नियम नहीं है ॥ ३७ ॥

अब जगदाचार्यजी फल के नियमाभाव को कहने की इच्छा से तज्जिज्ञासुकर्तृक प्रश्न का अनुवाद करते हैं कि—

फलनियमाभावः कथमिति चेत् ॥ ३८ ॥

अर्थ—प्रपत्ति के (फलनियमाभावः) फल के नियम का अभाव (कथम्) कैसा? (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर उन्चालिसवें सूत्र में लिखा है। इसीसे कहते हैं कि—फल के नियम का अभाव कैसा ऐसा यदि ॥३८॥

अब श्रीवचनभूषणकार प्रपत्ति करनेवालों के फलों को कहते हैं—

धर्मपुत्रादीनां फलं राज्यं, द्रौपद्याः फलं वस्त्रं, काक-

कालीययोः फलं प्राणः, श्रीगजेन्द्रस्य फलं कैंकर्यं श्रीविभीषणस्य फलं रामप्राप्तिः, स्वामिनः फलं समुद्रतरणं, बालस्वामिनः फलं रामानुवृत्तिः ॥ ३६॥

अर्थ—(धर्मपुत्रादीनाम्) युधिष्ठरादि पाँचों पांडवों का (फलम्) प्रपत्ति करने का फल (राज्यम्) राज्य प्राप्ति है और (द्रौपद्याः) द्रौपदी की (फलम्) प्रपत्ति करने का फल (वस्त्रम्) वस्त्र प्राप्ति है तथा (काक-कालीययोः) जयन्तकाक और कालीयनाग की (फलम्) प्रपत्ति करने का फल (प्राणः) प्राण प्राप्ति है और (श्रीगजेन्द्रस्य) श्रीगजेन्द्र की (फलं) प्रपत्ति करने का फल (कैंकर्यम्) भगवान् की कैंकर्य-प्राप्ति है तथा (श्रीविभीषणस्य) श्रीविभीषण का (फलम्) फल प्रपत्ति करने का (राम-प्राप्तिः) श्रीरामजी की प्राप्ति है। (स्वामिनः) श्रीरामजी की (फलम्) प्रपत्ति करने फल (समुद्रतरणम्) समुद्र को पार करना है और (बालस्वामिनः) श्रीलक्ष्मणजी की (फलम्) प्रपत्ति करने का फल (रामानुवृत्ति.) श्रीरामानुवृत्ति है। अर्थात् युधिष्ठरादि को प्रपत्ति से राज्य प्राप्त हुआ है, यह महाभारत में स्पष्ट लिखा है और द्रौपदी को वस्त्र प्राप्त हुआ है। यह लिखा है कि—

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तुविशांपते। तद्रूपमपरंवस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥ महाभारत सभाप० २ अ० ६८ श्लोक० ४७ ॥ नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो। प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥४८॥

हे राजन् जब दुःशासन द्रौपदी के वस्त्र को खींचने लगा तब उसी रूप के अन्य प्रकार के अन्य वस्त्र उत्पन्न हुये ॥ ४७ ॥ हे प्रभो धर्म के पालन करने से सैकड़ों प्रकार के नाना रागविराग वस्त्र निश्चय करके उत्पन्न हुये ॥४८॥ तथा काकको प्राण प्राप्त हुआ है। यह लिखा है कि—

दत्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः। वाल्मीकि रा० सुन्दर कांड ५ स० ३८ श्लोक ३५ ॥

श्रीरामजी ने जयन्त काककी दाहिनी आँखको देकर प्राणों से रक्षा की अर्थात् वध नहीं किया ॥३५॥ और कालीयनाग को भी प्राण प्राप्त

हुआ है यह लिखा है कि—

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम् कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन्दीनः कृष्णं प्राहकृताञ्जलिः। श्रीमद्भाग० स्क० १० अ० १६ श्लोक ५५ ॥

इन्द्रियों द्वारा प्राण को पाकर क्लेश से साँस लेते हुए हाथ जोड़कर दीन कालीयनाग ने धीरे से श्रीकृष्ण भगवान से कहा ॥५५॥ श्रीगजेन्द्र को कैंकर्य प्राप्त हुआ, यह लिखा है कि—

एवं विमोच्य गजयूथपमब्जनाभस्तेनापिपार्षदगतिं गमितेन युक्तः गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमानकर्मादभुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात् ॥

॥ श्रीमद्भा० स्क० ८ अ० ४ श्लोक १३ ॥

इस प्रकार से गरुड़ासन विष्णु भगवान् श्री गजेन्द्र को ग्राह से छुड़ा करके अपना पार्षद बनाकर उसके साथ गन्धर्व सिद्ध और देवताओं से गीयमान कर्मवाले नारायण अपने लोक को चले गये ॥१३॥ और श्री-विभीषण ने श्रीरामजी को प्राप्त किया है। यह लिखा है कि—

स तु रामस्य धर्मात्मा निपपाततविभीषणः।

॥ वाल्मीकि रा० युद्धकां० ६ स० १९ श्लोक० २ ॥

वह धर्मात्मा विभीषण श्रीरामजी के चरणों में गिरा अर्थात् श्रीरामजी को प्राप्त किया ॥१९॥ तथा श्रीरामजी ने समुद्र को पार किया है। यह वाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्ड के बाईसवें सर्ग में स्पष्ट लिखा है। और श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामानुवृत्ति को प्राप्त किया है, क्योंकि साक्षात् श्रीरामजी कहते हैं कि–

सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रजलक्ष्मण ॥

वाल्मीकि रा० अयोध्याका २ स० ३१ श्लोक ३१ ॥

हे लक्ष्मण सब आयुधों को लेकर शीघ्र तुम आओ ॥३१॥ इससे साबित होता है कि श्रीलक्ष्मणजी ने रामानुवृत्ति प्राप्त की है। इस उन्चालिसवें सूत्र में जो प्रपत्ति का फल कहा गया है वह उपलक्षण मात्र है। इससे जिसने जिसने जिस जिस काम के लिए प्रपत्ति की है, उसने उस उस काम

को प्राप्त किया है। अतः प्रपत्ति के फल के नियम का अभाव है। इससे कहते हैं कि ।। धर्मपुत्रादिकों का फल राज्य, द्रौपदी का फल वस्त्र काक और कालीय का फल प्राण, श्रीगजेन्द्र का फल कैंकर्य, श्रीविभीषण का फल श्रीरामजी को प्राप्ति, श्रीरामजी का फल समुद्रतरण और श्री लक्ष्मणजी का भल रामानुवृत्ति है ।।३९।।

अब लोकाचार्य स्वामी जी विषय नियम को कहते हैं कि—

विषनियमो नाम गुणपूर्तिमत एवविषयत्वम् ।।४० ।।

अर्थ—(विषयनियमः) विषय नियम (नाम) माने (गुणपूर्तिमतः) पर, व्यूह पाँचों में सौलभ्यादि गुण पूर्तिवाले (एव) ही निश्चय करके (विषयत्वम्) विषय हैं। इसीसे कहते हैं कि—विषय नियम माने गुण पूर्तिमान ही विषय है ।।४०।।

अब जगदाचार्यजो यह कहते हैं कि पर व्यूह आदिक पाँचों में गुणों की पुर्ति किसमें हैं।

गुणपूर्तिरर्चावतारे ।।४१।।

अर्थः - (गुणपूर्तिः) सौलभ्यादिक गुणों की पूर्ति (अर्चावतारे) अर्चावतार में है। इसमें प्रमाण यह लिखा है कि ।।

अर्चावतारविषये मयात्युद्देशतस्तथा ।
उक्ता गुणा न शक्यन्ते वक्तुं वर्षशतैरपि ।

अर्चावतार के विषय में मैं भी उद्देश्य से गुणों को कहता हूँ, यथार्थ सैकड़ों वर्षों तक कहने पर भी पूर्ण रूप से कोई नहीं कह सकता है। यह भगवत् का वाक्य है। इसीसे कहा है कि—गुण पूर्ति अर्चावतार में है ।।४१।।

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि दिव्य सूरिगण ने बहुत स्थलों में अर्चावतार में प्रपत्ति को है –

दिव्यसूरयो बहुस्थलेषु प्रपत्तिं चार्चावतारेऽकुर्वन् ४२।।

अर्थ - (दिव्यसूरयः) दिव्यसूरि लोगों ने (बहुस्थलेष) बहुत स्थलों में

(प्रपत्तिम्) भगवत् की प्रपत्ति को (अर्चावतारे) अर्चावतार में (अकुर्वन्) किया है (च) चकार से परव्यूह आदि में कहीं-कहीं पर प्रपत्ति की है। जैसे श्रीशठकोपसूरि कहते हैं कि – उपायतया आप अपने चरणों को ही मुझको दिये हैं ॥४-॥ उन चरणों को शरणतया स्वीकार करनेवाले। हमारे स्वामी के चरणों में कल्याण को प्राप्त हुए कुरुकापुरी का निर्वाहक शठकोप आपके चरणों के नीचे सम्यक् प्रवेश करता हूँ। इन वाक्यों से मालूम होता है कि अर्चावतार ही में प्रपत्ति किये हैं। और ॥ जन्म प्रकार ॥ इस एक ही दशक में श्रीकृष्णावतार में प्रपत्ति की है। और श्री परकालसूरि भी कहते हैं कि ॥ हे नैमिषारण्य वासी स्वामिन् दास आपके चरणों को प्राप्त हुआ है ॥ ॥ हे परिमल पूर्ण श्रीवेंकटनायक नीच मैं आपको आश्रयण करता हूँ ॥ ॥ कावलंबादि दिव्य देश में वर्तमान हे कृष्ण उपाय आप ही हो ॥ ॥ समुद्रवर्णनि-विडोद्यान श्री रंगवासिन् आपके चरणयुग्म को प्राप्त हूँ ॥ इन वाक्यों से मालूम होता है कि यह उन्होंने भी अर्चावतार में ही प्रपत्ति की है। और सूरि लोगों ने भी अर्चावतार ही में प्रपत्ति की है इस बात को उनके प्रबन्ध में देख सकते हैं। इसीसे कहा है कि–दिव्य सूरिगण ने बहुत स्थलों में प्रपत्ति अर्चावतार में की है ॥ ४२ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी अर्चावतार में सौलभ्य आदिक गुणों की पूर्ति को प्रमाण सहित कहते हैं कि—

'पूर्णम्' इत्युक्तत्वात्सर्वे गुणाः पुष्कलाः ॥४३॥

अर्थ—(पूर्णम्) पूर्ण है (इति) ऐसा उपनिषदों में (उक्तत्वात्) कहने से अर्चावतार में (सर्वे) सब (गुणाः) कल्याण गुण (पुष्कलाः) पूर्ण हैं। अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषद् के शान्ति-पाठ में लिखा है कि—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

विप्रकृष्ट अर्चावतार पूर्ण है और संनिकृष्ट अर्चावतार पूर्ण है। पूर्ण अर्चावतार से पूर्ण कल्याण गुण कहे जाते हैं। पूर्ण अर्चावतार से पूर्ण कल्याण गुणों को लेकर पूर्ण ही बचता है। इससे साबित होता

है कि अर्चावतार में सब गुण पूर्ण हैं। इसीसे कहा है कि—पूर्णम् ऐसा कहने से सब कल्याण गुण अर्चावतार में पूर्ण हैं ॥ ४३ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार प्रपत्ति के अवश्यापेक्षित सौलभ्यादि गुणों को अर्चावतार में कहते हैं —

प्रपत्तेरपेक्षिताः सौलभ्यादयोऽन्धकारव्याप्तेगृहे-दीपवत्प्रकाशन्ते ॥ ४४ ॥

अर्थ—(प्रपत्तेः) प्रपत्ति के (अपेक्षिताः) उपासतया स्वीकार करने समय में अपेक्षित सौलभ्यादयः) देखकर आश्रयण करने के लिए सौलभ्यगुण और आदिशब्द से परत्व देख नहीं सकने के लिए सौशील्य गुण तथा कार्य करेंगे ऐसा विश्वास के लिए स्वामित्व गुण और दोषों को देखकर न डरने के लिये वात्सल्य गुण (अन्धकारव्याप्ते) अन्धकार से व्याप्त (गृहे) घर में (दीपवत्) चिराग के समान अर्चावतार में (प्रकाशन्ते) प्रकाशित होते हैं। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि परब्रह्म में सब गुण होने पर भी परमसाम्यापन्न नित्य और मुक्तों को दर्शन देने के स्थल होने से दिन के दीप के समान प्रकाशरहित होते हैं और अर्चावतार स्थल में अति नीच संसारियों को दर्शन देने से अन्धकार में दीपक की तरह अत्युज्ज्वल हो भासित होते हैं। इसीसे कहा है कि— प्रपत्ति के अपेक्षित सौलभ्यादि गुण अन्धकार विशिष्ट घर के दीपक के समान अर्चावतार में प्रकाशते हैं ॥ ४४ ॥

अब जगदाचार्यजी सौलभ्यादि गुण अर्चावतार में प्रकाशते हैं इस उक्ति को प्रतिपादित करते हैं।

पूर्तिं स्वातंत्र्यं च त्यजन् सन् स्वानादर्तृन् स्वयमादत्य स्थितस्थलम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—अर्चावतार भगवान् (पूर्तिम्) अवाप्त समस्त कामत्व रूप पूर्ति को (त्यजन्) छोड़ता (सन्) हुआ अर्थात् इस चेतन के द्वारा समर्पित वस्तु से तृप्त होता हुआ (च) और (स्वातंत्र्यम्) स्वरूपादि अपना अधीन होने रूप स्वतंत्रता को छोड़ता हुआ अर्थात् भक्तों के अधीन होने स्वरूप और स्थिति को करता हुआ (स्वानादर्तृन्) अपने को अनादर

करनेवालों को (स्वयम्) अपने से (आदृत्य) आदर कर (स्थित-स्थलम्) स्थित स्थल है। अर्चावतार भगवान् अर्चकों के अधीन रहते हैं, यह लिखा है कि—

तदिच्छया महातेजा भुङ्क्ते वै भक्तवत्सलः स्नानं पानं तथा यात्रां कुरुते वै जगत्पतिः ॥ स्वतंत्रः सन् जगन्नाथोप्यस्वतंत्रो यथा तथा। सर्वशक्तिर्जगद्धातप्यशक्त इव चेष्टते ।

अर्चक की इच्छा से महा तेजस्वी भक्तवत्सल भगवान् भोजन करते हैं तथा अर्चक की इच्छा से स्नान, पान और यात्राओं को जगत्पति करते हैं। स्वतंत्र होते हुए भी जगन्नाथ परतंत्र की तरह रहते हैं। सर्वशक्ति होते हुए जगद्धाता अशक्त की तरह रहते हैं। सौलभ्य होने से अर्चावतार सबसे श्रेष्ठ है। यह लिखा है कि—

एवं पंचप्रकारोऽहमात्मनां पततामधः। पूर्वस्मादपि पूर्वस्माज्ज्यां श्चैवोत्तरोत्तरः। सौलभ्यतो जगत्स्वामी सुलभो ह्युत्तरोत्तरः—

अधःपतित चेतनों के लिये पर, व्यूह विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार इस भेद से मैं पाँच प्रकार का हूँ। पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। जगत् के मालिक सौलभ्य गुण से उत्तरोत्तर सुलभ होते हैं। इसीसे कहते हैं कि पूर्ति और स्वातंत्र्य को छोड़ अपने को अनादर करने वालों को आप आदर करते हुए स्थितस्थल हैं ॥४५॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी दृष्टान्त द्वारा परव्यूहादिक को दुर्लभ और अर्चावतार को सुलभ कहते हैं।

भूगतजलवदंतर्यामित्वं, आवरणजलवत्परत्वं क्षीरार्णववद् व्यूहः, प्रवहन्नदीवद्विभवः, तत्स्थितो ह्रद इवार्चावतारः ॥४६॥

अर्थः—(भूगतजलवत्) पृथ्वी के भीतर स्थित जल के समान (अन्तर्यामित्वम्) अन्तर्यामित्व है। अर्थात् प्यासे हुए पुरुष के लिये जैसे पृथ्वी के भीतर का जल तुरन्त बिना खोदे हुए काम में नहीं आ सकता

है और यदि उसी समय खोदा जाय तो प्यासे पुरुष मर जायेंगे। वैसे ही अष्टांगयोग करके देखने योग्य अन्तर्यामित्व प्रपत्ति करने वाले सर्व-साधारण संसारी जीवों के लिये तत्काल प्राप्त होना दुर्लभ है और (आवरणजलवत्) ब्रह्माण्ड से परे आवरण विरजा के जल के समान (परत्वम्) परत्व है। अर्थात् प्यासे हुए पुरुषों के लिये जैसे बाहर कारणतया स्थित पूर्णामृत विरजा का जल काम में इस शरीर से नहीं आ सकता है वैसे ही प्रपत्ति करनेवाले संसारी जीवों के लिये लोला विभूति से परे रहने वाले परत्व तत्काल में प्राप्त होना अति दुर्लभ है। (क्षीराणववत्) क्षीर समुद्र के समान (व्यूहः) व्यूह हैं। अर्थात् प्यासे हुए पुरुषों के लिये जैसे दुष्प्राप्य क्षीर सागर है वैसे ही प्रपत्ति करने वाले संसारी जीवों के लिये तुरन्त व्यूह प्राप्त होना दुर्लभ है। (प्रवहन्नदीवत्) जोर से बहने वाली नदी के समान (विभवः) राम-कृष्णादिक विभवावतार हैं। अर्थात् प्यासे हुए पुरुषों के लिये जो नदी बहती हुईचली गई है। यानी अब जल नेत्र से नहीं दिखाई देता है। वह जल प्यास को इस समय नहीं शान्त कर सकता है : वैसे ही यद्यपि प्रभु श्रीरामकृष्णादि भूतल पर अवतार लिये थे परन्तु इस समय प्रपति करने वाले संसारी जीवों के नेत्र से नहीं दीखते हैं इससे इस समय में विभव प्राप्त होना भी दुर्लभ है और (तत्र) वहाँ पर (स्थतः) स्थित (ह्रदः) तालाब (इव) के समान (अर्चावतारः) अर्चावतार है। अर्थात् प्यासे हुए पुरुषों के लिये उसी स्थान में स्थित अति निर्मल जलों से भरा हुआ तालाब जैसे लोटा और रस्सी पास में नही रहने पर भी प्राप्त होने पर शीघ्र ही प्यास शान्त कर देता है। वैसे ही प्रपत्ति करनेवाले सर्वसाधारण संसारी जीवों के लिए सुलभ और भवरुज को शान्त करनेवाले अर्चावतार हैं। इसीसे कहते हैं कि ॥ भूगत जल के समान अन्तर्यामी हैं, आवरण जल के तुल्य पर है, क्षीर सागर के समान व्यूह है, बहनेवाली नदी के तुल्य विभव है तथा वहाँ ही स्थित ह्रदके समान अर्चावतार हैं। अब इस छियालिसवें सूत्र पर बहुत से अनादि पाप से दूषित अन्तःकरणवाले कहते हैं कि ईश्वर अवतार लेते हैं, इसमें वैदिक एक भी प्रमाण नहीं है, इससे ईश्वर का अवतार नहीं होता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वैदिक प्रमाण ईश्वर के अवतार के विषय में बहुत से हैं। उन्हींमें से कुछ प्रमाणों को मैं नीचे लिखता हूँ। कृपा करके सज्जन अवलोकन करें।

रूपंरूपंप्रतिरूपो बभूव तदस्यरूपंप्रतिचक्षणाय । इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयतेयुक्ता ह्यस्यहरयः शतादशा । ऋग्वे० मं० ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८ ॥

परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्यों से अनेक रूपवाला होता है सो इस अपने, रूपको सब भक्तों पर विख्यात करने के लिये जैसे-जैसे रूपकी इच्छा हो तैसा-तैसा हुआ। निश्चय इस परमेश्वर के रूप सैकड़ों हैं। उसमें दस अवतार मुख्य हैं। इस मन्त्र में जो इन्द्र शब्द है सो ॥ इन्द्रमित्र मं० १ सू० १६ मं० ४६ के अनुसार ईश्वरवाचक है ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधाविजायते । तस्ययोनिं परिपश्यन्तिधीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वा । यजु०अ० ३१ मं० १९ ॥

प्रजापति ईश्वर गर्भमें आता है। अजन्मा होकर भी वह बहुत प्रकार से जन्म धारण करता है। उसके शरीर धीर पुरुष देखते हैं। वह कौन ईश्वर है, जिसमें ये समस्त ब्रह्माण्ड ठहरे हैं ॥१९॥

हंसः सुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोतावेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतंबृहत् ॥ यजु० अ० १० मं० २४ ॥

वे भगवान् हंस अहंकारहारी आदित्य आदि रूपसे दीप्तिमें रहनेवाले मनुष्यों के प्रवर्त्तक वायुरूप से आकाश में रहनेवाले, देवताओं के आह्वान करनेवाले अग्निरूप से वेदी में बैठनेवाले, रामकृष्ण रूपसे मनुष्यों में होनेवाले, श्रेष्ठ स्थान क्षेत्र आदि में बैठनेवाले, सत्यमें स्थित होनेवाले मंडलरूप से आकाशमें स्थित होनेवाले, मत्स्य कच्छपरूप से जल में होनेवाले, अनेकरूप से पृथ्वी में होनेवाले, सत्यमें होनेवाले, पत्थर में मूर्तिरूपसे होनेवाले, मेघ में जलरूप से होनेवाले, महान् परब्रह्म रूप हैं ॥ २४ ॥

प्रतद्विष्णुःस्तवते वीर्येण मृगोनभीमःकुचरोगिरिष्ठाः यस्योरुषुत्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० मं० १ अ० २१ सू० १५४ मं० २ ॥

मृग के समान वे विष्णु भगवान् अपने पराक्रम से स्तुति को प्राप्त होते हैं। नृसिंहरूप से भीम मत्स्यादिरूप से पृथ्वी को खानेवाले और वराहादिरूप से पृथ्वी में विचरने से कुचर वेंकटाद्रि में स्थित रहने से गिरिष्ट हैं। जिस विष्णु के बड़े तीन पाद विक्षेप में समस्त भुवन बसते हैं ॥२॥–

त्वंस्त्रीत्वंपुमानसित्वं कुमार उत्वा कुमारी। त्वंजीर्णोदण्डन वंचसित्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ अथव० कां० १० अ० ४ मं० २७॥

हे भगवन् आप लक्ष्मीरूप स्त्री हो। आप ही परशुरामरूप पुरुष हो। आप वामन और सनत्कुमाररूप कुमार हो। और आप मोहिनीरूप कुमारी हो। आप ही वृद्धरूप से दण्ड धारण करके अधर्मियों को ठगते हो। आप ही प्रकट होकर विराट्रूप हो ॥२७॥ और देखिये शतपथ ब्राह्मण में मत्स्यावतार का वर्णन है कि—

मनवे ह प्रातः अवनेज्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येव तस्यावनेनि जानस्य मत्स्यः प्राणी आपेदे सहास्मैवाचमुवाच बिभृहिमापारयिष्यामित्वेति शश्वदृक्ष आस तमेवंभूत्वा समुद्रमभ्यवजहारसहोवाच अथापरं वैत्वाबृक्षेनावं प्रतिबध्नीष्व ॥ शत० ब्रा० कां० १ अ० ८ ब्रा० १ कण्डिका० १ – ६ ॥,

तक संक्षेपकर थोड़ा लिखा है, कि मनु ने अवनेजन के लिये जल हाथ में लिया। उनके हाथ में एक मछली आ गई। उसने कहाकि तुम मुझे पोषण करो मैं तुम्हें प्रलय के जल से पार करूँगी। फिर वह बड़ा मत्स्य हो गयी। मनुने उसको समुद्र में डाल दिया। तब उसने कहा कि मैं तेरी रक्षा करता हूँ नौका वृक्ष में बाँधों ॥६॥ और "कुचर" तथा 'अब्जा' पहले हो कच्छपावतार को कह चुका हूँ। अब श्रीवराहावतार में प्रमाण देखिये—

वराहेणपृथिवीसंविदाना सूकराय बिजीहीते मृगाय ॥
अथर्ववे कां० १२ अ० १ मं० ४८ ॥

श्रीवराह सूकररूपधारी प्रजापति ने उस पृथ्वी का उद्धार किया है।४८।

इयतीहवाइयमग्रेपृथिव्या सप्रादेश मात्रीता मेमूषइति वराह उज्जघानसोस्या पतिःप्रजापतिरिति ॥शत०कां०१४अ०१ब्रा० २क०११

पहले यह भूमि प्रदेश मात्र प्रकट हुई। उसको श्री वाराह ने उद्धार किया, सो इसका पति प्रजापति हैं ॥११॥

उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।

तैत्ति० अ० पा० १ अनु० १ मं० ३० ॥

हे भूमि तुमको अनन्त भुजावाले श्रीकृष्ण वाराह ने उद्धार किया है ॥ ३० ॥ पुनश्च नृसिंहावतार को भी लिखा है कि—

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि।

॥ तैत्ति० अ० प्र० १ अनु० १ मं० ३१ ॥

वज्रनख को हम सब जानते हैं, तीक्ष्ण दाँतवाले नृसिंह को हम सब ध्यान करते हैं ॥३१॥

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्।

॥ त्रिपाद्विभूति महानारायणो० अध्या० ७ नृसिंह मं० ॥

इससे नृसिंहावतार सिद्ध होता है। और अब वामनावतार में प्रमाण देखिये :—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्। समूढमस्यपांसुरेस्वाहा ॥

॥ यजु० अ ५ मं० १५ ॥

त्रिविक्रमावतारधारी विष्णु ने इस ब्रह्माण्ड को मापा और तीन प्रकार से चरण रखा। इसके धूलियुक्त पद में समस्त संसार सम्यक् अन्तर्भूत होता है ॥१५॥ यह मंत्र ऋग्यजुः साम इन तीनों वेदों में है और जो मैं इसका अर्थ करता हूँ यही निरुक्तकार मुनि यास्काचार्य का भी अर्थ है।

वामनोहविष्णुरास। शत० कां० १ अ० २ ब्रा० २ कं० ५ ॥

वामन साक्षात् विष्णु ही थे ॥ ५ ॥

मध्येवामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते। कठो०अ० २ वल्ली५मं३ ॥

मध्य में बैठे हुए वामन को विश्वदेव उपासना करते हैं ॥३ ॥ तथा श्रीरामावतार में प्रमाण देखिये—

भद्रोभद्रया सचमान आगात स्वसारंजारो अभ्येति पश्चात्।

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नु शदूषिर्वर्णरभिराममस्थात् ॥

साम० उत्तरार्चिक० १५ अ० २ खं० १ सू० ३॥

भजन करने योग्य रामभद्र सीता सहित सज्जित होकर दण्डकारण्य को आये तब अंगुली को अर्थात् सीता के हाथ को पकड़ने को रावण राम के परोक्ष में आया। तब रावण के मारने के पीछे चिह्नों से दीप्तिमान वर्णों से उपलक्षित द्युलोक की साधनभूत राम की स्त्री सहित अग्निदेव राम के सामने उपस्थित हुआ। अर्थात् जानकी शुद्ध है यह कहकर जानकी को समर्पण किया ॥३॥

अर्वाची सुभगे भवसीते वन्दा महेत्वा यथानः सुभगाससि
यथानः सुफलाससि। ऋ० मं० ३८। वर्ग ६ ॥

हे राक्षसों का अन्त करनेवाली सुभगे जानकी मैं तुमको प्रणाम करता हूँ। मुझे सुभग ऐश्वर्य को दो। प्रतिपक्ष का नाश करो मुझ पर अनुकूल रहो ॥ ६ ॥

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तांपूषानुयच्छतु। ऋ० मं० ३।८।६ ॥

श्रीरामजी सीता को प्राप्त करें और जनक सीता को प्रदान करें।६। और श्री कृष्णावतार में प्रमाण देखिये –

कृष्णे त एवरुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषाभिदेकम्।
यदूप्रवोचा दधतेह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः।

ऋ० मं० ४ सू० ७ अ० १ मं० ६

हे भूमन् आपका जो सत्यानन्द चिन्मात्र रूप है तथा रुद्र रूप से तीन पुरों को नाश करने वाला या स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर को ग्रसनेवाला रूप तुरीयात्मा उस कृष्ण भारूप को हम प्राप्त होवें। जिस आपके स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशामात्र जीव अनेक देहों में भोक्तृ रूप से वर्तमान है और जो कृष्ण भाव को निगडग्रस्तदेवकी गर्भ रूप से धारण करती हुई, हे भूमन् आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुए ॥ ६ ॥

एतद्घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वोवाच ॥

॥ छान्दोग्योप० प्रपा० ३ अ० ३ खं० १७ मं० ६॥

यह उपदेश घोर आंगिरस ने देवकी के पुत्र श्रीकृष्णजी से कहकर मुझसे कहा ॥६॥ और भी देखिये वेदान्त सूत्र में वेदव्यास महर्षि कहते हैं कि—

अपि च संराधने प्रत्यक्ष नुमानाभ्याम् ॥वेदान्त०अ० ३पा० २ सू२४॥

और वह अव्यक्त ब्रह्म आराधना में या आराधना करने पर व्यक्त देखने के योग्य हो जाते हैं। यह श्रुति और स्मृति से सिद्ध है। इन पूर्वोक्त वैदिक प्रमाणों से ईश्वर का अवतार स्पष्ट प्रमाणित होता है। वेद से ईश्वर का अवतार सिद्ध होने पर तो यह प्रश्न होता है कि यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के आठवें मंत्र में परमेश्वर को अकाय लिखा है और आप अवतार प्रतिपादन करते हैं तो यह श्रुति का विरोध कैसे मिटेगा? इसका उत्तर यह है कि इस मंत्र का अर्थ आपने नहीं विचारा। इससे यह भ्रम पड़ गया। सुनिये यह मन्त्र इस प्रकार है—

सपर्यगाच्छुक्रम कायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० अ० ४० मं० ८ ॥

वह परमेश्वर चारो तरफ से प्राप्त होता है। वह शुद्ध निर्मल प्रकाश स्वरूप है तथा प्राकृत शरीर से रहित है और प्राकृत छिद्र तथा नाड़ी समूहसे वर्जित है और कवि मनीषी तथा सर्वोपरि वर्तमान है और आपही वह परमात्मा अपनी विचित्र शक्ति से रामकृष्णादि रूप से होता है, इससे स्वयंभू है और वह परमात्मा यथार्थ अर्थों को बहुत वर्षों से विभाग करता हुआ ॥८॥ इस मंत्र में "अकायम्" इस पद से प्राकृत शरीर से रहित परमात्मा है यही अर्थ है, अन्यथा यदि ऐसा इसका अर्थ नहीं मानेंगे तो—

चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्योऽजायत श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत। यजु० अ० ३१ मं० १२ ॥

परमेश्वरके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ और कान से वायु तथा प्राण उत्पन्न हुए और मुखसे अग्नि उत्पन्न हुई ॥१२॥ इस मंत्र में जो मन, आँख, कान, मुख से उत्पन्न लिखा है इससे विरोध पड़ेगा, इससे "अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्"। इन पदों का यही अर्थ है कि प्रकृति सम्बन्धी परमेश्वर का शरीर या छिद्र या नाड़ी समूह नहीं है। स्वेच्छामय दिव्य शरीर तो परमात्मा का है ही। अतः अपनी इच्छा से ईश्वर अवतार धारण करते हैं। अब

यहाँ पर कितने सज्जन जिनके चित्त में वेद का भी गौरव नहीं है वे लोग यह कहते हैं कि यदि आप युक्ति द्वारा हमारे प्रश्नों का उत्तर दे दीजिये तो हम ईश्वर का अवतार मान लेंगे। प्रायः उनके प्रश्नों का उत्तर आगे भक्तों के मनोरंजन के लिए मैं लिखता हूँ। पहला प्रश्न यह है कि ईश्वर को अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता है। इस प्रश्न का उत्तर भगवद्गोता में लिखा है कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ भगवद्गी० अ० ४ श्लोक ८।

साधुओं की रक्षा करने के लिये और बुरा कर्म करनेवालों का नाश करने के लिये तथा अच्छे प्रकार से धर्म स्थापन करने के लिए युग-युग में मैं अवतार लेता हूँ ॥८॥ इस प्रकार पहले प्रश्न का उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर अवतार धारण करेगा तो कर्म बन्धक के बिना किस प्रकार शरीर ग्रहण कर लेगा। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे राजा जेल में बिना अपराध के जाता है, उसके वहाँ जाने में कानून तोड़ने का अपराध हेतु नहीं है किन्तु कैदियों के ऊपर जो दया है वही हेतु है। इसी प्रकार से जगदीश्वर दया को हेतु बनाकर अवतार लेते हैं। उनके शरीर धारण का हेतु कर्मबन्धन नहीं है। भगवद्गीता में भी लिखा है कि—

जन्म कर्म च मे दिव्यम् ॥ भगवद्गी० अ० ४ श्लोक ९ ॥

मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक हैं ॥९॥ इस प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर होने पर तो तीसरा प्रश्न होता है कि जब ईश्वर अजन्मा है तो उसका जन्म कैसा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे अजन्मा जीव, सूकर, कुक्कुर आदि अनेक योनियोंमें जन्म लेता है वैसे ही अजन्मा ईश्वर भक्तों के लिए जन्म लेता है। भगवद्गीता में भी लिखा है कि—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। भगवद्गी. अ.४श्लो६॥

मैं अव्ययात्मा अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी प्रकृति यानी स्वाभाविक सामर्थ्य को आश्रय करने अपनी माया से प्रकट होता हूँ। अर्थात् अवतार धारण करता हूँ॥६॥ इस प्रकार तीसरे प्रश्न का उत्तर होने पर तो चौथा प्रश्न होता है कि निराकर ईश्वर

साकार किस प्रकार होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दिया-सलाई जलाने समय में निराकार अग्नि साकार हो जाती है और दो अरणियों के रगड़ करने से उन अरणियों में व्याप्त निराकार अग्नि जैसे साकार बनकर रुई को जलाती है, वैसे ही निराकार ईश्वर साकार हो जाता है। इस प्रकार चौथे प्रश्न का उत्तर होने पर तो पाँचवाँ प्रश्न होता है कि एक रस ईश्वर का अवतार कैसा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे ईख में रहनेवाला एक रस मिश्री होता है तथा दूध में रहने वाला एक रस घृत होता है और सांभर झील में रहनेवाला एक रस क्षार नमक बनता है वैसे ही संसार में रहनेवाला एक रस ईश्वर का अवतार होता है। इस प्रकार के पाँचवें प्रश्न का उत्तर होने पर छठवाँ प्रश्न होता है कि जब ईश्वर शरीर धारण करके अयोध्या में आ गये तो अयोध्या को छोड़कर शेष भूतल तो बिना ईश्वर का हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त निराकार अग्नि सायंकाल बक्सर में साकार बन कर सैकड़ों दीपों से प्रकाश करने लगी वही अग्नि प्रयाग में हजारों रूप धारण करके प्रकाश कर बैठी और उसी अग्नि ने काञ्चो तथा बम्बई में लाखों रूपों से रात को दिन बना दिया। इस प्रकार अग्नि के करोड़ों रूप धारण करने पर संसार में व्याप्त अग्नि का अभाव नहीं होता है। वैसे ही सर्वव्यापक ईश्वर का अयोध्या में अवतार होने पर भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त ईश्वर का कहीं पर भी भूतल में अभाव नहीं होता है। इस प्रकार के छठवें प्रश्न का उत्तर होने पर तो अन्तिम सातवाँ प्रश्न होता है कि एक ही समय में ईश्वर के आठ-आठ अवतार ! इतना अन्धेर ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि जैसे एक अग्नि ने करोड़ों रूप धारण किये और वे छोटे बड़े सब प्रकार के किये तो भी एक रूप ने दूसरे रूप को नहीं रोका और करोड़ों रूप धारण करने पर कोई दोष नहीं आया वैसे ही ईश्वर भी एक ही समय में अनेक रूप धारण करते हैं तो भी कोई दोष नहीं है। इन युक्तियों से भी ईश्वर का अवतार सिद्ध होता है। ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूँ। इस विषय में जिसको अधिक जानना हो वह मेरी बनायी हुई जो "अर्थपंचक" ग्रन्थ की टीका "मर्म-बोधिनी" है उसको देख ले॥ इस प्रकार से ईश्वर का अवतार सिद्ध होने पर तो इस सूत्र में कथित अर्चावतार के वैभव को नहीं सहनेवाले हुज्जतबाज लोग यह कहते हैं कि मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिये। इसका उत्तर यह है कि मूर्तिपूजा अनादि काल से चली आती है क्योंकि मूर्तिपूजा के विषय में वेदों में प्रमाण लिखा है कि—

सहस्रस्य प्रतिमा असि ॥ यजु० अ० १५ मं ६५ ॥

हे परमेश्वर ! आप हजारों की मूर्ति हैं ॥६५॥

मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि ॥ तैतिरी० प्रपा० ४ अनु० ५

हे महावीर स्वामी ! तुम ईश्वर की मूर्ति हो ॥५॥

संवत्सरस्य प्रतिमाथांत्वाराज्युपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजा रायस्पोषेण संसृज । अथर्व० कां० ३ स० १० मं० ३ ॥

हे ईश्वर देव ! आप संवत्सर की मूर्ति हो, उस मूर्ति में तुझको हम उपासना करते हैं । वह तुम आयुवाली प्रजा को धन पुष्टि सहित हो ।

द्वे वावब्रह्मणोरूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ॥ बृहदा० अ० २ ब्रा० ३क० १॥

ब्रह्म के रूप दो हैं, एक मूर्ति और दूसरा अमूर्ति हैं ।

सऐक्षत प्रजापतिः इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि-यत्संवत्सर-मिति-तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनोह्येतं प्रतिमामसृजत यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनो हैवास्येषप्रतिमा ॥

शत० ११।१।६।१३॥

ईश्वर ने अपनी प्रतिमा—संवत्सर नामको उत्पन्न की, इसीसे कहते हैं कि ईश्वर संवत्सर हैं । देखो सवत्सर चार अक्षर हैं और प्रजापति में भी चार अक्षर हैं । इसी कारण संवत्सर ईश्वर का मूर्ति है ॥१॥

कासीत् प्रमा प्रतिमाकिं निदानमाज्यंकिमासीत्परिधिः क असीच्छन्दःकिमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्तविश्वे

ऋ० मं० ८ अ० ७ व० १८ मं० ३ ॥

सबकी यथार्थ ज्ञान बुद्धि कौन है ? मूर्ति कौन है ? सब संसार का कारण कौन है ? घृत के समान सार जानने योग्य कौन है? और सीमा कौन है ? छन्द कौन है ? स्वतंत्र तथा स्तुति करने योग्य कौन है ? यहाँ तक इस मन्त्र में प्रश्न करके अन्त में सबका उत्तर है कि जिस परमेश्वर को इन्द्रादि देवता पूजते हैं ॥३॥

अदोयद्दारुप्लवते सिन्धो पारे अपूरुषम् । तदारभस्वदर्हणोऽनेनगच्छ परस्तरम् ॥ ऋ० अष्ट० ८ अ० ८ सू० ३ मं० १३ ॥

विप्रकृष्ट देश में वर्तमान पुरुष निर्माण रहित जो काठ की बनी हुई जगन्नाथ की मूर्ति समुद्र के तट पर वर्तमान है उस काठ की मूर्ति को अवलम्ब या उपासना करो। जो किसी से भी हनन नहीं होती उसकी उपासना करने से अतिशय उत्कृष्ट त्रिपाद्विभूति मोक्ष को प्राप्त हो ॥३॥ शाकल शाखा में भी लिखा है कि—

यद्दार्वमानुष सिन्धोस्तीरे तीर्णं प्रदृश्यते। तदालम्भ्याथ परं पदं प्राप्नोति दुर्लभम् ॥ शाकलशाखा० ८८।१३।३॥

जो यह अमानुष दारुमय पुरुषोत्तम की मूर्ति समुद्र तट पर जगन्नाथ नाम से दृश्यमान है उसकी उपासना से दुर्लभ परमपद वैष्णव लोक प्राप्त होता है ॥३॥

अर्चत प्रार्चतप्रियमेधासोअर्चत। अर्चन्तुपुत्रका उतपुरं नधृष्णवर्चत ॥

ऋ० अष्ट० ६ अ० ५ सू० ५८ मं० ८ ॥

हे प्रिय मेध सम्बन्धी या प्रियमेधा के गोत्रवाले पुत्र परमात्मा का पूजन करो। स्तुति विशेष से पूजन करो। तुम सब पूजन करो और पुत्र भी पूजा करें। जैसे घर्षणशील पुरुष को पूजते हैं, वैसे तुम पूजो ॥८॥

स्नात्वाशुचो गोमयेनोपलिप्य प्रतिकृतिं कृत्वा अक्षतपुष्पैर्यथालाभमर्चयेत् ॥ बौधायनकल्प परिचर्या प्रक० सूत्र २ ॥

स्नानकर पवित्र—देश में गोबर से लिपकर वहाँ पर श्रीमन्नारायण की मूर्ति बना करके अखण्डित पुष्पों से उसकी पूजा करे ॥२॥

देवीद्यावा पृथिवी मखस्य वा मद्य शिरोराभ्यासं देवयजने। पृथिव्या मखायत्वा मखस्यत्वा शीर्ष्णे ॥ यजु० अ० ३७ मं ३ ॥

हे मृज्जल रूप देवियों अब देवयजन स्थान में तुम दोनों को लेकर महावीर की मूर्ति को बनाऊँगा, इससे यज्ञ के लिये ग्रहण करता हूँ और महावीर की मूर्ति बनाने के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ ॥३॥

अथ मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति ॥ शत० १४।१।२।१७॥

मिट्टी के पिण्ड को लेकर महावीर की मूर्ति को बनाता है ॥१७॥

अश्मन्यमानमातिष्ठा श्मामवतुते तनुः कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टेशरदःशतम् ॥ अथर्व कां० २ सू० १३ मं ४ ॥

हे भगवन् ! पत्थर की मूर्ति में विराजमान हो जाइये । पत्थर की मूर्ति आपका शरीर हो । सब देवता आपके शरीर की आयु अनन्त वर्षों की करें ।४।

अश्मवर्ममऽसियोमा प्राच्यांदिशोऽघायुरभिदासात् एतत्सञ्छात्।
अथर्व० ५ अ० १० मं० १७ ।

हे भगवन् ! तुम मूर्ति व्यापक परमेश्वर मेरे कवच हो जो पापी पुरुष पूर्व दिशा का मुझे मारे वह इस बध को प्राप्त करे ।।१७।।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे । नमस्ते अस्त्वश्मने येनादूडाशे अस्यसि ।। अथर्व० कां०१ अ० ३ मं० १ ।।

मैं बिजली रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ । मैं गर्जनारूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ । मैं पाषाण रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ जिस पाषाण से चोट लगती है ।।१।। ऐसे हजारों मंत्र मूर्तिपूजा में प्रमाण हैं । इससे जो लोग यह कहते हैं कि जैनियों से मूर्ति पूजा चली है, मालूम होता है कि उन्होंने कभी वेद का अवलोकन नहीं किया है । और वेदांग व्याकरण में महर्षि पाणिनि ने कहा है कि—

जीविकार्थे चापण्ये ।। व्या० अ० ५ पा० ३ सू० ९९ ।।

जो मूर्ति जीविका के लिये हो, बेची न जाय उसमें कन् प्रत्यय का लोप हो । और व्याकरण के पाँचवें अध्याय, तीसरे पाद, निनानबे सूत्र में महर्षि पतञ्जलि कन्का लोप विधान करके (वासुदेवः) (शिवः) (स्कन्दः) यह उदाहरण देते हैं । और जो बेंचने के लिये मूर्ति होगी वहाँ (शिवकः) ऐसा प्रयोग होता है । इस विषय में यह कारिका भी है कि—

अर्चासु पूजनार्हासु चिप्रमर्म्मध्वजेषुच । इवेप्रतिकृतौलोपः कनोदेव पथादिषु ।।

अर्थात् पूजा करने योग्य मूर्तियों में ।।

इवे प्रतिकृतौ ।। व्याक० अ० ५ पा० ३ सू० ९६ ।

इस सूत्र से विहित कन् प्रत्यय का ।

जे विकार्थे चापण्ये ।। ५।३।९९

इस सूत्र से लोप होता है तो(वासुदेवः) यह प्रयोग सिद्ध होता है । जबकि

मूर्ति पूजा न होती तो सूत्रकार पूर्वोक्त लोप करनेवाला सूत्र कैसे बनाते। इस प्रकार वैदिक प्रमाणों से मूर्ति पूजा सिद्ध होने पर तो यह प्रश्न होता है कि मूर्ति पूजा का निषेध यजुर्वेद में लिखा है कि—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ततोभूय इवते तमो य उसंभूत्यांरताः ॥ यजु० अ० ४० मं० ६ ॥

जो असंभूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण का ब्रह्मके स्थान में उपासना करते हैं वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान दुःख सागर में डूबते हैं और संभूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथ्वी, पाषाण और वृक्षादि तथा मनुष्यादि के शरीर की उपासना करते हैं वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःखरूप नरक में गिरके महा क्लेश भोगते हैं ॥६॥ इससे मूर्ति पूजा नहीं करना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यह जो अर्थ किया गया है सो ठीक नहीं है । इस मन्त्र का यह अर्थ है कि जो मनुष्य अपने शरीर की उपासना करता है अर्थात् शरीर से भिन्न को आत्मा नहीं ऐसा जानकर ॥

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ॥

इस चार्वाक् के सिद्धान्त को ग्रहण करता है वह पुरुष नरक को जाता है। इस आधे मन्त्र से चार्वाक् मन्त्र का खंडन किया गया है। और उत्तरार्द्ध का अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य काय-कारण सब जगत को प्राप्त होता है। इस उत्तरार्द्ध से कर्मत्याग करनेवाले मायावादियों के मत का खण्डन है। इस मन्त्र में असंभूति का अर्थ शरीर है और संभूति का अर्थ ब्रह्म है। इसमें प्रमाण वेद ही है कि—

संभूतिं च विनाशंच यस्तद्वेदोभयंसह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥ यजु० अ० ४० मं० ११ ।

जो योगी संभूति ब्रह्म और विनाश शरीर इन दोनों को मिले हुये शरीर में जानता है वह शरीर से मृत्यु को जीतकर ब्रह्मज्ञान से मोक्ष को पाता है ।१। इस प्रकार जब वेद मन्त्र ही असंभूति का अर्थ शरीर और संभूति का अर्थ ब्रह्म करता है तो फिर वेद से विरुद्ध असंभूति का अर्थ प्रकृत्ति और संभूति का अर्थ प्रकृति के कार्य कोई भी विचारशील पुरुष किसी

प्रकार से नहीं मान सकता है। इससे मूर्तिपूजा पर वैदिक मत है। इस प्रकार के यजुर्वेद के चालिसवें अध्याय के नौवें मन्त्र का अर्थ निश्चय होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि यजुर्वेद में लिखा है कि —

। नतस्यप्रतिमा अस्ति । यजु० अ० ३२ मं० ४५ ॥

उस परमात्मा की मूर्ति नहीं है ॥४३॥ इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ पर प्रतिमा शब्द का मूर्ति अर्थ नहीं है क्योंकि उसी मंत्र में तीन प्रतीक हैं जिससे परमेश्वर की मूर्ति सिद्ध होती है। इससे हम पहले संपूर्ण मन्त्र को लिखते हैं और फिर समस्त अर्थ का विवेचन आगे लिखेंगे। मन्त्र इस प्रकार है—

नतस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः हिरण्यगर्भ इत्येषः मामाहिंसी दित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः । यजु० अ० ३२ मं० ३ ॥

उस परमात्मा की तुल्यता नहीं है। जिस परमात्मा का नाम महान् है तथा महत् यशवाला है जो "हिरण्यगर्भः" इस मन्त्र में वर्णित हुआ है और जिस परमात्मा का वर्णन "मामाहिंसीत्" यह मन्त्र कर रहा है तथा जो 'यस्मान्नजातः" इस मंत्र में कहा गया है ॥३॥इस मंत्र के उत्तरार्द्ध में तीन मन्त्रों का प्रतीक है। उन तीन में ईश्वर कैसा कहा गया है, इसको देखिये—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत् । सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥ यजुः अ. १३ मं. ४।

हिरण्य पुरुषरूप ब्रह्माण्ड में गर्भरूप से जो प्रजापति स्थित है वह हिरण्यगर्भ कहलाता है। वह प्रजापति सब प्राणी जाति की उत्पत्ति से प्रथम स्वयं ब्रह्माण्ड शरीरी हुआ और उत्पन्न होनेवाले जगत् का स्वामी हुआ। उस प्रजापति ने अन्तरिक्ष द्युलोक और भूमि को धारण किया है। उस प्रजापति की ही हम हविष्य से परिचर्या करते हैं—

॥ मामाहिंसाज्जनितायः पृथिव्यायोवादिवं सत्यधर्माव्यानट् । यश्चापश्चापश्चन्द्राः प्रथमोजज्ञान कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥ यजु०अ० १२ म० १०२ ॥

जो प्रजापति पृथ्वी को उत्पन्न करनेवाला, जो सत्य धारण करनेवाला द्युलोकको बनाकर व्याप्त है और जो आदि पुरुष प्रथम शरीर संसार का आह्लाद और तृप्ति साधक जलको उत्पन्न करता हुआ मनुष्योंका रचयिता

है यह प्रजापति हमें मत मारे उस प्रजापतिके निमित्त हम हविष्य देते है ॥ १०२॥—

यस्मान्नजातः परो अन्यो अस्तिय आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराण स्त्रीणि ज्योतींषि सचते सषोडशी ॥
यजु० अ० ८ मं० ३६ ॥

जिस पुरुषको दूसरा कोई उत्कृष्ट नहीं उत्पन्न हुआ है, जो संपूर्ण लोकोंमें अन्तर्यामीरूप से प्रविष्ट है वह सोलह कलात्मक सब भूतों का आश्रय, जगत् का स्वामी प्रजारूप से सम्यक् रमण करता हुआ प्रजापालन के निमित्त अग्नि-वायु सूर्य लक्षणवाली तीन ज्योतियों को अपने तेज से उज्जीवन करता है ।.३६॥ यहाँ पर "हिरण्यगर्भः" इस मन्त्र में ईश्वर को शरीरी मूर्तिमान बतलाया है। और "मामाहिसीत्" इस मन्त्र में ईश्वर को संसारकी मूर्तियों में व्यापक बतलाकर मूर्तिमान सिद्ध करके उससे रक्षा की प्रार्थना की गई है। "यस्मान्नजातः" इस मन्त्र में ईश्वर को व्यापक मूर्तिमान बतलाकर ईश्वरसे उत्कृष्ट कोई भी नहा दिखलाया है। जब तीनों ही प्रकारके मन्त्रों में ईश्वर को मूर्तिमान कह दिया तब ॥ "नतस्य प्रतिमा अस्ति" ॥ इस पूर्वार्द्धसे ईश्वरकी मूर्तिका निषेध पागल के सिवा और कोई भी विद्वान् नहीं कर सकता है। पूर्वोक्त प्रकारसे जब मूर्तिपूजा वेदोंसे सिद्धहो जाती है तो आजकल के दलीलबाज लोग मूर्तिपूजा को उड़ा देने के लिये ग्यारह प्रश्न करते हैं। उसमें पहला प्रश्न यह है कि—क्या मूर्तिमें ईश्वर धँस बैठा है जो मूर्तिमें ईश्वर का पूजन करते हो ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि क्या फोटो में फोटो वाले मनुष्य धँस बैठते हैं ? और क्या नोटमें रुपये धँसे हुए हैं ? अव्यापक होने पर भी जैसे संसार फोटो और नोट को प्रतिकृति मानता है वैसे ही ईश्वर की प्रतिकृति मूर्ति है इससे हम सब मूर्ति पूजा करते हैं। एक मूर्ति ही में नहीं बल्कि सब संसार में ईश्वर व्यापक है। इस प्रकार पहले प्रश्न का उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि—मूर्ति तो मनुष्य की बनाई है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस मनुष्य की बनाई स्याही और मनुष्य का बनाया कागज तथा मनुष्य का टाईप इन सबों से बना हुआ जो वेद, कुरानशरीफ, बाईबिल, जिन्दावस्था, गुरुग्रन्थ साहब ये सब जिन मनुष्यों के धर्म ग्रन्थ हैं उन सबको इनमें पूज्य बुद्धि है वैसे ही मनुष्य की बनाई मूर्ति में भी मूर्ति पूजकों की पूज्य बुद्धि होती है। इस प्रकार के दूसरे प्रश्न का उत्तर होने पर तीसरा प्रश्न होता है कि—मूर्ति के पूजने

से ईश्वर की प्रसन्नता कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे शरीर के पूजने से शरीरव्यापक आत्मा प्रसन्न होती है वैसे ही मूर्ति के पूजने से मूर्ति में व्यापक नारायण भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकारके तीसरे प्रश्न का उत्तर होने पर चौथा प्रश्न होता है कि निराकार ईश्वर की मूर्ति कैसे बनेगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—जैसे जिसका कुछ भी आकार नहीं ऐसा जो अभाव है उसकी मूर्ति शून्य बन जाती है वैसेही सर्व स्वरूप जो ईश्वर है उनकी मूर्ति बन जाती है। इस प्रकार के चौथे प्रश्न का उत्तर होने पर पाँचवाँ प्रश्न होता है कि—मूर्ति के टूटने से ईश्वर नष्ट हो जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—जैसे शरीर के नाश होने पर शरीर में रहनेवाले जीवका नाश नहीं होता है और अन्न आदि के नाश होने पर अन्नादि में व्यापक ईश्वर का नाश नहीं होता है वैसे ही मूर्ति के टूटने पर भी मूर्ति में व्यापक ईश्वर का नाश नहीं होता है।

इस प्रकार के पाँचवें प्रश्न का उत्तर होने पर तो छठवाँ प्रश्न होता है कि—नकली मूर्ति के पूजन से असली ईश्वर का ज्ञान कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—जैसे लड़कों को नक्शेमें जो नकली हिमालय, गंगा, समुद्र, जंगल आदि हैं उनके ज्ञानसे असली हिमालय, गंगा, समुद्र, जंगल आदि का ज्ञान हो जाता है वैसे ही भक्तों को नकली मूर्ति के पूजन से असली ईश्वर का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार छठवें प्रश्न का उत्तर होने पर सातवाँ प्रश्न होता है कि—मूर्ति के पूजन करने से ईश्वर कैसे प्रसन्न हो जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—जिस प्रकार असंख्य पदार्थ-द्रव्य के स्वामी जिसके यहाँ किसी प्रकार की कमी नहीं है उसको केवल प्रसन्नार्थ अनेक राजा भेंट देते हैं और वह प्रसन्न होता है इस प्रकार परिपूर्ण ईश्वर को भक्तजन सब पदार्थ अर्पण कर देते हैं और वे परमेश्वर प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के सातवें प्रश्न के उत्तर होने पर तो आठवाँ प्रश्न होता है कि—ईश्वर तो अखण्ड है। अखण्ड की मूर्ति कैसे बनेगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—जैसे अखण्ड काल के सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, ये चार स्थूल खण्ड बनाये गये फिर दिन, रात, पहर, घड़ी आदि खण्ड बनाकर अखण्ड कालकी भव्य मूर्तिवाली घड़ी बनती है वैसे ही ईश्वर की असंख्य मूर्तियाँ बनती हैं और ईश्वर में कोई विकार नहीं आता है। इस प्रकार आठवें प्रश्न का उत्तर होने पर तो नौवाँ प्रश्न होता है कि—मूर्तिमें ईश्वर की भावना कैसी ? इस

प्रश्न का उत्तर यह है कि—प्रभु सर्वव्यापक हैं इससे सर्वत्र रहते हैं अतः मूर्तिमें ईश्वर की भावना सच्ची है। इस प्रकार नौवें प्रश्न का उत्तर होने पर दसवाँ प्रश्न होता है—जो मूर्तियाँ औरंगजेब का अनिष्ट नहीं कर सकीं वे हमारी क्या सहायता करेंगी? इस प्रकार का उत्तर यह है कि जैसे विकासवाद वाले निराकार ईश्वर का खण्डन करते हैं परन्तु निराकार ईश्वर विकासवादियों को मारता नहीं है तो भी निराकार माना जाता है वैसे ही यदि औरंगजेब ने मूर्ति का अपमान कर दिया और मूर्ति ने उसका अनिष्ट नहीं किया तो भी मूर्तिपूजा अवश्य करनी चाहिये इस प्रकारके दसवें प्रश्न का उत्तर होने पर ग्यारहवाँ अन्तिम प्रश्न होता है कि हमने मूर्ति पूजा से किसी को भी लाभ होते नहीं देखा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तुम्हारा ज्ञान नेत्र फूट गया है, इससे तुमको नहीं दिखाई पड़ता है, परन्तु इतिहास साक्षी है कि मूर्तिपूजा करनेसे उद्धव, ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, अम्बरीष, मुचकुन्द, मार्कण्डेय आदि अनेक भक्तोंका कल्याण हुआ है। इससे वैदिक मतवालों को अवश्य मूर्तिपूजा करनी चाहिये। ग्रन्थ के विस्तार के भयसे मैं अधिक नहीं लिखता हूँ जिसको अधिक जाननाहो वह मेरी बनायी हुई "वैदिकमूर्तिपूजादर्श" नाम की पुस्तक है उसको देख ले। मूर्तिपूजा परम वैदिक और सर्वदुर्लभ है॥ इसीसे श्री वचनभूषणकार कहते हैं कि॥ "तत्रस्थितो ह्रदइवार्चावतारः" ॥ वहाँ पर स्थित ह्रदके समान अर्चावतार भगवान् हैं॥४६॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि यह अर्चावतार विषयी जीवों की रुचिको उत्पन्न करके भोग्य भी होते हैं।

अयं च शास्त्रैर्वशीकरणयोग्यानां विषयान्तरेषु निमज्य विमुखानां चेतनानां वैमुख्यं दूरीकृत्य रुचिमुत्पादयति, रुच्युत्पत्तावुपायोभवति, उपाय-परिग्रहे कृते भोग्यो भवति ॥४७॥

अर्थ—(अयम्) यह सौलभ्यादि गुण विशिष्ट अर्चावतार (शास्त्रैः) हितानुशासन करनेवाले श्रुति इतिहास पुराणादि शास्त्रों से (वशीकरण-योग्यानाम्) वश करने योग्य (च) और (विषयान्तरेषु) भगवद् विषय से अन्य शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श विषयों में (निमज्य) मग्न होकर (वि-मुखानाम्) भगवान् से विमुख होनेवाले (चेतनानाम्) जीवों की (वैमुख्यम्)

विमुखता को (दूरीकृत्य) दूर करके (रुचिम्) भगवद्विषय की रुचि को (उत्पादयति) उत्पन्न करते हैं और (रुच्युत्पत्तौ) भगवद्विषय की रुचि उत्पन्न होने पर (उपायः) भगवत्प्राप्ति के लिए उपाय (भवति) होते हैं और अर्चावतार को (उपायपरिग्रहे) उपायत्वेन स्वीकार (कृते) करने पर वे ही अर्चावतार (भोग्यः) भोग्यचेतन के भोग करने योग्य (भवति) होते हैं ॥४७॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि प्रपत्ति करनेवाले अधिकारी तीन हैं।

अत्र प्रपत्तिकर्तारोऽधिकारिणस्त्रयः ॥४८॥

अर्थ—(अत्र) इस अर्चावतार स्थल में (प्रपत्तिकर्तारः) भगवत् की प्रपत्ति करनेवाले (अधिकारिणः) अधिकारी (त्रयः) तीन हैं। इसीसे कहते हैं कि—अर्चावतार में प्रपत्ति करनेवाले अधिकारी तीन हैं ॥४८॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि अधिकारी तीन कौन-कौन हैं ?

अज्ञाश्च ज्ञानाधिकाश्च भक्तिपरवशाश्च ॥४९॥

अर्थ—(अज्ञाः) भगवत्प्राप्ति के लिये साधनानुष्ठान के उपयुक्त ज्ञान से रहित अज्ञजन (च) और (ज्ञानाधिकाः) कर्मादि अनुष्ठान को करने के लिए ज्ञान और शक्ति होने पर भी भगवदत्यन्त परतंत्रभूत अपने स्वरूप को यथार्थ देखने से उपायान्तर स्वरूप विरुद्ध है ऐसा समझ छोड़ने के उपयुक्त ज्ञानपूर्ति-वाले ज्ञानाधिक जन (च) और (भक्तिपरवशाः) किसी एक भी उपाय को अनुष्ठान करने में असक्त भगवत्प्रेमातिशय से शिथिल होनेवाले भक्ति परवश जन ये तीन प्रपत्ति करनेवाले अधिकारी हैं। इसीसे कहते हैं कि—अज्ञ, ज्ञानाधिक और भक्ति परवश ये तीन प्रकार के अधिकारी हैं ॥४९॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि अज्ञानादिकों के द्वारा प्रपत्ति करनेवाले कौन-कौन हैं ?

अज्ञानेन प्रपन्ना अस्मदादयो, ज्ञानाधिक्येन प्रपन्नाः पूर्वाचार्याः, भक्तिपारवश्येन प्रपन्ना दिव्यसूरयः ॥ ५० ॥

अर्थ : —(अज्ञानेन) इतरोपायानुष्ठान करने के लिए ज्ञानादि न होने से अज्ञान करके (प्रपन्नाः) प्रपत्ति करने वाले (अस्मदादयः) हम सब हैं और (ज्ञानाधिक्येन) उपायान्तर स्वरुप नाशक है ऐसा समझ यथार्थ स्वरुप के दर्शन से होनेवाली ज्ञानपूर्ति अर्थात् ज्ञानाधिक्य से (प्रपन्नाः) प्रपत्ति करने वाले (पूर्वाचार्याः) पूर्वाचार्य अर्थात् नाथ मुनि स्वामी तथा पद्माक्ष स्वामी और राममिश्र स्वामी तथा यमुनाचार्य स्वामी और महापूर्ण स्वामी तथा यतिवर रामानुजाचार्य स्वामीजी प्रभृति हैं और (भक्तिपारवश्येन) नवधा भक्ति की पराधीनता से (प्रपन्नाः) प्रपत्ति करने वाले (दिव्यसूरयः) दिव्यसूरिगण श्रीशठकोपसूरि प्रभृति हैं। अब यहाँ पर यह संदेश होता है कि नवधा भक्ति कौन-कौन है। इसका उत्तर श्रीमद्-भागवत के सातवें स्कन्ध में लिखा है कि—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ श्रीमद्भागवत स्कं०७अ० ५ श्लोक २३।

श्रीविष्णु भगवान् की कथा कानों से सुनना, विष्णु के नामों को जीभ से कहना २, मन से विष्णु के दिव्य विग्रह का स्मरण करना ३, श्रीपादतीर्थ का सेवन करना ४, विष्णु की प्रतिमा को पूजना ५, साष्टांग तथा स्तुति करना ६, विष्णु की दासता करना ७, विष्णु की मित्रता करना ८, तथा विष्णु में आत्मसर्वस्व का निवेदन करना ९, यही नवधा भक्ति है॥२३॥ इसीसे कहते हैं कि अज्ञान से प्रपन्न अस्मदादिक, ज्ञानाधिक्य से प्रपन्न पूर्वाचार्य, भक्ति परवशता से प्रपन्न दिव्य सूरि-गण॥५०॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि अज्ञानादिकों में एक-एक ही को प्रपत्ति करने में कारण अधिकता को लेकर है।

एवं मुक्तिराधिक्यमपेक्ष्य ॥५१॥

अर्थ —(आधिक्यम्) अधिकता की (अपेक्ष्य) अपेक्षा करके (एवम्) इस प्रकार का (उक्तिः) कथन किया गया है। इसका आशय यह है कि अज्ञानियों में ज्ञान तथा भक्ति दोनों मालूम हो ज्ञान ही अधिक हो और भक्तिपरवशों में अत्यल्प तथा ज्ञानपूर्ण होने पर भी भक्ति अत्यन्त अधिक है। अर्थात् सर्वत्र सबके रहने पर भी जो अधिक रहता है उसीसे व्यवहार होता है। इसीसे कहते हैं कि इस प्रकार के कहने का कारण अधिकता है॥५१॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि अज्ञान, मायाको अवलम्बन करके होता है, ज्ञान जीव को अवलम्बन करके होता है और भक्ति ब्रह्म को अवलम्बन करके होती है।

एतत्त्रयं च तत्त्वत्रयमवलंब्यागच्छति ॥५२॥

अर्थ—(एतत्) ये अज्ञान तथा ज्ञान और भक्ति (त्रयम्) तीनों (च) भी(तत्त्वत्रयम्) तीन तत्वों को (अवलंब्य) अवलम्बन कर (आगच्छति) प्राप्त होते हैं। अर्थात् अज्ञान अचित्संबंधको अवलम्बन कर होता है तथा ज्ञानाधिक्य चित्तत्वको अवलम्बन कर होता है और भक्ति परवशता ईश्वर तत्व को अवलम्बन कर होती है। इसीसे कहते हैं कि तीन तत्वों को अवलम्बन कर होते हैं ॥५२॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि एक अधिकारी में ये तीनों कहाँ पर देख सकते हैं।

"किमहंकुर्याम्" इत्यत्रैतत् त्रयमप्यस्ति ॥५३॥

अर्थ—(किम्) क्या (अहम्) हम (कुर्याम्) कर सकते हैं (इति) ऐसा अनुसंधान करनेवाले (अत्र) श्रीशठकोपसूरि में (एतत्) ये अज्ञान तथा ज्ञानाधिक्य और भक्ति परवशता (त्रयम्) तीनों (अपि) भी (अस्ति) हैं। इसीसे कहते हैं कि क्या हम कर सकते हैं इस स्थल में तीनों हैं ॥५३॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि तब क्या अज्ञान तथा ज्ञानाधिक्य और भक्तिपरवशता ये तीनों श्रीशठकोपसूरि की प्रपत्ति करने का कारण होता है?

तत्रैकमवलंब्य वर्तते ॥५४॥

अर्थ—(तत्र) श्रीशठकोपसूरि में प्रपत्ति (एकम्) एक को अर्थात् अज्ञानाशक्ति तथा ज्ञानाधिक्य और भक्ति परवशता इन तीनों में मुख्यतया एक भक्ति परवशता को (अवलंब्य) अवलंबन करके (वर्तते) रहती है। इसीसे कहते हैं कि ॥ वहाँ पर एक को अवलम्बन कर रहती है ॥५४॥

अब ग्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि अज्ञानशक्ति तथा ज्ञानाधिक्य और भक्तिपरवशता इन तीनों हेतुओं से होनेवाली प्रपत्तियों में मुख्य कौन है।

मुख्या सैव ॥५५॥

अर्थ—(मुख्या) मुख्य प्रपत्ति (सा) वही (एव) है। निश्चय करके जो प्रपत्ति भक्तिपरवशता द्वारा प्राप्त होती है क्योंकि भक्तिपरवशता द्वारा प्रपति करने से प्राप्य वस्तु में सर्वदा तेल की धारा के समान अविछिन्न प्रेम बना रहता है। इसीसे कहते हैं कि मुख्य वही है ॥५५॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी प्रपत्ति के अधिकारी जो तीन प्रकार के हैं उसमें प्रमाण कहते हैं।

"अविद्यातः" इतिश्लोके एतत्त्रयमप्युक्तम् ॥५६॥

अर्थः—(अविद्यातः) अज्ञान से (इति) इस (श्लोके) पराशर भट्टाचार्य के बनाये हुए श्लोक में (एतत्) ये (त्रयम्) तीनों (अपि) भी (उक्तम्) कहे गये हैं। अर्थात् "अविद्यातः" यह पद जो छप्पनवें सूत्र में है, वह पराशर भट्टाचार्य स्वामीजी के बनाये हुए श्लोक का प्रतीक है। यह श्लोक जितंतेव्याख्यान के उपोद्घात में कहा गया है कि—

अविद्यातो देवे परिवृढतया वा विदितया स्वभक्तेर्भूम्ना वा जगति गतिमन्यामविदुषाम्। गतिर्गम्यश्चासौ हरिरिति जितंताह्वयमनो रहस्यं व्याजह्रे स खलु भगवान् शौनक-मुनिः ॥

अज्ञ अधिकारी अज्ञान से परमात्मा की प्रपत्ति करते हैं तथा सर्वज्ञ अधिकारी ज्ञानाधिक्य से परमात्मा की प्रपत्ति करते हैं और भक्तिपरवश अधिकारी अपनी भक्ति की अधिकता से परमात्मा की प्रपत्ति करते हैं। ये तीनों अधिकारी जगत् में और कोई उपाय नहीं जानते हैं। इन तीनों को भगवान् ही उपाय और उपेय हैं। ऐसा जितंते नामक मन्त्र के रहस्य को निश्चय करके उन शौनक मुनि ने व्याख्यान किया है। इसीसे कहते हैं कि—"अविद्यातः" इस श्लोक में ये तीनों भी कहे गये हैं ॥५६॥

अब श्रीवचनभूषणकार इन तीनों अधिकारियों के विषय में अखिल जगज्जननी आप्ततमा महालक्ष्मीजी से लक्ष्मीतन्त्र में कहे हुये वचन को कहते हैं कि—

इदं शरणमज्ञानाम् ॥५७॥

अर्थ :—[इदम्] यह प्रपत्ति (अज्ञानाम्) अज्ञ अधिकारियों की (शरणम्) शरण अर्थात् उपाय है। इस सूत्र में जो इदं शरणमज्ञानाम्। यह पद है सो लक्ष्मीतन्त्र के श्लोक का प्रतीत है। यह श्लोक महालक्ष्मी देवीजी ने कहा है कि—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदं तितीर्षतांपारमिदमातुरत्वमिच्छताम्।

यह प्रपत्ति अज्ञ अधिकारियों का उपाय है तथा यह प्रपत्ति ज्ञानी अधिकारियों का भी उपाय है और यह प्रपत्ति संसार सागर के पार होने की इच्छा वाले जो भगवदनुभव में त्वरावाले भक्ति परवश अधिकारी हैं उनका भी उपाय है। इससे सिद्ध होता है कि तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं। इस सन्तावनवें सूत्र में ,इदम्' इस पद से सन्निकृष्टवर्ती प्रपत्ति का ही बोध होता है, क्योंकि लिखा है कि—

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

सन्निकृष्ट में इदम् शब्द का प्रयोग होता है और अत्यन्त समीप में एतद् शब्द का प्रयोग होता है तथा विप्रकृष्ट में अदस् शब्द का प्रयोग होता है और परोक्ष में तद् शब्द का प्रयोग होता है। इस सूत्र का (इदम्) इस पद में॥

व्यत्ययो बहुलम्॥ व्या० अ० ३ पा० १ सू० ८५॥

इस सूत्र से लिंग का व्यत्य है। इसीसे कहते हैं कि॥ यह अज्ञों की शरण है॥५७॥

अब जगदाचार्य जी यह कहते हैं कि भक्ति के अवस्था-भेद होने पर प्रपत्ति नष्ट हो जाती है।

भक्ताववस्थाभेदोत्पत्तावियं नष्टा भवति ॥५८॥

अर्थ—(भक्तौ) भक्ति के विषय में (अवस्थाभेदोत्पत्तौ) अवस्था के भेद उत्पन्न होने पर (इयम्) यह भगवत् की प्रपत्ति (नष्टा) नष्ट (भवति) हो जाती है। इसी से कहते हैं कि—भक्ति के अवस्था-भेद होने पर यह प्रपत्ति नष्ट हो जाती है॥५८॥

अब प्रबन्धकर्ता इस प्रकार की प्रपत्ति की निष्ठा को नाश करने-वाली भक्ति के अवस्था-भेद को कहते हैं कि—

स्वमलंकारयति धारयति च ।५९।

अर्थ :—भक्ति का अवस्था-भेद (स्वम्) अपने को (अलंकारयति) अलंकृत कराता है अर्थात् भगवल्लाभ के लिये स्वयत्न में लगाता है (च) और (धारयति) धारण करता है। इसीसे कहते हैं कि—अपने को अलंकृत कराता है और धारणा कराता है ।५९।

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि भक्ति का अवस्था-विशेष केवल भगवद्विषय में ही नहीं किन्तु भगवत् संबन्धी वस्तुओं के विषय में परस्पर विरुद्ध स्वभाव को उत्पादन करता है।

एतौ स्वभावविशेषौ कल्याणगुणेष्वपि, श्रीशरेष्वपि श्रीनामस्वपि वेणुनादे च द्रष्टुं योग्यौ ॥६०॥

अर्थ – (एतौ) ये दोनों (स्वभावविशेषौ) पूर्वोक्त से भिन्न स्वभाव विशेष दिव्य सूरियों को धारकतया और बाधकतया भान होते हैं। वे किन-किन स्थलों में भान होते हैं इसको कहते हैं कि (कल्याणगुणेषु) कल्याण गुणों में जैसे—

गोविन्दगुणं गात्वा प्राणं रक्षामि ॥

गोविन्द का गुणगानकर प्राण की रक्षा करता हूँ। यहाँ पर धारकतया भान होता है और—प्रबलपापं मां बाधमानगुणविशिष्टः ॥ प्रबल पापी मुझको बाधक गुणवाले। यहाँ पर बाधकतया भान होता है और (अपि) भी (श्रीशरेषु) मारनेवाले बाणों में (अपि) भी जैसे—शरेषु व्यापृतशीतल-कमलसदृशनेत्रविशिष्टं विना मम हृदयं साभिलाषं न तिष्ठति ॥ बाणों को प्रयोग करनेवाले शीतल कमल नयन के बिना मेरा मन झुकता नहीं है। यहाँ पर धारकतया भान होता है और शराण्येव क्रूरतया हिंसंति ॥ बाण ही क्रूर हो पीड़ा करते हैं। यहाँ पर बाधकता भान होता है और श्रीनामसु) भगवत् के नामों में (अपि) भी जैसे—श्रियः पतिंगायति श्रुत्वा भव्यंशुकमंजलिकृत्वा नमश्चकार ॥ श्रीमन्नारायण के नाम को गाने पर सुन भव्य ने शुग्गे को हाथ जोड़ प्रणाम किया। यहाँ पर धार-कतया भान होता है और—कृष्णस्य नामान्येवाक्रमेणोक्त्वा हिंसथ ॥ श्रीकृष्ण के नामों को ही कहकर मार दिये हो। यहाँ पर बाधकतया

भान होता है (च) और (वेणुनादे) वेणु के शब्द में भी जैसे –अस्मदर्थमे-वैकस्मिन् दिवसे वादयितु तव वेणोर्मधुरस्वरो नागच्छति ॥ हमारे लिये ही एक दिन आ बजाने को तुम्हारे वेणु को स्वर नहीं आता है। यहाँ पर धारकतया भान होता है ॥ और—तस्य मधुरस्वरा वेणुर्हिनस्ति ॥ उसका मधुर स्वर वेणु मारता है। यहाँ पर बाधकतया भान होता है इन पूर्वोक्त स्थलों में (द्रष्टुम्) देखने के लिये (योग्यौ) योग्य है। इसीसे कहते हैं कि—ये स्वभाव विशेष कल्याण गुण बाण, श्रीनाम और वेणुनाम में भी देखते हैं ॥६०॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी इस प्रपत्ति को उपाय मानने पर होनेवाले दोष को कहते हैं कि—

इयं दृष्टा चेत् पितुः पुत्रेण लेखनस्वीकार-वद्वर्तते ॥६१॥

अर्थ—(इयम्) इस भगवत् की प्रपत्ति को (चेत्) यदि (दृष्टा) उपाय बुद्धि से देखे तो (पितुः) पिता को (पुत्रेण) पुत्र कहके (लेखनस्वीकारवत्) लिखवाने के समान (वर्तते) दोष है। इससे प्रपत्ति को उपाय नहीं मानना चाहिये। इसीसे कहते हैं कि—इसको देखने पर पिता को पुत्र कहकर लिखवाने के सदृश है ॥६१॥

अब जगदाचार्यजी प्रपत्ति के स्वरूप को कहते हैं कि—

अस्याः स्वरूपं स्वासहिष्णुत्वम् ॥६२॥

अर्थ—(अस्याः) इस प्रपत्ति का (स्वरूपम्) स्वरूप असाधारण आकार (स्वासहिष्णुत्वम्) अपने को उपाय बुद्धि से नहीं सहना है। इसीसे कहते हैं कि—इसका स्वरूप अपने को न सहना है ॥६२॥

अब श्रीवचनभूषणकार प्रपत्ति के उपायत्वाभाव को कहते हैं कि—

अंगं स्वव्यतिरिक्ता सहिष्णुत्वम् ॥६३॥

अर्थ—(अंगम्) अंग (स्वव्यतिरिक्तासहिष्णुत्वम्) अपने से अन्य को नहीं सहेगा। अर्थात् स्वीकाररूप अपने को छोड़ चेतन प्रवृत्तियोंमें किसी को भी न सहना। साधनरूप सकल प्रवृत्तियों का सवासना त्याग ही इसका अंग होता है। इसीसे कहते हैं कि अंग अपने से व्यतिरिक्त को नहीं सहेगा ॥६३॥

अब प्रबन्धकर्ता प्रपत्ति के अनुपायत्व को दृढ़ करने के लिये सिद्ध और साध्य उपायों के प्रकारों को कह उन दोनों की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता को कहते हैं।

उपायः स्वयं सहते। उपायान्तरमुभयमपि सहते।
इयमुभयमपि न सहते ॥६४॥

अर्थ—(उपायः) सिद्धोपाय सर्वेश्वर इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति इन दोनों को स्वयं करने से (स्वयम्) अपने को उपाय माने तो (सहते) सह सकता है और (उपायान्तरम्) सिद्धोपाय से अन्य साध्योपाय अपने में (उभयम्) उपायत्व बुद्धि को और आप सिद्ध होने के लिये प्रवृत्तिरूप अंग की अपेक्षा करने से अपने से अन्य को इन दोनों को (अपि) भी (सहते) सह सकता है, क्योंकि लिखा है कि—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वजनयया ॥ भगवद्गीता अ० ८ श्लोक २२ ॥ हे अर्जुन वह परपुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है ॥२२॥ और भी लिखा है कि—

जन्मान्तरसहस्रेण तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥

(पा० गी० श्लोक ४१)

हजारों जन्म में किये हुए तप और ध्यान तथा समाधि से जिनके पाप दूर हुए हैं उन मनुष्यों के हृदय में कृष्णचन्द्र की भक्ति होती है ॥४१॥ और (इयम्) सिद्धोपाय स्वीकाररूप निवृत्तिसाध्य अधिकारी विशेषण तथा स्वरूप से अभिन्न यह प्रपत्ति (उभयम्) चेतनों को प्रवृत्ति और अपने में उपायत्व बुद्धि इन दोनों को (अपि) भी (न) नहीं (सहते) सह सकती है। इसीसे कहते हैं कि उपाय अपने को सहता है, उपायान्तर दोनों को सहता है। यह प्रपत्ति दोनों को भी नहीं सहती है ॥६४॥

अब जगदाचार्यजी इस चेतन की फल-सिद्धि के लिये अपेक्षित जो है उसको कहते हैं कि—

फलस्यात्मज्ञानमप्रतिषेधश्चैवापेक्षितः ॥६५॥

अर्थ—(फलस्य) फलसिद्धि के लिये (आत्मज्ञानम्) स्वरूप ज्ञान अर्थात् तदेकशेषत्व, तदेक रक्ष्यत्वज्ञान (च) और (अप्रतिषेधः) निरुपाधिक रक्षक

सर्वेश्वर की रक्षा करने पर नहीं रोकना (एव) निश्चय (अपेक्षितः) अपेक्षित है। इसीसे कहते हैं कि फल के लिए आत्मज्ञान और अप्रतिषेध ही अपेक्षित हैं ॥६५॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि फल के लिये कुछ करना चाहिये ऐसा यदि चेतन समझे तो दोष लगता है।

अन्यथा बंधस्य पूर्तेश्च न्यूनता स्यात् ।६६।

अर्थ—(अन्यथा) फल के लिये चेतन को भी कुछ करना चाहिये ऐसा समझने पर (बंधस्य) संबन्ध की (च) और (पूर्तेः) पूर्ति की (न्यूनता) न्यूनता (स्यात्) हो जायगी। इसीसे कहते हैं कि—ऐसा न हो तो संबंध में और पूर्ति में दोष लगेगा ॥६६॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि संसाररूप आपत्ति को दूर करने के लिये जो प्रपत्ति की जाती है उससे स्वरूप हानि रूप आपत्ति प्राप्त होती है।

आपदं दूरीकुर्म इति भ्रमित्वा तद्धर्धनाद्
व्यावृत्तिरेवापेक्षिता ॥६७।

अर्थ—(आपदम्) सर्वेश्वर के चरणों में प्रपत्ति करके संसाररूप आपत्ति को (दूरीकुर्मः) दूर करते हैं (इति) ऐसा (भ्रमित्वा) भ्रान्त होकर जो प्रपत्ति की जाती है उससे (तद्धर्द्धनाद्) स्व स्वरूप जो तदेक पारतन्त्र्य रूप है उसकी हानि रूप आपत्ति बढ़ती है इससे उसकी (व्यावृत्तिः) व्यावृत्ति (एव) ही निश्चय करके (अपेक्षिता) अपेक्षित है। इसीसे कहते हैं कि आपदा को हटा लेते हैं। ऐसा भ्रान्त हो उसको उत्पादन न कर लेना ही अपेक्षित है ॥६७।

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि भगवत् की रक्षा के लिये मैं रक्ष्य हूँ ऐसा अनुसन्धान सर्वत्र चेतन को करना चाहिये।

रक्षणायापेक्षिता रक्ष्यत्वानुमतिरेव ॥६८॥

अर्थ—(रक्षणाय) निरुपाधिक रक्षक सर्वेश्वर कर्तृक रक्षण के लिये (अपेक्षिता) चेतन में अपेक्षित (रक्ष्यत्वानुमतिः) मैं आपकी रक्षा करने योग्य हूँ ऐसी अनुमति (एव) ही निश्चय करके है। इसीसे कहते हैं कि—रक्षण लिये अपेक्षित रक्ष्य हूँ ऐसी अनुमति ही है ॥६८॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि रक्ष्यत्वानुमति साधन नहीं है।

सर्वेषामुपायानां साधारणत्वाच्चैतन्यकार्यत्वात्प्राप्ति-दशायां चानुवर्तमानत्वात्स्वरुपातिरेकित्वाभावाच्चा-चिद्व्यावृत्तवेषः साधनीकर्तुं न शक्यते । ६९॥

अर्थ —(सर्वेषाम्) सब कर्म ज्ञान भक्ति आदि (उपायानाम्) उपायों के (साधारणत्वात्) साधारण होने से और (चैतन्यकार्यत्वात्) चैतन्य के कार्य होने से (च) और (प्राप्तिदशायाम्) भगवत् की प्राप्ति दशा में (अनुवर्तमानत्वात्) पीछे से वर्तमान होने से (च) और (स्वरूपातिरेकि-त्वाभावात्) स्वरूप के अतिरेकी का अभाव होने से (अचिद्व्यावृत्तवेषः) माया से व्यावृत्त वेष जो रक्ष्यत्वानुमति है इसको (साधनी कर्तुम्) साधन करने के लिए न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकते हैं । इसीसे कहते हैं कि सब उपायों के साधारण होने से चैतन्यकार्य होने से प्राप्ति दशा में भी अनुवर्तमान होने से स्वरूपातिरेकी के भाव होने से अचिद्व्यावृत्तिवेष को उपाय नहीं कर सकते हैं ॥६९॥

अब श्रीजगदाचार्यजी अचित् से विलक्षण होने का प्रयोजन कहते हैं कि—

अचिद्व्यावृत्तेः प्रयोजनमुपाय उपकारस्मृतिरुपेये प्रीतिश्च ॥७०॥

अर्थ - (अचिद्व्यावृत्तेः) जड़ से विलक्षण होने का (प्रयोजनम्) प्रयोजन कहते हैं कि (उपाये) सिद्धोपायभूत नारायण में (उपकारस्मृतिः) हमारे दुष्टमन को नाश किये हो तथा आदरपूर्वक सेवा करने वाले मन को दिये हो इस प्रकार के उपकारों को स्मरण करना (च) और (उपेये) भगवत् के चरणारविन्दों (प्रीतिः) जैसे मछली जल में प्रीति करती है वैसे ही प्रीति करना है । उपाय उपेय दोनों श्रीमन्नारायण के स्वरूप हैं, क्योंकि लिखा है कि—उपायोपेयत्वे तदिह तव तत्वं न तु गुणौ ॥ उपायत्व और उपेयत्व ये दोनों आपके स्वरूप हैं, गुण नहीं हैं ॥ इसीसे कहते हैं कि— अचित् से विलक्षण होने का प्रयोजन उपाय में उपकार स्मृति और उपेय में प्रीति ये दोनों हैं ॥७०॥

अब प्रबन्धकर्ता भगवत् प्राप्ति के उपाय को कहते हैं कि—

"त्वन्मनसाकिमैच्छः" इत्युक्तप्रकारेण प्राप्तेरुपाय-स्तदिच्छा ॥७१॥

अर्थ—(त्वत्) तुम्हारे (मनसा) मन से (किम्) क्या तुमने (ऐच्छः) इच्छा की है (इति) ऐसा (उक्तप्रकारेण) सूरि द्वारा कहे हुए प्रकार से (प्राप्तेः) भगवत् प्राप्ति का (उपायः) उपाय (तदिच्छा) भगवत् की इच्छा ही है। अन्य कोई भी उपाय नहीं है। इसीसे कहते हैं कि तुमने अपने मन से क्या विचार किया है, इस प्रकार से भगवत् प्राप्ति का उपाय भगवत् की इच्छा है ॥७१॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि वह भगवत् की इच्छा कब होती है ?

सा च सदा वर्तते ॥७२॥

अर्थ—(च) और (सा) वह भगवत् की इच्छा (सदा) हमेशा (वर्तते) रहती है। इसीसे कहते हैं कि—वह इच्छा सर्वदा रहती है ॥७२॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि वह भगवत् की इच्छा कब फलीभूत होती है ?

सा फलति अस्य चिंता निवृत्ता चेत् ॥७३॥

अर्थ—(सा) वह भगवत् की इच्छा (फलति) फलीभूत होती है (चेत्) जब (अस्य) इस चेतन की (चिन्ता) चिन्ता (निवृत्ता) दूर हो जाती है। इसीसे कहते हैं कि—वह इच्छा फलीभूत होती है इस जीव की चिन्ता निवृत्त होने पर ॥७३॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी तिहत्तरवें सूत्र से कहे हुए अर्थ में विश्वास होने के लिये वेदान्ती स्वामीजी के वचन को कहते हैं कि—

अंतिमकालस्य शरणं तदानीं शरणं किमिति चिन्तानिवृत्तिरिति यतिरवोचत् ॥७४॥

अर्थ—(अन्तिमकालस्य) अन्तिमकाल का (शरणम्) रक्षक, क्योंकि लिखा है कि—शरणं गृहरक्षित्रोः ॥ शरण, गृह और रक्षक को कहते हैं। (तदानीम्) तब (शरणम्) रक्षक (किम्) कौन है (इति) ऐसा किसी रोगी श्रीवैष्णव के पूछने पर (चिन्तानिवृत्तिः) अपनी रक्षा की चिन्ता नहीं करना ही रक्षक है (इति) ऐसा (यतिः) सन्यासी वेदान्ती स्वामीजी

(अवोचत्) कहते हैं। वेदान्ती स्वामीजी की कथा ऐसी है कि एक समय में वेदान्ती स्वामीजी अपने आश्रित रोगी एक श्रीवैष्णव को देखने के लिये उसके पास गये तब उस रोगी वैष्णव ने पूछा है कि हे स्वामिन् दास को अन्तिम काल में रक्षकभूत एक उपाय को बताइये। ऐसा पूछने पर तो वेदान्ती स्वामीजी कहते हैं कि हमारा अब रक्षक कौन है? ऐसी जो अपनी रक्षा की चिन्ता है, इसको नहीं करना ही रक्षक है। —इस बात को यहाँ पर स्मरण करना। इसीसे कहते हैं कि अन्तिम काल का रक्षक अब रक्षक कौन ऐसी चिन्ता न करना ही, ऐसा वेदान्ती स्वामीजी कहते हैं ॥७४॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि प्राप्ता और प्राप्ति से सन्तुष्ट होनेवाला भी ईश्वर ही है।

प्राप्ता च प्रापकश्च प्राप्तेः प्रसन्नश्च स एव ॥७५॥

अर्थः—(प्राप्ता) प्राप्त करनेवाला (च) और (प्रापकः) प्राप्त करानेवाला (च) (प्राप्तेः) प्राप्ति से (प्रसन्नः) सन्तुष्ट होनेवाला (च) भी (सः) वही ईश्वर (एव) ही निश्चय करके है। कारण कि जब इस जीव ने स्वकर्तृक उपाय को छोड़ ईश्वर ही उपाय है ऐसा निश्चय किया है तब प्राप्त होना और प्राप्त होने पर संतुष्ट होना ये दोनों जीव को नहीं उपायभूत सर्वेश्वर को ही होते हैं। इसीसे कहते हैं कि—प्राप्ता तथा प्रापक और प्राप्ति से सन्तुष्ट होनेवाला भी वही ईश्वर है ॥७५॥

अब जगदाचार्यजी पारतन्त्र्य और शेषत्व के फल को कहते हैं कि—

स्वयत्ननिवृत्तिः पारतंत्र्यफलं, स्वप्रयोजननिवृत्तिः शेषत्वफलम् ॥७६॥

अर्थ—(स्वयत्ननिवृत्तिः) भगवत् प्राप्ति के लिये अपने यत्न को छोड़ देना (पारतन्त्र्य फलम्) पराधीनता का फल है (स्वप्रयोजननिवृत्तिः) अपने प्रयोजन को छोड़देना (शेषत्वफलम्) शेषत्व का फल है। इसीसे कहते हैं कि—स्वयत्न निवृत्ति पारतन्त्र्य का फल है और स्वप्रयोजन निवृत्ति शेषत्व का फल है ॥७६॥

अब प्रबन्धकर्ता इस चेतन के प्रयत्न और चेतन के फल को कहते हैं कि—

परप्रयोजन-प्रवृत्तिः प्रयत्नफलं तद्विषयप्रीतिरचैतन्य-फलम् ॥७७॥

अर्थ—(पर प्रयोजन प्रवृत्तिः ईश्वर के प्रयोजन के लिए प्रवृत्ति करना (प्रयत्न फलम्) जीव के प्रयत्न का फल है। जैसे श्रीलक्ष्मणजी ने कहा है कि **अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते। वाल्मीकिरा० भयो० कां० २ स० ३१ श्लोक २७।** आपके सोते हुये और जागते हुए सब कैंकर्य को मैं करूँगा ॥२७॥ और (तद्विषयप्रीतिः) परमात्मा के विषय में प्रेम करना (चैतन्यफलम्) चैतन्य का फल है। जैसे कि यामुनाचार्य स्वामीजी ने कहा है कि—**कदाहमैकान्तिक नित्यकिंकरः प्रहर्षयिष्यामि सनाथ जीवितम् ॥ आलवन्दार० श्लोक ४६ ॥** ऐकान्तिक नित्य कैंकर्य परायण मैं अपने स्वामी सहित जीवन को कब सन्तोष प्राप्त कराउँगा ॥४६॥ इसीसे कहते हैं कि पर प्रयोजन प्रवृत्ति प्रयत्न का फल है और परमात्मा के विषय में प्रीति करना चैतन्य का फल है ॥७७॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि चेतन के अन्तरंग निरूपक दासता ही है।

अहमर्थस्य ज्ञानानन्दौ तटस्थौ दास्यं ह्यन्तरंगनिरूपकम् ॥७८॥

अर्थ :—(अहमर्थस्य) प्रत्यक्तत्व होने से "अहं" ऐसा जानने और व्हवहार करने योग्य जीवात्मा के (ज्ञानानन्दौ) ज्ञान और आनन्द ये दोनों (तटस्थौ) वहिरंग निरूप है। क्योंकि लिखा है कि "स्वरूपमणुमात्रं-स्यात् ज्ञानानन्दैकलक्षणम्" ॥ ज्ञानानन्द लक्षण स्वरुप अणुमात्र है॥ और भी लिखा है कि—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागोजीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते। श्वेताश्वतरोप० अ० ५ श्लो ६॥

केश के अग्रभाग को सौ टुकड़ा करके जो फिर से सौ भाग किया जाता है उसके एक भाग के बराबर जीव होता है और वह जीव अनन्त है

ऐसा जानता चाहिये ॥९॥ और भी लिखा है कि—अणवश्च ॥ वेदा० अ० २ पा० ४ सू० ८ जीवात्मा अणु है ॥८॥ और (हि) निश्चय करके (दास्यम्) दास्य जो शेषत्व है सो जीवात्मा के (अन्तरंगनिरूपकम्) अन्तरंग निरूपक है। इसीसे पाण्डव गीता में लिखा है कि—श्रीपद्मनाभ पुरुषोत्तम देहिदास्यम् ॥ पाण्डवगी० श्लो० २५ ॥ हे श्रीपद्मनाभ! हे पुरुषोत्तम! मेरे लिये आप अपनी दासता को दीजिये ॥ २५ ॥ और भी लिखा है कि श्री श्रीनिवास पुरुषोत्तम देहि दास्यम् ॥ पाण्डवगी० श्लो० २६। हे श्रीश्रीनिवास! हे पुरुषों में उत्तम पुरुष! मेरे लिए आप अपनी दासता को दीजिये ॥ २६ ॥ पुनः नारद पंचरात्र में लिखा है कि—दास्येन च गृहाण माम् ॥ अपनी दासता से मुझको ग्रहण कीजिये और भी लिखा है कि दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। नान्यथालक्षण तेषां बन्धे मोक्षे च विद्यते ॥ पाराशर० ॥ सब जीवात्मा निश्चय करके परमात्मा के स्वतः सिद्ध दास हैं। उन जीवात्माओं के बन्ध में या मोक्ष में अन्य लक्षण नहीं है। इसीसे महावीरजी ने कहा है कि दासोऽहंकोशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ हनूमाञ्छत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥ वाल्मीकिरा० सुन्द० कां० ५स० ४, श्लो० ९॥ शुद्ध कर्म करने वाले कोशलेन्द्र श्री रामजी का मैं दास हूँ, शत्रुओं की सेना को मारने वाला पवन का पुत्र मैं हनुमान हूँ ॥ ९ ॥ उपनिषद् में लिखा है कि—ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्म मे कितवाः ॥ जीव ब्रह्म का दास है, दास है और ये कितव हैं ॥ वेदान्त शास्त्र में लिखा है कि—दासकितवादित्वमधीयत एके वेदा० अ० २ पा० ३ सू० ४३ ॥ दास कितवदास जीव को श्रेष्ठ लोग पढ़ते हैं ॥४३॥ और भी लिखा है कि—दास्यमेवपरं धर्मं दास्यमेव परं हितम्। दास्येनैव भवेन्मुक्तिरन्यथा निरयं व्रजेत् ॥ हारीत० ॥ भगवत् की दासता सबसे परम धर्म है और दासता ही सबसे श्रेष्ठ हित है तथा दासता ही से मुक्ति होती है और भगवत् की दासता न होने से जीव नरक को प्राप्त करता है।

महानिधि रूप इस अर्थ को कूरेश स्वामीजी ने श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामीजी के चरणारविन्दों को सेवा छः महीना करके प्राप्त किया है इसीपे कहते हैं कि—अहमर्थ का ज्ञान तथा आनन्द ये दोनों बहिरंग निरूपक हैं ॥ ७८ ॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि यह दास्य स्वभाव सिद्ध है।

इदं चागन्तुकं न भवति ॥७९॥

अर्थ-(च) और (इदम्) यह प्रकृतदास्य (आगन्तुकम्) आगन्तुक (न) नहीं (भवति) हो सकता है, अर्थात् स्वभाव सिद्ध है। इसीसे यह लिखा है कि—स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि। आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर ॥ यदि तुमको अपने उज्जीवन की इच्छा हो और अपनी सत्ता में रुचि हो तो हमेशा जीवात्मा के दास्य तथा परमात्मा के स्वामित्व इन दोनों को स्वभाव सिद्ध समझो। अक्रूरजी कहते हैं कि -अहमस्मिनारायणदासदासदासानुदासस्य च दासदास. ॥ (पाण्डवगी० श्लोक २०) मैं नारायण के दासों के दासों का दास और उन दासों के दासों का दास हूँ ॥ २० ॥ विराट् ने कहा है कि—वासुदेवस्य ये भक्ताः शान्तास्तद्गतचेतसः तेषां दासस्य-दासोऽहं भवेयं जन्मजन्मनि ॥ (पां० गी० श्लोक २१) जो भगवद्भक्त अपने चित्त को वासुदेवजी में ही लगाते हैं तथा शान्त चित्त हैं उन लोगों का मैं जन्मजन्मान्तर में दास का दास होऊँ ॥ २१ ॥ और भी पद्म-पुराण में लिखा है कि—दासभूतमिदं तस्य ब्रह्माद्यं सकलं जगत् ॥ परमात्मा का यह समस्त आने-जानेवाले ब्रह्मादिक जीव दास हैं। इसीसे कहते हैं कि -यह प्रकृत दास्य आगन्तुक नहीं है स्वभावसिद्ध है ॥ ७९ ॥ अब जगदाचार्यजी आगन्तुक को कहते हैं कि—

स्वातंत्र्यमन्यशेषत्वं चागंतुके ॥८०॥

अर्थ—(स्वातन्त्र्यम्) मैं अपने लिये हूँ ऐसा रहना जो स्वातन्त्र्य है (च) और (अन्यशेषत्वम्) भगवदन्य विषयों में दास्य करना जो अन्य शेषत्व है ये दोनों (आगन्तुके) इस चेतन की अविद्या आदि कारण से आये हुए हैं। इसीसे कहते हैं कि स्वातन्त्र्य और अन्यशेषत्व ये दोनों आगन्तुक हैं। ८० ॥

अब लोकाचार्य स्वामी यह कहते हैं कि ये दोनों इस शेषत्व के विरोधी हैं।

शेशत्वविरोधि स्वातंत्र्यं तच्छेषत्वविरोधि तदितरशेषत्वम् ॥८१॥

अर्थ—(शेषत्वविरोधी) शेषत्व का विरोधी (स्वातन्त्र्यम्) स्वातंत्र्य है अर्थात् जब यह चेतन मैं मेरे लिये हूँ ऐसा समझता है तब किसी एक

विषय में भी शेषत्व न होने से स्वातंत्र्य शेषत्व को रोकता है और (तच्छेषत्वविरोधि) परमात्मा के शेषत्व का विरोधी (तदितरशेषत्वम्) भगवत् से अन्य शेषत्व है। अर्थात् स्वातंत्र्य नष्ट हो शेषत्व को अंगीकार करने पर भी भगवद् व्यतिरिक्त विषयों में एक का अपने को शेष मानना यह निरुपाधिकशेषों परमात्मा के शेषत्व को रोकता है। इसीसे कहते हैं कि — शेषत्व का विरोधी स्वातंत्र्य है और परमात्मा के शेषत्व का विरोध भगवदन्यशेषत्व है ।।८१।।

अब श्री वचनभूषणकार यह कहते हैं कि स्वतः सिद्ध चेतन का नाम दास ही है।

अहंकाररूपमालिन्यनिवर्तने आत्मनोऽवि-
नश्यन्नाम दास इति हि ।।८२।

अर्थ — (अहंकाररूप मालिन्यनिवर्तने) स्वातन्त्र्यरूपअहंकार की मलिनता को सदाचार के उपदेशादि से वासना सहित दूर करने पर तो (हि) निश्चय करके (आत्मनः) जोवात्मा का (अविनश्यन्) विनाश रहित स्वतः सिद्ध (नाम) नाम (दासः) दास (इति) ऐसा है। अतएव पराशरीय धर्मशास्त्र के उत्तरखण्ड में लिखा है कि — योजयेन्नामदासान्तं भगवन्नामपूर्वकम् ।। आचार्य ने भगवन्नाम पूर्वक दासन्तनाम शिष्य का रखा। पुनः वृद्धहारीत स्मृति में लिखा है कि—दद्यात्तन्नामदासान्तं भगवन्नामपूर्वकम् ।। आचार्य भगवन्नाम पूर्वक दास शब्द अन्त में हो ऐसा नाम शिष्य के लिए दें। इसीसे कहते हैं कि — अहंकाररूप मलिनता के दूर करने पर तो जोवात्मा का अविनाशीस्वतः सिद्ध नाम दास ही है ।।८२।।

अब ग्रन्थकर्ता यह कहते हैं कि इस चेतन का नाम कुल आदिकों से होनेवाले अनर्थ का हेतु है।

ग्रामकुलादिप्रयुक्तं नामानर्थहेतुः ।।८३।।

अर्थ — (ग्रामकुलादि प्रयुक्तम्) ग्राम, कुल, वर्ण आश्रम आदि से होनेवाले (नाम) नाम अहंकार जनक होने से (अनर्थ हेतुः) स्वरूप अनर्थ को करता है। क्योंकि वृद्धहारीत में लिखा है कि — यस्य वै वैष्णवं नमः नास्ति चेत्तु द्विजन्मनः । अनामकः स विज्ञेयः सर्वकर्मसु गर्हितः ।।

जिस ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का भगवत् सम्बन्धी वैष्णव का नाम नहीं है उसको बिना नाम को जानना चाहिये और वह सम्पूर्ण कर्मों में निन्दित है ऐसा जानना चाहिये। इसीसे कहते हैं कि– ग्राम कुलादिकों से होने वाला नाम अनर्थ का हेतु है ॥८३॥

अब जगदाचार्यजी तिरासी सूत्र से कहे हुए अर्थ में प्रमाण दिखाते हैं कि—

एकान्ती व्यपदेष्टव्यः ॥८४॥

अर्थ — (एकान्ती) महात्मा (व्यपदेष्टव्यः कहा जाता है। इस चौरासी सूत्र में "एकान्तीव्यपदेष्टव्यः" यह पद श्लोक का प्रतीक है, वह श्लोक इस प्रकार का है कि एकान्तीव्यपदेष्टव्यो नैव ग्रामकुलादिभिः। विष्णुनाव्यपदेष्टव्यस्तस्य सर्वं स एव हि ॥ एकान्ती महात्मा ग्राम कुलादिकों से नहीं कहा जाता है। विष्णु से ही कहा जाता है क्योंकि एकान्ती का ग्रामकुलआदि सब विष्णु ही हैं। इसीसे कहते हैं कि— भगवदेकपर एकान्ती चेतन कहा जाता है। इति श्रीवचनभूषणे उपाय-वैभवनामद्वितीयप्रकरण उभयसाधाण उपायसाधनवैभवः समाप्तः ॥

॥ इति श्रीवचनभूषणे उपायवैभव नाम द्वितीयप्रकरणं समाप्तम् ॥

। अथ अधिकारिवैभवनाम तृतीयप्रकरणम् ॥

॥ अथ अधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणे अधिकारी शोधनम् ॥

अब श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी ॥ **उपायस्य ज्ञानक्रीवत् द्रौपदीवत् तिरुक्कण्णमङ्गैयाण्डान्वत् वर्तेत उपेयस्य बालस्वामिवत् महाराजवत् पिल्लैतिरुनरैयूरैयर्वत् चिन्तयन्तीवच्च वर्तेत ॥ श्रीवचनभू० सू० ८५ ॥** इस सूत्रसे लेकर ॥ **एत एकस्मादेकः क्रूरः उपाय विरोधिनः उपेयविरोधिनश्च ॥ श्रीवचनभू० सू० ३२६ ॥**

इस सूत्र पर्यन्त अधिकारी वैभव नाम के तृतीय प्रकरण को कहते हैं ॥ जिसमें अधिकारी शोधन के प्रकार को विस्तार पूर्वक कहते हुये ग्रन्थ-कर्ता पहले उपाय और उपेय के अधिकारों में इस चेतन को अमुक २ प्रकार से रहना चाहिये इस अर्थ को उपाय और उपेय में निष्ठा करने वाले अधिकारियों को दृष्टांत देकर कहते हैं कि—

उपायस्य जानकीवत् द्रौपदीवत् तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान्वत् वर्तेत। उपेयस्य बालस्वामिवद् महाराजवत् पिल्लैतिरुनरैयूररैयर्वत् चिन्तयन्तीवच्च वर्तेत ॥८५॥

अस्मद्देशिकमस्मदीयपरमाचार्यानशेषान् गुरुन् श्रीमल्लक्ष्मणयोगि पुंगवमहापूर्णौ मुनिं यामुनं। रामं पद्मविलोचनं मुनिवरं नाथं शठद्वेषिणं, सेनेशं श्रियमिन्दिरासहचरं नारायणं संश्रये ॥१॥

अर्थः—(उपायस्य) उपायाधिकार के लिये (जानकीवत्) सीताजी के समान तथा (द्रौपदीवत्) द्रौपदी के समान और (तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान्वत्) तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान् के समान (वर्तेत) रहना चाहिये और (उपेयस्य) उपेयाधिकार के लिए (बालस्वामिवत्) श्रीलक्ष्मणजी के समान तथा (महाराजवत्) श्री जटायु के समान और पिल्लैतिरुनरैयूररैयर्वत्) पिल्लैतिरुनरैयूररयर के समान (च) और (चिन्तयन्तीवत्) चिन्तयन्ती के समान (वर्तेत) रहना चाहिये। इसीसे कहते हैं कि — उपाय के लिये श्रीसीताजी तथा द्रौपदी और तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान् के समान रहना चाहिये और उपेय के लिये श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीजटायु और पिल्लैतिरुनरैयूररैयर् तथा चिन्तयन्ती के समान रहना चाहिये ॥८५॥

अब श्री जगदाचार्यजी श्रीसीताजी और द्रौपदी के अनुष्ठानों को दिखाने के लिये पहले दोनों की विलक्षणता को कहते हैं कि—

जानक्या द्रौपद्याश्च तारतम्यं शक्तिश्चाशक्तिश्च ।८६।

अथ—यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सबान्धवम्। मामितो गृह्य गच्छेत तत्तस्य सदृशमेव ॥ वा०रा० सु० ५ स०३७श्लो०६४।

यदि श्रीरामजी यहाँ पर बान्धवों सहित रावण को मार कर मुझको यहाँ से ले जायेंगे। तब वह उनके अनुरूप होगा ॥६४॥ ऐसा कहनेवाली (जानक्याः) श्रीसीता जी के (च) और प्रपन्नां पाहि गोविन्द ॥ महाभा० सभाप० २ अ० ६८ श्लो० ४३ ॥ हे गोविन्द प्रपत्ति करने वाली मुझको रक्षा कीजिये ॥३३॥ ऐसा कहनेवाली (द्रौपद्याः) द्रौपदी की (तारतम्यम्)

विलक्षणता (शक्तिः) शक्ति (च) और (अशक्तिः) अशक्ति (च) ही है अर्थात् श्रीसीताजी ने –शीतोभव हनूमतः ॥ वाल्मीकि० सु० ५ स० ५३ श्लोक २७ ॥ शीत हो जाओ ऐसा कहकर जैसे अग्नि को शीतल बनाया वैसे जल जाओ ऐसा कहकर विरोधी वर्ग को भस्म भी कर सकती थी। यह श्रीसीता में शक्ति थी और द्रौपदी में वस्त्र बढ़ाने की शक्ति नहीं थी। इसीसे कहा है कि— श्रीसीताजी और द्रौपदी का वैलक्षण्य शक्ति और अशक्ति है ॥८६॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि उन्होंने सब तत्तत् पदार्थों को छोड़ा है।

जानकी स्वशक्तिमत्यजत्, द्रौपदीलज्जामत्यजत्, तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान् स्वव्यापारमत्यजत् ॥८७॥

अर्थ –(जानकी श्रीसीताजी ने (स्वशक्तिम्) अपनी शक्ति (अत्यजत्) छोड़ दी है तथा (द्रौपदी) द्रौपदी ने (लज्जाम्) अपनी लज्जा (अत्यजत्) छोड़ दी है और (तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान्) तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान् महात्मा ने (स्वव्यापारम्) अपने व्यापार को (अत्यजत्) छोड़ दिया है। ज्ञानाधिक होने से श्री सीताजी ने स्वामी ही रक्षक हैं ऐसा विश्वास कर अपनी शक्ति को छोड़ दिया है। श्री सीताजी में रावणादि को भस्म करने की शक्ति थी। यह वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् । न त्वां कुर्मिदशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥ वा० रा०सु०काँ०५स० २२श्लोक० २० ।

हे रावण! श्रीरामजी की आज्ञा न होने से और पारतन्त्र्य स्वरूप तपस्या के पालन करने से, भस्म करने योग्य अपने तेज से तुमको भस्म नहीं करती हूँ ॥२०॥ इससे साबित होता है कि श्री सीताजी ने अपनी शक्ति को छोड़ दिया है। तथा महाभारत के सभापर्व के अरसठवें अध्याय में स्पष्ट यह लिखा है कि –सती आपद्दशा में श्रीकृष्ण ही रक्षक हैं, ऐसा विश्वास करके द्रौपदी ने सभा के बीच में अपनी लज्जा छोड़ दी है और तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान् ने अपने व्यापार को छोड़ दिया है। यह कथा ऐसी है कि एक नौकर ने किसी दूसरे के नौकर के कुत्ते को मारा तब वह कुत्ता जिस नौकर का था वह नौकर मारने वाले

नौकर को मारकर अपने भी मर गया। इस वृतान्त को देखकर तिरुक्कण्णमगैयाण्डान् महात्मा ने सोचा कि एक क्षुद्र चेतन अपने अभिमत कुत्ता के लिये मर गया तो परम चेतन सर्वेश्वर के अभिमान में अन्तर्भूत होने पर वह क्या उद्धार न करेगा? ऐसा विचार कर अपनी रक्षा के व्यापारों को छोड़कर उस कुत्ते के समान अपने को मानकर उसी समय दिव्य देश में जाकर भक्तजोव नामक भगवान के द्वार पर लोटने लगे। इसीसे कहते हैं कि—श्री सीताजी ने अपनी शक्ति छोड़ दी तथा द्रौपदी ने अपनी लज्जा छोड़ दी और तिरुक्कण्णमंगैयाण्डान् ने अपने व्यापार को छोड़ दिया ॥८७॥

अब जगदाचार्यजी उपेयाधिकारियों में प्रधान श्रीलक्ष्मणजी के प्रकार को विस्तारपूर्वक कहते हैं कि—

क्षुधिता यथा पक्वमन्नं भोक्तव्यं पच्यमानं च भोक्तव्यमिति वदन्ति तथा स्वामिनि वनं गच्छति बालस्वामी विश्लेषे धारणाभावं पुरस्कृत्य कैंकर्यं कर्तव्यं सकलविधकैंकर्यं च कर्तव्या प्रेरणा च कर्तव्येत्यवोचत्। पुरप्रवेशानन्तरं वने एकान्ते स्वयंपाके उदरवर्धनात् सह भोक्तुमक्षमः एकहस्ते श्रीमच्छ्वेतच्छत्रमन्यहस्ते श्रीमच्छ्वेतचामरं च धृत्वा कैंकर्यमकरोत्

॥ ८८ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (क्षुधिता) भूखे हुए चेतन (पक्वम्) पकाया हुआ (अन्नम्) अन्न (भोक्तव्यम्) भोजन करेंगे (च) और (पच्यमानम्) जो अन्न पाक किया जायेगा उसको भी भोजन करेंगे (इति) ऐसा (वदन्ति) कहते हैं (तथा) जैसे (स्वामिनि) श्रीरामजी के (वनम्) वन में (गच्छति) जाने के समय में (बालस्वामी) श्रीलक्ष्मणजी ने (विश्लेषे) श्रीरामजी के विश्लेष में (धारणाभावम्) धीरज के अभाव को (पुरस्कृत्य) पुरस्कार से (कैंकर्यम्) कैंकर्य (कर्तव्यम्) करूँगा (च) और (प्रेरणा) प्रेरणा

(कर्तव्या) करने योग्य मैं हूँ (इति) ऐसा (अवोचत्) कहा है (पुरप्रवेशानन्तरम्) अनन्तर चौदह वर्षों के बाद अयोध्यापुरी में प्रवेश करने पर (वने) वन में (एकांते) एकान्त में (स्वयम्) अपने (पाके) स्वयं पाक द्वारा (उदरवर्धनात्) पेट को बढ़ाने से (सह) एक साथ पंगति में (भोक्तुम्) भोजन करने के लिये (अक्षमः) असमर्थ हो (एक हस्ते) एक हाथ में (श्रीमत्) शोभा या सम्पत्ति वाला (श्वेतच्छत्रम्) सफेद छाता (च) और (अन्यहस्ते) दूसरे हाथ में (श्रीमत्)शोभा या संपत्तिवाला (श्वेतचामरम्) सफेद चवँर (धृत्वा) धारणकर (कैंकर्यम्) श्रीरामजी की सेवा (अकरोत्) की है। यह वाल्मीकि रामायण के अयोध्या कांण्ड के इकतिसवें सर्ग में लेखा है कि श्रीरामजी के वन जाने के समय श्री लक्ष्मणजी ने कहा है कि—अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ वा० रा० अयो० कां० २ स० ३१ श्लोक ३ ॥ धनुष को धारण करके पहले मैं ही आपके पीछे से चलूँगा ॥ ३ ॥ इस प्रकार बहुत कहने पर तो श्री रामजी कहते है कि—सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥ वा० रा० अयोध्या कां० २ स० ३१ श्लोक १५ ॥ हे लक्ष्मण ! तुम कौशल्या को पोषण करो और कहे हुए इस अर्थ को करो अर्थात् वन में तुम मत चलो ॥१५॥ इस प्रकार श्रीरामजी के बहुत निषेध करने पर, फिर से श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि— **कुरुष्व मामनुचरं नैवधर्म्यं नेह विद्यते। कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते ॥ वा० रा० अयोध्याकां० २ स० ३१ श्लोक २४ ॥ धनुरादाय संपूर्णं खनित्रपिटकाधरः। अग्रतस्ते गमिष्यामि पंथानं तव दर्शयन् ॥२५॥ आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च। वन्यानि यानि चान्यानि स्वाहाराणि-तपस्विनाम् ॥२६॥ भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते। अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्चते ॥ २७ ।** हमको आप अपना अनुचर बनाइये, उसमें कोई अधर्म नहीं है। मैं कृतार्थ होऊँगा और आपका भी प्रयोजन सिद्ध होगा ॥२४॥ और धनुष को चढा कर खनित और टोकरी लेकर आपको रास्ता बताते हुए आपके सामने चलूँगा ॥२५॥ और प्रतिदिन आपके लिये कन्द मूलों को और वन में होनेवाले अन्य फलों को तथा तपस्वियों के आहार करने योग्य फलों को मैं

लाऊँगा ॥२६॥ और आप श्रीसीताजी के साथ पहाड़ों की चोटियों पर जब क्रीड़ा करेंगे तब मैं सोते या जागते हुए आपके सब प्रकार के कैंकर्य को करूँगा ॥२७॥ इस प्रकार वारम्बार श्रीलक्ष्मणजी के कहने पर साथ लेकर गंगा के पार जाने पर फिर भी श्रीरामजी कहते हैं कि—

अयोध्यामित एव त्वं काले प्रविश लक्ष्मण ॥ वा० रा० अयो० कां० २ स० ५३ श्लो० १६ ॥ हे लक्ष्मण! इसी समय में तुम यहाँ से अयोध्या चले जाओ ॥१६॥ इस प्रकार बहुत कहने पर तो फिर से श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि— **न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव । मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ वा० रा० अयो० कां० २ स० ५३ श्लोक० ३१ ॥ न हि तातं न शत्रुघ्नं न मित्रां परंतप । द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं च त्वया विना ॥३२॥** हे रघव! आपको छोड़कर श्रीसीताजी और मैं दोनों जल से बिछड़ी मछलियों की तरह क्षण भर भी नहीं जी सकते हैं ॥३१॥ और हे परंतप श्रीरामजी! आज आपके बिना मैं पिता को तथा सहोदर शत्रुघ्न को और माता को तथा स्वर्ग लोक को भी नहीं देखने की इच्छा करता हूँ ॥३२॥ इस प्रकार कहने पर जब श्रीरामजी पंचवटी में गये हैं तो कहते हैं कि **-आश्रमः कतर स्मिन् देशे भवति सम्मतः । वा० रा० अरण्यकां० ३ स० १५ श्लोक ३॥** हे लक्ष्मण! हम सबों का आश्रम किस देश भाग में होना तेरा सम्मत है? ॥३॥ इस प्रकार के कहने पर तो श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि— परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते । स्वयं तु रोचरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥ वाल्मीकि रा० अरण्यकां० ३ स० १५ श्लोक ७ ॥ हे श्रीराम भगवन्! आप जब तक रहेंगे तब तक मैं परतंत्र हूँ इसलिये आप ही अपने इच्छित देश में आश्रम बनाने को मुझे आज्ञा दीजिये ।७॥ इन पूर्वोक्त कथनों से यह साबित होता है कि श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के विश्लेष को क्षणभर भी नहीं सह सकते और परतंत्र रहकर सब प्रकार का सर्वदा कैंकर्य करते थे। वन से अयोध्या में आने पर श्रीरामजी के अभिषेक के समय में श्रीलक्ष्मणजी ने एक हाथ से छत्र और दूसरे हाथ से चँवर धारण करके भगवत् का कैंकर्य किया है। यह पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के उन्चासवें अध्याय में लिखा है कि—छत्रं च चामरं

दिव्यं धृत्वा ल्लक्ष्मणस्तदा ॥ पद्मपु० उत्तरखं०अ० ४६॥ तथा अभिषेक के समय श्रीलक्ष्मणजी ने एक हाथ से दिव्य सफेद छाता और दूसरे हाथ से दिव्य सफेद चँवर धारण किया। इसी से कहते हैं कि— जैसे क्षुधातुर लोग पाक किया हुआ और जो पाक किया जायगा उस अन्न को भी भोजन करेंगे ऐसा कहते हैं वैसे अरण्य जाने के समय श्री लक्ष्मणजी ने राम के विश्लेष में धीरज को छोड़कर मैं सब प्रकार के कैंकर्य को करूँगा, आपको प्रेरणा भी चाहिये ऐसी प्रार्थना की है। अनन्तर चौदह वर्षों के बाद अयोध्या में प्रवेश करने पर अरण्य में एकान्त में अपने स्वयपाक से पेट को बढ़ा करके, साथ पंक्ति में भोजन करने को असमर्थ हो एक हाथ से सफेद छाता और दूसरे हाथ से सफेद चँवर को भी धारण कर कैंकर्य किया है ॥८८॥

अब प्रबन्धकर्त्ता श्री जटायु और पिल्लैतिरुनरैयूररैर आचार्य के प्रकार को कहते हैं कि—

महाराजः पिल्लैतिरुनरैयूररैयर आचार्यश्च शरीरमुपेक्षताम् ॥

अर्थ—(महाराजः) महाराज जटायु (च) और पिल्लैतिरुनरैयूररैयर आचार्यः) पिल्लैतिरुनरैयूररैयर आचार्य इन दोनों ने शरीरम् अपने अपने शरीर की (उपेक्षताम्) उपेक्षा कर दी है। अर्थात् गृध्रराज जटायु ने अपने शरीर की उपेक्षा कर दी है। यह वाल्मीकि रामायण के अरण्य काण्ड के पचासवें और एकानवें सर्गों में लिखा है। यह कथा ऐसी है कि जब अचानक आकर रावण ने सीताजी को हरण किया तब श्री-सीताजी ने जटायु को वृक्ष के ऊपर देखकर कहा कि हे जटायु तुम देखो यह पापी मुझको हरण कर ले जा रहा है। सोये हुए जटायु ने ऐसे आर्त्त शब्द सुनकर रावण से हरी हुई सीता को देखकर रावणको अनेक प्रकार का धर्मोपदेश दिया तौभी जब क्रूर रावण नहीं माना तब जटायु कहते हैं कि— न हि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम् ॥ वा० रा० ३।५०।२६ हमारे जीते हुए इस श्रीसीता को तुम नहीं ले जा सकते हो ॥२६॥ खड़ा रहो मुझ से संग्राम करो ऐसा कहकर रावण के साथ घोर संग्राम किया और अन्त में— स च्छिन्नपक्षः सहसा रक्षसा रौद्रकर्मणा। निपपात हतोगृध्रो धरण्यामल्पजीवितः ॥ वा० रा० ३।५१।४३ रौद्रकर्म

वाले रावण ने जब गृध्रराजकी पाँख काट दी तब एकाएक अल्प प्राणवाले जटायु पृथ्वी में गिर गये इसके बाद–त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य प्राणा जग्मु-विहायसम् ॥ वा० रा० ३।६८।१७ जटायु महाराज के प्राण शरीर को छोड़कर स्वर्ग लोक को चले गये ॥१७॥ इस प्रकार महाराज जटायु ने शरीर को छोड़ दिया ॥ पिल्लैतिरुनरैयूररैयर आचार्य ने भी अपने शरीर को छोड़ दिया है। यह कथा ऐसी है कि एक समय में पिल्लैतिरुनरैयूर-रैयर आचार्य अपने कुटुम्ब के साथ तिरुनारायणपुरमें वेदनारायण भगवान को दर्शन करनेके लिए मन्दिरमें बैठे थे कि उसी समय में नास्तिकोंने उस मन्दिर में आग लगा दी तब भीतर के सब लोग बाहर भाग गये, परन्तु पिल्लैतिरुनरैयूररैयर आचार्य ने वेदनारायण भगवान् के दिव्य मंगल विग्रहको जलते हुए देख असहाय हो अधिकप्रेम से आप भी मरने की तैयारी की और इनके पुत्रने भी इनका साथ नहीं छोड़ा, बस वे सब उस मन्दिर के भीतर जलकर भस्म हो गये, यह बात प्रसिद्ध है। इसी से कहते हैं कि गृध्रराज जटायु और पिल्लैतिरुनरैयूररैयर आचार्य इन दोनों ने अपने शरीर की उपेक्षा कर दी है ॥८९॥

अब श्रीवचनभूषणकार चिन्तयन्ती के शरीर निवृत्त होने के प्रकार को कहते हैं कि—

चिन्तयंत्या देहः स्वतः एव गत ॥९०॥

अर्थ—(चिन्तयंत्या) चिन्तयन्ती नाम वाली गोपीका (देहः) शरीर (स्वतः) अपने से ही (एव) निश्चय करके (गतः) निवृत्त हुआ। अर्थात् चिन्तयन्ती का शरीर स्वय ही निवृत्त हुआ है। यह लिखा हुआ है कि— काचिदावसथस्यान्ते स्थित्वा दृष्ट्वा बहिर्गुरुम्। तन्मयत्वेन गोविन्दं दध्यौ मीलितलोचना ॥ तच्चिंतविमलाह्लादक्षीणपुण्यचया तदा। तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ॥ चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्म-स्वरूपिणम्! निरुच्छासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥ कोई गोपीघर के भीतर रहनेवाली बाहर श्वसुर आदि को देखकर श्रीकृष्ण भगवान् के पास मैं जा नहीं सकी तब आँख मूँद तन्मय हो गोविन्द का उसने ध्यान किया। श्रीकृष्ण में चित्त लगाने से महानन्द की प्राप्ति द्वारा पुण्य के समूहों से रहित हुई ध्यान से निवृत होने पर श्रीकृष्ण की अप्राप्ति जान जो महादुःख उसने पाया उससे पापरहित हुई। जगत् सृष्टिकर्ता परब्रह्मस्वरूपी श्रीकृष्ण भगवान का चिन्तन करती हुई उस गोपी ने

श्वास बन्द की और वह गोपकन्या मुक्त हो गई। इसी से कहते हैं कि— चिन्तयन्ती गोपी का शरीर बिना यत्न स्वयमेव निवृत्त हुआ ॥९०॥

अब जगदाचार्यजी इस प्रकार दृष्टान्तभूतों के प्रकार को कहकर इसके समान रहना इसके अभिप्राय को कहते हैं कि—

उपायस्य शक्तिर्लज्जा यत्नश्च त्याज्याः, उपेयस्य प्रेम स्वोपेक्षाधारणाभावश्चापेक्षिताः ॥९१॥

अर्थ –(उपायस्य) उपायाधिकारी होने के समय (शक्तिः) अपनी रक्षा करने के अनुगुण शक्ति तथा (लज्जा) अपने स्वीकृत उपाय के विरोधियों को छोड़ने पर लोगों के हास्य को देख लज्जा (च) और (यत्नः) स्वपारतन्त्र्य विरोधी स्वयत्न ये तीनों (त्याज्याः) छोड़ने योग्य हैं (च) और (उपेयस्य) उपेयाधिकारी होने के समय (प्रेम) स्वामी को न छोड़ उनकी आज्ञानुसार सब कैंकर्य करूँ ऐसा प्रेम तथा (स्वोपेक्षा) स्वामी को कोई आपदा आने पर देखने में असमर्थ हो अपने शरीर की उपेक्षा और (धारणाभावः) स्वामी के दिव्य मंगल विग्रह का अनुभव प्राप्त होने से धारणा शक्ति द्वारा श्वास बन्द होना ये तीनों (अपेक्षिताः) अपेक्षित हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि धारणा किसको कहते हैं? इसका उत्तर योगदर्शन में लिखा है कि–देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ यो० अ० १ पा० ३ सू० १॥ चित्त का जो किसी देश का बाँधना है वही धारणा है ।१। इसीसे कहते हैं कि–उपाय के लिये शक्ति तथा लज्जा और स्वयत्न ये तीनों निवृत होना चाहिए और उपेय के लिये प्रेम तथा अपने शरीर का अनादर और धारणाभाव ये तीनों अपेक्षित हैं ॥९१॥

अब यहाँ पर यह सन्देह होता है कि ऐसा साक्षात् भगवान् ने कहा है कि–अग्निप्रवेशं यश्चापि कुरुते तद्गतात्मना। स यात्यग्निप्रकाशेन विमानेन ममालयम् ॥ हमारे विषय में चित्त को लगाकर जो मनुष्य अग्नि में प्रवेश करता है वह अग्नि के समान प्रकाशवाले विमान में बैठकर हमारे स्थान को जाता है ॥ तो अनन्योपाय को स्वीकार करनेवाले पिल्लैतिरुनरैयूररैयर आचार्य ने अपने शरीर त्यागरूप उपाय का अनुष्ठान कैसे किया है। इसका उत्तर साक्षात् लोकाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि—

अस्य वैधतया आगतो हि त्याज्यः, रागप्राप्ततयाऽऽगतस्त्यक्तुं न शक्यते खलु ॥९२॥

अर्थ—(अस्य) इस प्रपन्न जन का (वैधतया) विधान करके (आगतः) आया हुआ स्वरूपानरूप होने से (हि) निश्चय करके (त्याज्यः) त्याग करने योग्य होता है और (रागप्राप्ततया) भगवत् प्रीति प्राप्त करके (आगतः) आया हुआ (खलु) निश्चय करके (त्यक्तुम्) त्याग करनेके लिये (न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकता है। इसीसे कहते हैं कि—इसका विधि द्वारा आनेवाले त्याज्य होते हैं और राग प्राप्त हो आनेवाला त्यागने को अशक्य हैं ॥९२॥

उपायत्वानुसन्धानं निवर्तकम् उपेयत्वानुसन्धानं प्रवर्तकम् । ९३॥

अब प्रबन्धकर्ता निवर्तक और प्रवर्तक को कहते हैं कि—

अथ—(उपायत्वानुसन्धानम्) उपायत्वानुसन्धान (निवर्तकम्) निवर्तक है अर्थात् विधिरूप से जब आता है तब देह त्यागरूप प्रवृत्ति में उपायत्वानुसन्धान करने से यह अनुसन्धान साधन तथा निश्चित इस देह त्यागरूप प्रवृति से निवृत करता है और (उपेयत्वानुसन्धानम्) उपेयत्वानुसन्धान (प्रवर्तकम्) प्रवर्तक है। अर्थात् राग प्राप्त होने के समय इस विषय को हानि को देखने की अपेक्षा न करना ही अच्छा है ऐसा समझ देह त्याग को पुरुषार्थतया अनुसन्धान करने से वह अनुसन्धान इस चेतन को देहत्याग में लगाता है। इसीसे कहते हैं कि—उपायत्वानुसन्धान निवर्तक है और उपेयत्वानुसन्धान प्रवर्तक है ॥९३॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि भगवद्विषय में अधिक प्रेम होने से अपने शरीर का छोड़ने की इच्छा हो जाती है।

अप्राप्तविषयेषु सक्ते तल्लाभ आवश्यक इति स्थिते सति प्राप्तविषयप्रवणस्य न वक्तव्यं खलु ॥ ९४॥

अर्थ (अप्राप्तविषयेषु) स्वरूप प्राप्त न होने वाले मनुष्य बुरे विषयों में (सक्ते) आसक्त होने पर अपने प्राण को छोड़कर भी

(तल्लाभः) उस विषय का लाभ (आवश्यकः) आवश्यक मानते हैं (इति) ऐसा (स्थिते) स्थित (सति) रहने पर तो (प्राप्तविषय-प्रवणस्य) स्वरूप प्राप्त विलक्षण विषय परमात्मा में आसक्त पुरुष के विषय में (खलु) निश्चय करके (न) नहीं कुछ (वक्तव्यम्) कहने योग्य है। इस विषय में एक ऐसी कथा है कि एक वेश्या में अति आसक्त पुरुष ने उस वेश्या को बीमारी होने पर काली देवी के सामने प्रार्थना की कि इस वेश्या की बीमारी दूर होने पर मैं अपने शिर को काटकर तुम्हें चढ़ाऊँगा इसके बाद वेश्या की बीमारी दूर होने पर उसने अपने शिर को काटकर चढ़ा दिया यह बात प्रसिद्ध है। इसीसे कहते हैं कि अप्राप्त विषयों में आसक्त पुरुष उसको प्राप्त करने के लिये व्याकुल होता है तो प्राप्तविषय में आसक्त होनेवाले पुरुष को कहना ही क्या है ॥९४॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि अनुष्ठान और अननुष्ठान ये दोनों उपाय कोटि में नही गिने जाते हैं।

अनुष्ठानं चाननुष्ठानं चोपायकोटौ नान्वेति ॥९५॥

अर्थ—(अनुष्ठानम्) अनुष्ठान (च) और (अननुष्ठानम्) अननुष्ठान (च) भी ये दोनी (उपायकोटौ) उपायकोटिमें (न) नही (अन्वेति) गिने जाते हैं। इसीसे कहते हैं कि अनुष्ठान और अननुष्ठान ये दोनों उपाय कोटि में नहीं गिने जाते हैं ॥९५॥

अब प्रबन्धकर्ता भगवत् के प्रेमपरवशों की प्रवृत्तियों को कहते हैं कि—

अनन्योपायत्वमनन्योपेयत्वं अनन्यदेवत्वं च यथा नष्टंस्यात्तथा प्रवृत्तिं पश्यामः ॥९६॥

अर्थ - अनन्योपायत्वम्) अनन्योपायत्व (च) और (अनन्योपेयत्वम्) अनन्योपेयत्व तथा (अनन्यदेवत्वम्) अनन्य देवत्व, ये तीनों (यथा) जैसे (नष्टम्) नाश (स्यात्) हो जायेंगे (तथा) वैसे (प्रवृत्तिम्) प्रवृत्ति को (पश्यामः) देखते हैं। अर्थात् अनन्योपायत्व को नाश करने की प्रवृत्ति को अधोलिखित वाक्यों में देखते हैं, जैसे कि " सम्यक् व्रतमनुतिष्ठामि" अच्छी तरह व्रत करता हूँ "अनुष्ठीयमानं व्रतं बुध्यस्व" हमारे व्रतानुष्ठान को तुम जानो "कुत्सितस्त्री सती मण्डलग्रहणं करोमि" दुष्ट स्त्री हो मैं

मडल ग्रहण करती हूँ "श्रीनामग्रहणं कृत्वा" श्रीनामों को ग्रहणकर "ग्रहणान्न निवर्तेहं दीर्घस्पृहणीयतालशाखायाः" मैं विशाल ताल शाखा लिए बिना नहीं रहूँगी "लोकस्था यथा जानीयुस्तथा ग्रहणं करोमि" जैसे लोग जाने वैसे मडल ग्रहण करती हूँ। और इस प्रकार से इन स्थलों में अनन्योपायत्व के नाश करने कीप्रवृत्ति को देखते हैं। "अस्माकमेवानन्दः" हम सबों को ही आनन्द होगा "परिशुद्धदलशीतलसुन्दरतुलसीं गृहीत्वाऽलंकुर्म." अत्यन्त शुद्ध दल शीतल तुलसी को मैं धारण करूँगी इन स्थलों में अनन्योपेयत्व को नाश करने की प्रवृत्ति को देखते हैं और इस प्रकार से "कामदेव त्वां त्वदनुजं चाश्र ये" हे कामदेव तुमको और तेरे भाई को आश्रय करती हूँ "वक्तव्यमेकमस्त्यत्र मत्स्वामिन्" कहने का एक बात यहाँ पर है, ऐ मेरे स्वामिन् ! इन स्थलों में अनन्य देवत्व को नाश करने की प्रवृत्ति को देखते हैं। इसीसे कहते हैं कि – अनन्योपायत्व तथा अनन्योपेयत्व और अनन्यदेवत्व ये तीनों जैसे नाश हों वैसे प्रवृत्तियों को देखते हैं ॥९६॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि भक्ति से होनेवाला अज्ञान से आया हुआ सब ही अमूल्य है।

ज्ञानविपाककार्याज्ञानेनागताः सर्वे पदे सुवर्णार्घाः । ९७॥

अर्थः – (ज्ञानविपाककार्याज्ञानेन) ज्ञान के विपाकरूप जो भक्ति है उस भक्त्यातिशय से होनेवाले जो प्राप्ताप्राप्त विवेकाभावरूप अज्ञान है उस अज्ञान से (आगताः) आये हुये (सर्वे) सब प्रवृत्तिविशेष (पदे) पद पद में (सुवर्णार्घाः) अमूल्य हैं या अति श्लाघ्य हैं। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ज्ञान किसको कहते हैं ? उत्तर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजो ने दिया है कि—**अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः । [गी० १३।७] इन्द्रियार्थेषुवैराग्यमनहंकार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् । ८॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु । ९॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।**

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अपनी प्रशंसा न करना या उत्कृष्ट जनों की अवधीरणा न करना, अपना धर्म किसी से न जनाना, मन वाणी और देह से किसी जीव को दुःख न देना, दूसरे से दुःख पाने पर भी उसके उपर विकारयुक्त चित्त न करना कोमलता, आत्मज्ञान देखनेवाले आचार्य की सदा शुश्रूषा आदि से सेवन करना, शरीर के मल को मिट्टी तथा जल से धोना और भीतर के मल को ध्यानादि से दूर करना, वेदान्त के अर्थ में निश्चल रहना, आत्मस्वरूप से अन्य विषयों से मन को रोकना ॥७॥ आत्म-व्यतिरिक्त शब्दादि विषयों में वैराग्य करना, अहंकार से रहित हो जाना और जन्म-मरण वृद्धावस्था ज्वर आदिक रोग दुःख ये सब दोष जब तक यह शरीर रहेगा तब तक रहेंगे इसको हमेशा विचार करना ॥८॥ आत्मव्यतिरिक्त विषयों में प्रीति न करना, पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि में अत्यन्त आसक्ति न करना और सर्वदा इष्ट तथा अनिष्ट प्राप्त होने पर हर्ष तथा उद्वेग से रहित चित्त को करना ॥९॥ और सर्वेश्वर जो मैं हूँ उस मुझमें एकान्तिक योग करके निश्चल भक्ति करना, एकान्त में निवास करना और विषयीजनों की सभा में प्रीति न करना ॥१०॥ आत्मा में जो ज्ञान है उसका सदा अनुभव करना, तत्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा-को सर्वत्र देखना यह सब तो ज्ञान है और जो इससे विपरीत है यह अज्ञान है ऐसा कहा है ॥११॥ इसी से कहते हैं कि ज्ञान के विपाक का कार्य अज्ञान से होनेवाले सब पदपद में अमूल्य है ॥९७॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि अति प्रवृत्ति सिद्धोपाय के अपना काय करने में प्रतिबन्धक नहीं हो सकेगी ।

उपायफलं उपेयान्तर्गता च सा उपायप्रतिबन्धिका न भवति ॥९८॥

अर्थ—(उपायफलम्) सिद्धोपायभूत सर्वेश्वर कर्तृक कार्य का फल (च) और (उपेयान्तगता) जो प्रवृत्ति भगवत् के मुखोल्लासार्थ क्रियमाण कैंकर्य के सामान हो उपेय में अन्तर्गत होती है (सा) वह प्रवृति (उपाय) प्रतिबन्धिका) सिद्धोपायभूत सर्वेश्वर के कार्य करने में प्रतिबन्धक (न)

नहीं (भवति) होती है। इसीसे कहते हैं कि– उपाय के फल और उपेय के अन्तर्गत होनेवाले उपाय के प्रतिबन्धक नहीं होते हैं ॥९८॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि ये प्रवृत्तियाँ सिद्धोपाय के सदृश हैं।

साध्यसमानं विलंबासहमिति हि साधनस्याधिक्यं, साध्यप्रावण्यहेतुना हि साधनेऽवगाहनम् ॥९९॥

अर्थ—(साध्यसमानम्) साध्य वस्तु ही साधन होने से साध्य के तुल्य और (विलंबासहम्) फल के विलम्ब को नहीं सहकर शीघ्र कार्य करनेवाले होने से (इति) इस कारण करके (हि) निश्चय (साधनस्य) सिद्ध साधन की (आधिक्यम्) श्रेष्ठता है और (साध्यप्रावण्य हेतुना) साध्य में अधिक प्रेम होने से (हि) निश्चय करके (साधने) साधन में (अवगाहनम्) प्रवृत्त होते हैं। इससे सिद्धोपाय के बिना ये ही कार्य करने में समर्थ होने से सिद्धोपाय के प्रतिबन्धकत्वरूप दोष से रहित हैं इसीसे कहते हैं कि—साध्य समान और विलंबासह होने से ही साधन श्रेष्ठ होता है। साध्य में प्रेम अधिक होने से ही साधन में प्रवृत्त होते हैं ॥९९॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि आत्मा के गुणों को भी प्रेमाधिक्य ही उत्पन्न करता है।

अस्योत्पद्यमानानामात्मगुणानां सर्वेषामिदं प्रावण्यं प्रधानहेतुः ॥१००॥

अर्थ—(अस्य) इस चेतन के (उत्पद्यमानानाम्) उत्पन्न होनेवाले (सर्वेषाम्) सम्पूर्ण (आत्मगुणानाम्) शमदमादिक आत्मा के गुणों का (प्रधानहेतुः) प्रधान कारण (इदम्) यह (प्रावण्यम्) प्रेमाधिक्य है। इसीसे कहते हैं कि—इसके होनेवाले सम्पूण आत्मगुणों का मुख्य कारण यह प्रेमाधिक्य है ॥१००॥

अब पूर्वोक्त अर्थ में लोकाचार्य स्वामीजी दिव्यसूरियों के पाशुरों को प्रमाण दिखाते हैं कि—

"स्वामिविषये मनसि लग्ने" "परमात्मनि यो रक्तः" "दृष्ट्वा श्रुत्वा स्पृष्ट्वा घ्रात्वा भुक्त्वा ॥१०१॥

अर्थ—(स्वामिविषये) श्रीमन्नारायणस्वामी के विषय में (मनसि) मन (लग्ने) लग्नहोने पर (यः) जो चेतन(परमात्मनि)परमात्मा में (रक्तः) आसक्त होता है (दृष्ट्वा) देखकर (श्रुत्वा) सुनकर (स्पृष्ट्वा) छूकर (घ्रात्वा) सूँघकर (भुक्त्वा) खाकर। इस एक सौ एकवें सूत्र में दिव्य सूरियों के पाशुरों के तीन प्रतीक हैं। इससे उन पाशुरों को लिखकर मैं अर्थ लिखता हूँ" **"स्वामिविषये मनसि लग्ने स्त्रीणां भुजे हस्तं त्यक्त्वा शास्त्रे मनः स्थापयितुं सुलभं भवति"** स्वामी के विषय में मन लगने पर स्त्रियों के हाथों को अपने हाथ से छोड़कर शास्त्र में मन स्थापन करने के लिये सुलभ हो जाता है यह पहले प्रतीक के पाशुर का अर्थ है। और "परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि" जो परमात्मा में आसक्त होता है वह परमात्मा से अन्य विषयों में विरक्त होता है, यह दूसरे प्रतीक के पाशुर का अर्थ है और **"तेजिष्ठकटकविशिष्टायां श्रियिच त्वयि च नित्यवासं कुर्वतो-दृष्ट्वा श्रुत्वा स्पृष्ट्वाघ्रात्वा भुक्त्वा भ्रमद्भिः पंचेन्द्रियैर्दृष्टमानन्दं दुर्ज्ञेयापरिमितक्षुद्रानन्दं च त्यक्तवानस्मि"** भासमान कड़ावाली श्रीदेवी में और आपमें सर्वदावास करने पर देखकर, सुनकर, छूकर, सूँघकर, खाकर, भ्रमण करनेवाली पाँचों इन्द्रियों से अनुभूत आनन्द को और दुर्ज्ञेय अपरिमित क्षुद्र आनन्द को मैंने छोड़ दिया है यह तीसरे प्रतीक के पाशुर का अर्थ है। इसीसे कहते हैं कि —स्वामी के विषय में मन लगने पर परमात्मा में जो आसक्त होता है देखकर' सुनकर, छूकर, सूँघकर, खाकर ॥१०१॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि आत्मा के गुणों में प्रधान शम और दम हैं।

आत्मगुणेषु प्रधानः शमो दमश्च ॥१०२॥

अर्थ—(आत्मगुणेषु) आत्मा के गुणों में (प्रधानः) मुख्य (शमः) शम अर्थात् चित्त को शान्त रखना (च) और (दमः)दम अर्थात् पाँचों इन्द्रियों को विषयों से रोकना है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि—शमश्चस्वाध्यायप्रवचने च ॥ तैत्ति० शिक्षाध्या० १ वल्ली १ अनुवा० ९॥ शम और स्वाध्याय प्रवचन ॥९॥ और भी लिखा है कि—शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन्। शमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छमः परमंवदन्ति ॥ तैत्ति० आर० १० ॥ शान्त लोग शम से कल्याण को प्राप्त करते हैं और मुनि लोग शम से स्वर्ग को प्राप्त करते हैं तथा शम सब जीवों का दुराधर्ष है। शम में सब प्रतिष्ठित है, इससे सबलोग शम को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ।१०॥ और भी लिखा है कि—शमः पवित्रमतुलं शमः पुण्यमनुत्तमम्। शमः सुखमसंख्येयं शमः पापहरं स्मृतम् ॥ महाभा० शा० २६०।३॥ शम तुलना रहित अति पवित्र है तथा शम सबसे श्रेष्ठ पुण्य है और शम असंख्येयसुख है तथा शम पाप को दूर करने वाला है ॥३॥ शम एव परंतीर्थं शम एव परंतपः। शम एव परंज्ञानं शमोयोगः परस्तथा ॥३६॥ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथभिक्षुकः। सर्व एते शमेनैव प्राप्नुवन्ति परांगतिम ॥३७॥ शम सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है तथा शम श्रेष्ठ तप है और शम ही सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है तथा शम सबसे श्रेष्ठ योग है ॥३६॥ ब्रह्मचारी या गृहस्थ या बाणप्रस्थी या संन्यासी यैसब शम से ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥३७॥ इससे सिद्ध होता है कि आत्मा के गुणों में शम प्रधान है। इसी प्रकार से दम भी आत्मगुणों में मुख्य है, क्योंकि लिखा है कि—दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ तैत्ति० शिक्षाध्या० १ वल्ली १ अनु० ९॥ दम और स्वाध्याय प्रवचन। और महाभारत में लिखा है कि–

दमात्तस्यक्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते। दमोदानं तथायज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥ महाभा० शा० १५०।८ दमस्तेजोऽवर्धयति पवित्रं च दमः परम्। विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥९॥ दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम। दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥१०॥ प्रेत्यचात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्। दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥११

इस चेतन की क्रिया सिद्धि यथार्थ दम से होती है और दम, दान तथा यज्ञ और अध्ययन को अतिक्रमण करता है ॥८॥ दम तेज को बढ़ाता है और दम सबसे पवित्र है। बिना पाप के तेज से युक्त पुरुष दम को प्राप्त करता है ॥९॥ दम के सदृश धर्म लोक में दूसरा मैंने नही सुना है। इस लोक में सब धमवालों को दम ही अत्यन्त प्रशस्त है ॥१०॥ हे मनुष्येन्द्र! इस लोक में दम को पाकर श्रेष्ठ सुख को पाता है और निश्चय करके दम से युक्त पुरुष श्रेष्ठ धर्म को पाता है ॥११॥ इसीसे कहते हैं कि—आत्मा के गुणों में प्रधान शम और दम हैं ॥१०२॥

अब प्रबन्धकर्ता शम और दम के होने पर इस चेतन के होनेवाले फल को कहते हैं कि—

अनयोरुभयोरुत्पत्तावाचार्यो वश्यो भवति ॥१०३

अर्थ—(अनयोः) इन (उभयोः) दोनों शम और दम के (उत्पत्तौ) उत्पन्न होने पर(आचार्यः) आचार्य(वश्यः) वश्य(भवति)होते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि आचार्य किसको कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अद्वयतारकोपनिषद् में लिखा है कि—आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णु-भक्तो विमत्सरः। योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः॥ गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः। एवं लक्षणसंपन्नो

गुरुरित्यभिधीयते ॥ गुशब्दस्त्वन्धकारःस्याद्रूशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ अद्वयतारकोपनि० ॥

जो वेद पढ़ाता हो तथा विष्णु का भक्त हो और मत्सर रहित हो तथा योग को जाननेवाला हो और योगनिष्ठ हो तथा सवदा योगात्मक हो और पवित्र हो तथा अपने गुरु का भक्त हो और पुरुष को विशेषरूप से जाननेवाला हो। इन लक्षणों से युक्त हो उसको आचार्य कहते हैं। 'गु' कहते हैं अन्धकार को तथा 'रु' कहते हैं प्रकाश को तो जो अविद्यारूप अन्धकार को ज्ञानरूप सदुपदेश के प्रकाश से दूर करता है उसको गुरु कहते हैं। पाद्मोत्तर खण्ड में लिखा है कि— **आचार्योवेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। मंत्रज्ञो मंत्रभक्तश्च सदामंत्रात्मकः शुचिः ॥ पाद्मो० २२३।५०। सत्संप्रदायसंयुक्तो ब्रह्मविद्याविशारदः। अनन्यसाधनश्चैव तथानन्यप्रयोजकः ॥५१॥ ब्राह्मणो वीतरागश्च क्रोधलोभविवर्जितः। सद्वृत्तोपासिताचैव मुमुक्षुः परमार्थवित् ॥५२॥ एवमादिगुणोपेत आचार्यः स उदाहृतः ॥५३॥**

आचार्य वेद पढ़ा हो तथा विष्णु का भक्त हो और बिना मत्सर के हो। मूल मन्त्र तथा द्वय मन्त्र और चरम मन्त्र को जाननेवाला हो तथा मन्त्रों का भक्त हो और सर्वदा मंत्र के अधीन रहता हो तथा पवित्र हो ॥५०॥ और सत्य श्री संप्रदाय से युक्त हो तथा ब्रह्म विद्या में निपुण हो और अनन्योपाय हो तथा अनन्य प्रयोजक हो ॥५१॥ और ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण हो तथा राग से रहित हो और क्रोध तथा लोभ से वर्जित हो शुद्ध आचारवाला हो तथा मोक्ष की इच्छावाला हो और परमार्थ-तत्व को जाननेवाला हो ॥५२॥ इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥५३॥ मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि—श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मुण्डक १ खण्ड० २ मं १२ ॥ वेद पढ़े हुए और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय ॥१२॥ इसी से कहते हैं कि शम और दम इन दोनों के उत्पन्न होने पर आचार्य वश्य होते हैं ॥१०३॥

अब जगदाचार्यजी आचार्यवश्यता के फल को कहते हैं कि—

आचार्यवश्यतानन्तरं मूलमंत्रो हस्तगतो भवति ॥१०४॥

अर्थ— (आचार्यवश्यतानन्तरम्) आचार्य के वश्य होने पर तो (मूलमन्त्रः) मूलमन्त्र (हस्तगतः) हस्तगत (भवति) होता है। अर्थात् सद्गुरु मूलमन्त्र का उपदेश देते हैं क्योंकि यह लिखा है कि— **तस्मैसविद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषंवेद सत्यंप्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ मुण्डक० १ खं० २ मं० १३ ॥** विद्वान् आचार्य पास में आये हुए अत्यन्त शांत चित्त शम से युक्त उस शिष्य के लिये जिस विद्या से त्रिकालवत् अविनाशी परमात्मा सम्यक् जाना जाता है उस ब्रह्मविद्या का यथार्थ उपदेश करें ॥१३॥ अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि मूलमन्त्र का रूप कैसा है और कहाँ पर लिखा है ? इसका उत्तर नारायणोपनिषद् में लिखा है कि—**ओमित्यग्रेव्याहरेत् नम इति पश्चात् नारायणायेत्युपरिष्टात्। ओमित्येकाक्षरम् नम इति द्वेअक्षरे नारायणायेति पञ्चाक्षराणि एतद्वैनारायणस्याष्टाक्षरं पदम् ॥ नारायणोप०मं०३॥** ॐ ऐसा पहले कहे इसके बाद नमः ऐसा कहे इसके बाद नारायणाय ऐसा कहे। ॐ यह एक अक्षर है और नमः ये दो अक्षर हैं और नारायणाय यहाँ पाँच अक्षर हैं, यही नारायण का अष्टाक्षर पद है ॥३॥ और भी लिखा है कि— ॐ नमोनारायणायेति मंत्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति ॥ नारायः मं० ४ ॥ ॐ नमोनारायणाय इस मूलमन्त्र से जो उपासना करता है वह शरीर छूटने पर बैकुण्ठ लोक को प्राप्त करेगा ॥४॥ और यह मन्त्र आचार्य द्वारा ही जाना हुआ कार्यकर होता है यह लिखा है कि—**आचार्याद्धैव विद्याविदितासाधिष्ठंप्रापयतीति ॥ छान्दोग्योप० प्रपा० ४ खं० ६ मं० ३॥** आचार्य ही से जानी हुई विद्या सुन्दर गति को प्राप्त कराती है ॥३॥ और भी लिखा है कि— **आचार्यवान् पुरुषोवेद ॥ छान्दो० प्र० ४अ० ४खं० १४ मं० २॥**

आचार्यवाला पुरुष जानता है ॥२॥ इसी से कहते हैं कि — आचार्य के वश्य होने पर मूलमन्त्र हस्तगत होता है ॥१०४॥

अब प्रबन्धकर्ता मूलमन्त्र प्राप्त होने पर जो फल प्राप्त होता है उसको कहते हैं कि—

मूलमंत्रे हस्तगते ईश्वरो वश्यो भवति ॥१०५॥

अर्थ –(मूलमन्त्रे) मूलमन्त्र (हस्तगते) हस्तगत होने पर (ईश्वरः) परमेश्वर (वश्यः) वश्य (भवति) होते हैं। क्योंकि लिखा है कि— **दैवाधीनं जगत्सर्वं मंत्राधीनं च दैवतम्। तन्मंत्रं ब्राह्मणाधीनं तस्माद्ब्राह्मण देवता ॥** सम्पूर्ण जगत् देवता के अधीन है और देवता मन्त्र के अधीन हैं तथा वह मन्त्र ब्रह्मवेत्ता आचार्य के अधीन है उससे ब्रह्मवेत्ता आचार्य देवता हैं। इससे साबित हो गया है कि मन्त्र से ईश्वर वश्य होते हैं। इसीसे कहते हैं कि — मूलमन्त्र हस्तगत होने पर ईश्वर वश्य होते हैं ॥१०५॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि ईश्वर के वश्य होने पर प्राप्यभूमि सुलभ होती है।

ईश्वरवश्यतानन्तरम् "वैकुण्ठमहानगरमन्यच्च हस्तगतमेव" इत्युक्तप्रकारेण प्राप्यभूमिः सुलभा भवति ॥१०६॥

अर्थ – (ईश्वरवश्यतानन्तरम्) ईश्वर के वश्य होने पर (वैकुण्ठ महानगरम्) वैकुण्ठ महानगर (च) और (अन्यत्) अन्य सब (हस्तगतम्) हस्तगत (एव) निश्चय करके होते हैं (इति) इस (उक्तप्रकारेण) उक्त प्रकार से (प्राप्यभूमिः) प्राप्यभूमि (सुलभा) सुलभ (भवति) होती है। इसीसे कहते हैं कि—ईश्वर के वश्य होने पर वकुण्ठ महानगर और अन्य सब हस्तगत होते हैं, इस उक्त प्रकार मे प्राप्यभूमि सुलभ होती है ॥१०६॥

अब जगदाचार्यजी सिद्धि प्रकार को आरोह क्रम से कहकर फिर से समझाने के लिए अवरोह क्रम से कहते हैं कि—

प्राप्यलाभः प्रापकेण, प्रापकलाभोमूलमंत्रेण, मूलमंत्रलाभ आचार्येण, आचार्यलाभ आत्मगुणेन ॥१०७॥

अर्थ—(प्राप्यलाभः) प्राप्त करने योग्य वैकुण्ठ महानगर की प्राप्ति (प्रापकेण) सिद्धोपायभूत परमेश्वर से होती है और (प्रापकलाभः) प्रापक परमेश्वर की प्राप्ति (मूलमंत्रेण) अष्टाक्षरमंत्र से होती है और (मूलमंत्रलाभः) अष्टाक्षर मंत्र का लाभ (आचार्येण) आचार्य से होता है और (आचार्यलाभः) आचार्यलाभ (आत्मगुणेन) जीवात्मा के गुण शम और दम इन दोनों से होता है। इसीसे कहते हैं कि प्राप्यलाभ प्रापक से, प्रापकलाभ मूलमत्र से मूलमंत्रलाभ आचार्य से, आचार्यलाभ आत्मगुणों से होता है ॥१०७॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि यह शम दमादिक ऐश्वर्य और मोक्ष दोनों के चाहनेवालों के लिये आवश्यक है।

अयंचैश्वर्यकामानामुपासकानां प्रपन्नानां चापेक्षितः ॥१०८॥

अर्थ—(अयम्) यह शम दम गुण (ऐश्वर्यकामानाम्) ऐश्वय की इच्छा करनेवालों के लिये (अपेक्षितः) साधनानुष्ठान करने के समय में अपेक्षित है। क्योंकि लिखा है कि—इन्द्रियाणि पुराजित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया ॥ पहले इन्द्रियों को जीतकर तुमने त्रिभुवन को जीता है ॥ शरीरधृतान्याभरणानि रुचिना सह त्यक्त्वा पंचेन्द्रियाणि जित्वा ॥ शरीर में धारण किये हुए भूषणों को वासना के साथ त्याग कर पाँचों इन्द्रियों को जीत कर ॥ इससे प्रमाणित हो गया कि ऐश्वर्य कामों के लिये शमादिक गुण अपेक्षित हैं (च) और (उपासकानाम्) ब्रह्म की उपासना करनेवालों के लिये उपासना के अगतया शमादिक अपेक्षित हैं। क्योंकि लिखा है कि—शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत ॥ शम दम, उपरति, तितिक्षु और एकाग्र होकर मन से आत्मा को देखे ॥ इससे सिद्ध हो गया कि उपासकों के लिये शमादिक अपेक्षित हैं (च) और (प्रपन्नानाम्) भगवत् की प्रपत्ति करने वाले एकान्तियों के लिये शमादिक अपेक्षित हैं, क्योंकि लिखा है कि नियमितुं दुःशकानि पंचेन्द्रियाणि नियम्य तद्विषयाभिलाषारूपामाशां वासनयासह त्यक्त्वा त्वन्मुख-

विकासहेतु व्यापारेषु स्थितं माम् ॥ नियम न करने को अशक्य पाँचो इन्द्रियों को रोककर विषयों की आशा को वासना सहित छोड़कर आपके मुखोल्लासार्थ कैंकर्य करने के लिये आगे खड़ा हुआ मुझको ॥ इससे सिद्ध हो गया कि प्रपन्नों के लिये शमादिक अपेक्षित हैं। अर्थात् ऐश्वर्य काम तथा उपासक और प्रपन्न इन तीनों अधिकारियों के लिये शमादिक अपेक्षित हैं। इसी से कहते हैं कि— ये शमादिक गुण ऐश्वर्य काम तथा उपासक और प्रपन्नों को भी चाहिये ॥१०८॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि प्रपन्न अधिकारी के लिये शमादिक गुण अत्यन्त आवश्यक हैं।

एतत् त्रयाणां मध्य अत्यन्तमपेक्षा प्रपन्नस्य ॥१०९॥

अर्थ – (एतत्) ऐश्वर्य काम तथा उपासक और प्रपन्न इन (त्रयाणाम्) तीनों के (मध्ये) मध्य में (प्रपन्नस्य) प्रपन्न अधिकारी के लिये शमादिक गुण की (अत्यन्तम्) अत्यन्त (अपेक्षा) अपेक्षा है। इसीसे कहते हैं कि—इन तीनों के बीच में शमादिक की अत्यन्त अपेक्षा प्रपन्न अधिकारी को है ॥१०९॥

अब जगदाचार्यजी प्रपन्न की उस अधिकता को स्पष्ट कहते हैं कि—

अनयोर्द्वयोर्निषिद्धविषयविरक्तिरेवालं,

प्रपन्नस्य विहितविषयविरक्तिस्त्वाधिक्यम् ॥११०॥

अर्थ— (अनयोः) शब्दादिभोगासक्त ऐश्वय काम और साधनान्तर में आसक्त उपासक इन (द्वयोः) दोनों के (निषिद्धविषयविरक्तिः) शास्त्र निषिद्ध परस्त्री आदिक विषयों से निवृत्ति (एव) मात्र ही (अलम्) पर्याप्त है अर्थात् अपेक्षित है। और प्रपन्नस्य) प्रपन्न अधिकारी के (विहित विषयविरक्तिः) शास्त्र विहित अपनी स्त्री आदि विषयों से निवृत्ति अपेक्षित हैं। (तु) और तु शब्द से शास्त्र निषिद्ध परस्त्री आदि विषयों से निवृत्ति भी अपेक्षित है। यही प्रपन्न को (आधिक्यम्) अधिकता है। इसीसे कहते हैं कि—इन दोनों को निषिद्ध विषय की निवृत्ति ही अपेक्षित हैं और प्रपन्न को विहित विषय की निवृत्ति भी अधिक अपेक्षित है ॥११०॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि यह विरक्ति कैसे होती है।

इयं च केषांचित्सौन्दर्येण जायते, केषांचित्कृपया जायते, केषांचिदाचारेण जायते ॥१११॥

अर्थ—(इयम्) यह विरक्ति (केषांचित्) भगवत्तत्व को साक्षात्कार किये हुये कई भक्तिपरवश प्रपन्नों को (सौन्दर्येण) सकल जनमोहन सर्वेश्वर के विग्रह के सौन्दर्य का अनुभव करनेसे (जायते) उत्पन्न होती है (च) और (केषांचित्) तत्वयाथात्म्यदर्शी कई ज्ञानाधिक्य प्रपन्नों को (कृपया) विषयों को आसक्ति छूटने के लिये ईश्वरकर्तृक परम कृपा से (जायते) उत्पन्न होती है और (केषांचित्) ज्ञान वाले कई एक अज्ञ प्रपन्नों को (आचारेण) भगवत्, भागवत और पूर्वाचार्य के आचार से (जायते) उत्पन्न होती है। आचार के विषय में लिखा है कि—

आचारः परमोधर्म श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च। तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥मनु० १।१०८॥ आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥१०९॥ एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्। सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥११०॥ वेद और धर्मशास्त्र में कहा हुआ आचार परम धर्म है इससे अपने धर्म को चाहनेवाला ब्राह्मण सदा आचार से युक्त रहे ॥१०८॥ आचार से रक्षित ब्राह्मण वेद के फल को नहीं प्राप्त होता है और आचारयुक्त सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है ॥१०९॥ ऐसे कहे हुए प्रकार से आचार के द्वारा ऋषियों ने धर्म की प्रगति को जानके सम्पूर्ण जो चान्द्रायण आदि तप हैं उनके मूलरूप आचार को ग्रहण किया है और भी लिखा है कि—

आचाराल्लभतेह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥मनु० ४। १५६॥ दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१५७॥ सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः। श्रद्धानोऽनसूयश्च शतंवर्षाणि जीवति ॥१५८॥ आचार से आयु को प्राप्त होता

है और आचार से चाही हुई प्रजा प्राप्त होती है और आचार से अक्षयधन प्राप्त होता है और आचार देह में स्थित बुरे लक्षणों को नाश कर देता है ॥१५६॥ दुराचारी पुरुष लोक में निन्त्रित होता है और सदा दुःख भोगनेवाला रोगी और अल्पायु होता है, इससे सदा आचारयुक्त रहे ॥१५७॥ जो सर्वदा आचारयुक्त हो और श्रद्धायुक्त हो तथा पराये के दोष को नहीं कहता हो वह सब लक्षण से हीन भी सौ वर्ष जीता है ॥१५८॥ इसीसे कहते हैं कि—यह विरक्ति कई एक को सौन्दर्य से उत्पन्न होती है तथा कई एक को कृपा से उत्पन्न होती है और कई एक को आचार से उत्पन्न होती है ॥१५१॥

अब प्रबन्धकर्ता इन सबों के उत्पन्न होने के क्रम को कहते हैं कि—

उत्पत्तिक्रमःकथमितिचेत्सौन्दर्यमज्ञानंजनयति, कृपारुचिं जनयति, आचारोभयं जनयति ॥११२॥

अर्थ—(उत्पत्तिक्रमः) उत्पन्न होने का क्रम (कथम्) कैसा (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर कहते हैं कि (सौन्दर्यम्) दृष्टि और चित् का अपहरण करनेवाला सौन्दर्य (अज्ञानम्) विषयान्तर को तुच्छ मानने योग्य अज्ञान को (जनयति) उत्पन्न करता है और (कृपा) कृपा (अरुचिम्) विषयों में अरुचि को (जनयति) उत्पन्न कराती है और (आचारः) आचरण (भयम्) विषय स्पर्श में डर को (जनयति) उत्पन्न करता है। इसीसे कहते हैं कि—उत्पन्न होने का क्रम कैसा इस शंका में कहते हैं कि सौन्दर्य अज्ञान को प्राप्त कराता है तथा कृपा अरुचि को उत्पन्न कराती है और आचार भय को उत्पन्न कराता है ॥१५२॥

अब श्रीवचनभूषणकार इन तीनों प्रकार के प्रपन्नों को सौन्दर्यादि इन तीनों में एक को ही हेतुतया कहने के कारण को कहते है कि—

इदं चाधिक्यमपेक्ष्योच्यते ॥११३॥

अर्थ— च) और (इदम्) इनको (आधिक्यम्) अधिकता की (अपेक्ष्य) अपेक्षा करके (उच्यते) कहते हैं अर्थात् सर्वत्र सबको रहने पर भी जो अधिक होता है उसीसे व्यवहार होता है। इसीसे कहा है कि—इनको भी अधिक्य की अपेक्षा करके कहते हैं ॥११३॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि अरुचि उत्पत्ति में दोष देखना चाहिए।

अरुच्युत्पत्तौ दोषदर्शनमपेक्षितम् ॥११४॥

अर्थ—(अरुच्युत्पतौ) अरुचि के उत्पन्न होने पर (दोषदर्शनम्) दोष को देखना अर्थात् भोग करने की इच्छा से स्त्रियों से मिलने के समय में उन सबों के शरीर का मांस, रुधिर, पूय, विष्टा, मूत्र, स्नायु, मज्जा, हड्डियों के समुदायरूप चामसे ढकी हुई दुर्गन्धि अस्थिर दुःखमिश्र अनर्थ को देनेवाला प्रत्यक्षादि प्रमाणों से देखना (अपेक्षितम्) अपेक्षित है। इसीसे कहा है कि—अरुचि के उत्पन्न होने पर दोष को देखना भी अपेक्षित है ॥११४॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि दोष दर्शन अरुचि का प्रधान कारण नहीं है।

तत् प्रधानहेतुर्नभवति ॥११५॥

अर्थ—(तत्) वह दोषदर्शन (प्रधानहेतुः) मुख्य कारण (न) नहीं (भवति) होता है। इसीसे कहते हैं कि—वह मुख्य हेतु नहीं है ॥११५॥

अब श्रीवचनभूषणकार मुख्य हेतु को कहते हैं कि—

अप्राप्ततैव प्रधानहेतुः ॥११६॥

अर्थ—(अप्राप्तता) भगवान का ही भोगरूप आत्मस्वरूप का अनुरूप न होना (एव) ही निश्चय करके (प्रधानहेतुः) मुख्य कारण है। इसीसे कहते हैं कि—अप्राप्तता ही प्रधान हेतु है ॥११६॥

अब जगदाचार्यजी कहते हैं कि स्वरूप प्राप्त समझ यह चेतन भगवद्विषय में लगता है।

भगवद्विषयेऽवगाहनं चगुणान् दृष्ट्वान भवति ।११७।

अर्थ—(च) और (भगवद्विषये) भगवद्विषय में (अवगाहनम्) लगना (गुणान्) भगवान् के वात्सल्यादि कल्याण गुणों को (दृष्ट्वा) देखकर (न) नहीं (भवति) होता है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि भगवान् किसको कहते हैं? इसका उत्तर यह होता है कि-उत्पत्तिप्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्तिविद्यांमविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

जो सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति तथा प्रलय को और अगति तथा गति को और विद्या तथा अविद्या को जानता है उसको भगवान् कहते हैं। इसीसे कहते हैं कि— भगवद्विषय में लगना भी गुणों को देखकर नहीं होता है ॥११७॥

स्वरूपप्राप्त इति ॥११८॥

अर्थ — (स्वरूपप्राप्तः) अपना स्वरूप प्राप्त होना (इति) यह भगवद्विषय को आश्रयण करने में प्रधान हेतु है। इसीसे कहते हैं कि— स्वरूप प्राप्त होना ही मुख्य हेतु है ॥११८॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी पहले कहे हुए अर्थ को न मानने पर जो दोष लगेगा उसको कहते हैं कि –

एवमनंगीकारे गुणहीनमित्यनुसन्धानदशायां भगवद्विषयप्रवृत्तिः दोषानुसन्धानदशायां संसारे प्रवृत्तिश्च न स्यात्। ११९॥

अर्थ— (एवम्) इस प्रकार भगवद्विषय में रुचि का हेतु स्वरूप प्राप्ति और अन्य विषयों में अरुचिका हेतु अप्राप्ति को (अनंगीकारे) स्वीकार नहीं करने पर (गुणहीनम्) गुणों से रहित (इति) ऐसा (अनुसंधानदशायाम्) अनुसंधान करने की दशा में (भगवद्विषयप्रवृत्तिः) भगवान् के विषय में प्रवृत्ति (न) नहीं (स्यात्) होगी (च) और (दोषानुसंधानदशायाम्) दोषों के अनुसंधान करने की दशा में (संसारे) संसार में (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति भी नहीं होगी। इसीसे कहते हैं कि इस प्रकार अंगीकार नहीं करने पर जन गुणहीन नहीं समझते तब भवद्विषय में प्रवृत्ति और जब दोषानुसन्धान करते हैं तब संसार में प्रवृत्ति ये दोनों प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकतीं ॥११९॥

अब प्रबन्धकर्ता गुणहीन समझने पर भगवद्विषय प्रवृत्ति कहाँ देखी गयी है इसको कहते हैं कि—

"क्रूरं मन्मनः स एवेति वर्तते" "दासभूतोऽहंपुनश्च तव श्रीमच्चरणंविना नाभिलषामि इत्यवदन् खलु ॥१२०॥

अर्थ— (क्रूरम्) क्रूर (मन्मनः) मेरा मन (सः) उसी परमात्मा में (एव) ही निश्चय करके (वर्तते) लगा रहता है (इति ऐसा (च) और (अहम्) मैं (दासभूतः) नारायण का दासभूत (पुनः) फिर भी (तव) आपके (श्रीचरणम्) शोभायुक्त चरणारविन्द को (विना) छोड़ और किसी पदार्थ को (न) नहीं (अभिलषामि) चाहता हूँ (इति) ऐसा दिव्यसूरि लोगों ने (खलु) निश्चय (अवदन्) कहा है इसीसे कहते हैं कि "क्रूर हमारा मन उसी में लगा रहता है" "दास मैं फिर भी आपके शोभायुक्त चरणों को छोड़ और को नहीं चाहता हूँ" ऐसा कहा है ॥१२०॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि स्वरूप प्रयुक्त दास्य मुख्य है।

गुणकृतदास्यात्स्वरूपप्रयुक्तदास्यं खलु प्रधानम् ॥१२१॥

अर्थ — (गुणकृतदास्यात्) परमात्मा के कल्याणगुणों से हारकर दास होनेवालों से (स्वरूपप्रयुक्तदास्यम्) शेषत्वैकरक्षणोपयोगि आत्मा स्वरूप प्रयुक्त दास्य (खलु) निश्चय करके (प्रधानम्) प्रधान है। इसीसे कहते हैं कि— गुणकृतदास्य की अपेक्षा स्वरूप प्रयुक्त दास्य ही मुख्य है ॥१२१॥

अब इस अर्थ में दृष्टान्तरूप से सीताजी की वार्ता को जगदाचार्यजी स्मरण कराते हैं कि—

अनसूयां प्रति जानकीवार्ता स्मर्तव्या ॥१२२॥

अर्थ — (अनुसूयाम्) अत्रि महर्षि की पत्नी अनुसूया देवी के (प्रति) प्रति (जानकीवार्ता) श्रीसीता देवी की कही हुई वार्ता (स्मर्तव्या) स्मरण करने योग्य है। अनुसूया से जो श्रीसीताजी ने कहा है, वह वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में लिखा है कि— अत्रि महर्षि के आश्रम में जो श्रीरामजी ने कहा है कि हे सीते! वृद्धा

तपस्विनी अनसूया के पास तू शीघ्र जा। पति की ऐसी आज्ञा सुनकर श्रीसीताजी ने शीघ्र अनसूया के पास जाकर साष्टांग प्रणाम करके अपना नाम बताया। इसके बाद पूछकर उस अनामय अनसूया ने श्रीसीताजी से कहा कि—**त्यक्त्वा ज्ञतिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि। अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥ वा० रा० २।११७।२२ ॥ नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाऽशुभः। यासां स्त्रीणां प्रियोभर्ता तासां लोका महोदयाः ॥२३॥ दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः। स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥२४॥ नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशंत्यहम्। सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥२५॥ न त्वेवमनुगच्छन्ति गुणदोष-मसत्स्त्रियः। कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥२६॥ प्राप्नुवंत्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि। अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो या खलु तद्विधाः ॥२७॥ त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः। स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा ॥२८॥ तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी। भवस्वभर्तुः सहधर्मचारिणी यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥२९॥**

हे मानिनि सीते! जाति के जन को तथा अभिमान को छोड़ श्रीरामजी के पीछे जङ्गल में तुम आयी हो, वह दैवयोग से तुम्हारे लियें अच्छा हुआ ॥२२॥ नगर में हो या वन में हो अच्छा हो या बुरा हो जिन स्त्रियों को पति प्रिय होता है उन सबों का महान् उदयवाला लोक होता है ॥२३॥ दुष्टशीलवाला हो, अच्छा शीलवाला हो या दरिद्र हो श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों का सबसे बड़ा देवता पति ही है ॥२४॥ विचार करती हुई मैं इससे श्रेष्ठ बन्धु नहीं देखती हूँ। हे वैदेही! यही सर्वत्र योग्य है और तुमने अव्यय तप किया ॥२५॥ जो स्त्रियाँ पतिपरायण हो रहती हैं उन स्त्रियों को बुरे गुण या दोष नहीं प्राप्त करते हैं ॥२६॥ हे मैथिलि जो स्त्रियाँ पति के वश में नहीं रहती हैं उन स्त्रियों को अयश प्राप्त होता है और धर्म का पतन होता है ॥२७॥ और तेरे समानगुणों से युक्त लोक में बुरा भला को देखने वाली स्त्रियाँ

जैसे पुण्यकर्म करनेवाले स्वर्ग को प्राप्त करते हैं वैसे स्वर्ग को प्राप्त करती हैं ॥२८॥ इससे तुम इस प्रकार श्रीरामजी के व्रत को पालन करती हुई पतिपरायण हो अपने पति के साथ धर्माचरण करनेवाली हो जाओ उससे तुम यश और धर्म को प्राप्त करोगी ॥२९॥ ऐसा अनसूयाजी के कहने पर श्रीसीताजी ने शिर झुकाकर धीरे से कहना प्रारम्भ किया कि—**नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मांत्वमनुभाषसे। विदितं तु ममाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ वा० रा० २।११८।२ ॥ यद्यपयेष भवेद्भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः। अद्वैधमत्रवर्तव्यंतथाप्येष मयाभवेत् ॥३॥ किं पुनर्योगुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः। स्थिरानुरागो धर्माता मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥४॥ यां वृत्तिं वर्तते रामः कौशल्यायां महाबलः। तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥५॥ सकृद्दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृषेण नृपवत्सलः। मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्यधर्मवित् ॥६॥ आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्। समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत्स्थिरं मम ॥७॥ पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ। अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मेधृतम् ॥८॥ न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि। पतिशुश्रूषणा न्नार्यास्तपोनान्यद्विधीयते ॥९॥ सावित्रि पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते। तथा वृतिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ।१०॥ वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता। रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥११॥ एवं विधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः। देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥१२॥** जो मेरे लिये कहती हो सो श्रेष्ठ तेरे विषय में यह आश्चर्य नही है। मैं यह जानती हूँ कि स्त्रियों के पति ही गुरु हैं ॥२॥ यदि स्वामी श्रेष्ठ न हो और वृत्ति से रहित हो तो भी सबसे श्रेष्ठ मानना मेरा कर्त्तव्य है ॥३॥ फिर जो कि अच्छे गुणों से युक्त तथा दयालु और जितेन्द्रिय तथा स्थिर अनुराग युक्त धर्मात्मा और माता पिता के समान प्रिय हैं उनके विषय में कहना ही क्या है? ॥४॥

महाबली श्रीरामजी अपनी माता कौशल्या के विषय में जैसा व्यवहार करते हैं वैसा ही दशरथ महाराज की अन्य स्त्रियों से भी व्यवहार करते हैं ॥५॥ नृपवत्सल वीर धर्मात्मा श्रीमान् रामजी को छोड़कर जिन स्त्रियों के ऊपर दशरथ महाराज का एकबार भी दृष्टिपात हो गया है उन सबों को माता के समान मानते हैं ॥६॥ भय देने वाले जनरहित वन में आने के समय मेरी सास ने जो कहा उसको अपने हृदय में मैंने स्थिर कर रखा है ॥७॥ और अग्नि की सन्निधि में विवाह के समय मेरी माता ने जो कहा उसको मैंने हृदय में धारण किया है ॥८॥ ऐ धर्मचारिणी देवी स्वरूपानुरूप होने से उन बातों को मैं नहीं भूली हूँ। यह जानती हूँ कि पति की शुश्रूषा से अन्य तप का स्त्रियों के लिये नहीं विधान है ॥९॥ सावित्री पति की शुश्रूषा करके स्वर्गलोक में पूजित होती है और तुमन भी पति की शुश्रूषा से ही दिव लोक को प्राप्त किया है ॥१०॥ और सब स्त्रियों में श्रेष्ठ दिव लोक में यह रोहिणी नाम की देवी चन्द्रमा के बिना मुहूर्त मात्र भी नही देखी जाती है ॥११॥ इस प्रकार के पति में दृढ व्रत करने वाली बहुत सी स्त्रियाँ देवलोक में अपने पवित्र कर्म करके पूजित होती हैं। इसी आशय को लेकर कहते हैं कि अनुसूया से श्रीसीताजी को कही हुई वार्ता स्मरण करने योग्य है ॥१२॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि भगवद्विषय में प्रवृत्ति कैसे संगत होगी ?

भगवद्विषयप्रवृत्तिरुचिताकिमिति चेत् ॥१२३॥

अर्थ—(भगवद्विषयप्रवृत्तिः) भगवान के विषय में जो प्रवृत्ति है वह (किम्) कैसे (उचिता) उचित संगत हो सकती है (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर आगे के सूत्र में कहेंगे। इसीसे कहते हैं कि—भगवान के विषय में प्रवृत्ति कैसे संगत होगी ॥१२३॥

अब जगदाचार्यजी भगवद्विषय की प्रवृत्ति के मूल को कहते हैं कि—

तस्या मूलं प्रावण्यम् ॥१२४॥

अर्थ—(तस्याः) उस भगवद्विषय को प्रवृत्ति का (मूलम्) कारण (प्रावण्यम्) अत्यन्त स्नेह है। इसी से कहते हैं कि- उसका मूल प्रावण्य है ॥१२४॥

अब श्रीवचनभूषणकार प्रावण्य के मूल को कहते हैं कि—

तस्य मूलं सम्बन्धः ॥१२५॥

अर्थ—(तस्य) उस अतिमात्र स्नेहरूप प्रावण्य का (मूलम्) कारण (संबन्धः) शेष शेषिभाव सम्बन्ध है। इसी से कहा है कि—उस प्रावण्य का मूल सम्बन्ध है ॥१२५॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि शेष-शेषिभाव सम्बन्ध स्वरूप प्रयुक्त है।

स चौपाधिको न भवति, सत्ताप्रयुक्तः ॥१२६॥

अर्थ—(च) और (सः) वह शेष-शेषिभाव सम्बन्ध (औपाधिकः) उपाधि से आया हुआ आगन्तुक (न) नहीं (भवति) हो सकता है किन्तु (सत्ताप्रयुक्तः) स्वरूप प्रयुक्त है। अर्थात् यह आत्मा जब से है तब से रहने वाला है। इसी से कहा है कि—वह आगन्तुक नहीं स्वरूप प्रयुक्त है ॥१२६॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी भगवद्विषय प्रवृत्ति सुसंगत होती है इसको स्पष्ट कहते हैं कि—

तादृशसत्ता प्रावण्यकार्यानुभवाभावे नश्यति तदविनाशार्थमागतानि सर्वाण्यस्यावर्जनीयानि प्राप्तानिच। तस्माद्भगवद्विषयप्रवृत्तिरुचिता ॥१२७

अर्थ—(तादृशसत्ता) पूर्वोक्त प्रकार की यह सत्ता (प्रावण्य कार्यानुभवाभावे) स्वहेतुक सम्बन्ध द्वारा होनेवाले प्रावण्य कार्य भगवदनुभव के होने पर (नश्यति नष्ट होती है (च) और (तदविनाशार्थम्) उस सत्ता का विनाश न होने के लिये (आगतानि) आयी हुई (सर्वाणि) सम्पूर्ण प्रवृत्ति (अस्य) इस चेतन के (अवजनीयानि) नहीं छोड़ने योग्य है और (प्राप्तानि) प्राप्त भी होती है (तस्मात्) जिससे भगवद्विषय प्रवृत्तिः) भगवद्विषय की प्रवृत्ति (उचिता) सुसंगत होती है। इसी से कहते हैं कि—वह सत्ता प्रावण्य कार्य अनुभव के न होने पर नष्ट होती है। वह नष्ट न होने के लिये किये जानेवाले तब छोड़ने को

अशक्य और प्राप्त भी होते हैं। इसलिये भगवद्विषय की प्रवृत्ति सुसंगत होती है ॥१२७॥ इति श्रीवचनभूषणे अधिकारिवैभवनाम तृतीयप्रकरणे अधिकारिशोधनं समाप्तम् ॥

॥ अथ अधिकारिवैभवनाम तृतीयप्रकरणे उपायान्तरदोषः ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी इतरोपाय परित्याग के प्रधान हेतु को कहते हैं कि—

प्रापकान्तरपरित्यागस्य चाज्ञानाशक्ती न स्वरूप-विरोध एव प्रधानहेतुः ॥१२८॥

अर्थ— (प्रापकान्तर-परित्यागस्य) प्रपत्ति से अन्य उपाय के परित्याग का (अज्ञानाशक्ती) उसके जानने और अनुष्ठान करने के उपयुक्त ज्ञान और शक्ति के अभाव ये दोनों (न) प्रधान हेतु नहीं हैं (च) किन्तु (स्वरूपविरोधः) भगवदत्यन्त पारतन्त्र्य रूप स्वरूप का अनुरूप न होना (एव) निश्चय करके (प्रधानहेतुः) मुख्य हेतु है। इसीसे कहते हैं कि— प्रापकान्तर परित्याग का हेतु अज्ञान और अशक्ति नहीं स्वरूप विरोध ही प्रधान हेतु है ॥१२८॥

अब प्रबन्धकर्ता अज्ञानियों के उपाय को कहते हैं कि —

प्रापकान्तरमज्ञानामुपायः ॥१२९॥

अर्थ— (प्रापकान्तरम्) प्रपत्ति से भिन्न उपाय (अज्ञानाम्) स्वर-क्षण में स्वयत्न को न सहनेवाले स्वरूप को यथार्थतया देखने को उपयुक्त ज्ञान जिनको नहीं है ऐसे अज्ञानियों का (उपायः) उपाय है। इसी से कहते हैं कि प्रापकान्तर अज्ञानियों का उपाय है ॥१२९॥

अब जगदाचार्यजी ज्ञानियों के उपाय को कहते हैं कि—

ज्ञानिनामापायः ॥१३०॥

अर्थ— (ज्ञानिनाम्) स्वरूपयाथात्म्य ज्ञानविशिष्ट महात्माओं के (अपायः) प्रपत्ति से भिन्न उपाय अपाय होते हैं। इसीसे कहते हैं कि- ज्ञानियों के अपाय होते हैं ॥१३०॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि प्रापकान्तर ज्ञानियों के अपाय होते हैं, किस कारण से ?

अपायो भवति स्वरूपनाशकत्वात् ॥१३२॥

अर्थ—ज्ञानियों के (अपायः) अपाय (भवति) होते हैं। (स्वरूप) नाशकत्वात्) अत्यन्त पारतंत्र्य स्वरूप के नाशक होने से। इसीसे कहते हैं कि– अपाय होता है स्वरूप नाशक होने से ॥१३१॥

अब जगदाचार्यजी ज्ञानियों में अग्रेसर श्रीशठकोप स्वामीजी की उक्ति को कहते हैं कि—

"मार्गं प्रदर्शयित्वा विश्लेषयसि किम्" इत्यवदन् हि ॥२३२॥

अर्थ—(मार्गम्) रास्ता को (प्रदर्शयित्वा) अच्छे प्रकार से दिखला कर (विश्लेषयसि) तुम हटाते हो (किम्) क्या? (इति) ऐसा (हि) निश्चय करके (अवदन्) दिव्य सूरि श्रीशठकोप स्वामीजी ने कहा है। इसीसे कहते हैं कि — मार्ग को दिखलाकर हटाते हो क्या ऐसा कहा है ॥१३२॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी उपायान्तर का स्वरूपनाशकत्व से होने वाले दूषणों को कहते हैं कि—

"वर्तते मे महद्भयम्" इत्युक्तत्वाद्भयजनकम्, 'माशुचः' इत्युक्तत्वाच्छोकजनकम् ॥ १३३ ॥

अर्थ– (महत्) बड़ा भारी (भयम्) डर (मे) हमें (वर्तते) वर्तमान है (इति) ऐसा (उक्तत्वात्) कहने से (भयजनकम्) भयजनक है। और (माशुचः) शोक मत करो (इति) ऐसा (उक्तत्वात्) कहने से(शोकजनकम्) शोकजनक है। अर्थात् एकसौ तैंतिसवें सूत्र में "वर्तते मे महद्भयम्" यह वाक्य और "माशुच" यह वाक्य, ये दोनों प्रतीक है। इससे पहले समस्त प्रतीकवाले श्लोकों को लिखकर अर्थ लिखता हूँ कि– कालेष्वपि च सर्वेषु दिक्षु सर्वासुचाच्युत। शरीरे च गतौ चापि वर्तते मे महद्भयम्॥ पाञ्चरात्रागमे जितन्तते स्तोत्रे चतुर्थाध्याये, श्लो० ६। हे अच्युत भगवन्! सम्पूर्ण भूत भविष्य वर्तमान कालों में और सम्पूर्ण दिशाओं में तथा इस शरीर में और गति में हमें बड़ा भारी भय होता है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ भगवद्गीता ॥ अ० १८ श्लोक० ॥६६॥ भगवत् प्राप्ति के लिये जो मैंने सम्पूर्ण धर्म कहा है उन सब धर्मों को परित्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्द धन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूण पापों से छुड़ा दूँगा। तुम शोक मत करो ॥६६॥ इन दोनों श्लोकों से स्पष्ट भयजनक और शोक जनक मालूम होता है। इसीसे कहते हैं कि—हमें बड़ा भारी भय है, ऐसा कहने से भयजनक और शोक मत करो, ऐसा कहने से शोकजनक है ॥१३०॥

अब प्रबन्धकर्ता पूर्वोक्त प्रकार के अर्थ को नहीं मानने पर होने वाले विरोध को कहते हैं कि—

एवमनंगीकार एतत्प्रवृत्तौ प्रायश्चित्तविधेरसंभवः ॥१३४॥

अर्थ— (एवम्) इस प्रकार के (अनंगीकारे) प्रपत्ति से भिन्न उपायको स्वरूप नाशक नहीं मानने पर (एतत्प्रवृत्तौ) उपायान्तर के अनुष्ठान में (प्रायश्चित्तविधेः) प्रायश्चित्त की विधि (असंभवः) नहीं होनी चाहिये। इस विषय में लिखा है कि—सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोयं तारयेन्नरम्। उपायापायसंयोगे निष्ठया हीयतेऽनया ॥ अपायसंप्लवेसद्यः प्रायश्चित्तं समाचरेत्। प्रायश्चित्तिरियं सात्र यत्पुनः शरणं व्रजेत्। उपायानामुपायत्वस्वीकारेऽप्येतदेव हि ॥ यह प्रवृत्ति एक ही बार करने से मनुष्य को तारती है। उपाय और अपाय के संयोग होने पर यह प्रपत्ति नष्ट हो जाती है। अपाय अर्थात् निषिद्धानुष्ठान करने पर शीघ्र ही प्रायश्चित्त करे। इसका प्रायश्चित्त यह है कि फिर से पहले की हुई प्रपत्ति को स्मरण करना। उपायानुष्ठान करने पर भी यही प्रायश्चित्त है ॥ इसीसे कहते हैं—ऐसा अंगीकार न करने पर उनके अनुष्ठान में प्रायश्चित्त विधि नहीं होनी चाहिये ॥ १३४ ॥

अब जगदाचार्य जी स्वरूपनाशक उपायान्तर को अत्यन्त निषिद्ध कहते हैं—

श्रीकुरुकाधिनाथस्य सूक्तिप्रकारः "मदिराविन्दु" मिश्रितशातकुंभमयकुंभगततीर्थसलिलवदहंकार-मिश्रमुपायान्तरम् ।२३५।

अर्थ—(श्रीकुरुकाधिनाथस्य) सर्वज्ञ भाष्यकार के चरणों के आश्रित उनके अभिमत विषय और सकल शास्त्र ज्ञान सम्पन्न होने से आप्ततम श्रीकुरुकाधिनाथ की (सूक्तिप्रकारः) सुन्दर उक्ति के प्रकार (मदिरा विन्दुमिश्रितशातकुम्भमयकुम्भगततीर्थसलिलवत्) अपने स्पर्श से सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने सदृश बनानेवाली अत्यन्त निषिद्ध मदिरा के बुन्द से मिला हुए सोने से बनाए हुए घड़े में रखे हुए तीर्थ के जल के समान (अहंकारमिश्रम्) अहंकार से मिला हुआ (उपायान्तरम्) उपायान्तर है। अर्थात् जैसे सुवर्ण पात्रगत तीथजल पात्र की शुद्धि और अपनी शुद्धि होने पर भी मदिरा के विन्दु के मिलाप से निषिद्ध होता है। वैसे ही स्वतः निर्मलत्वादि से परिशुद्ध आत्मवस्तु में रहने वाली भगवदनन्य विषय होने से परिशुद्धाभक्ति स्वयत्नमूल अहंकार स्पर्श से ज्ञानियों के अनादर योग्य होती है। इसी से कहते हैं कि-श्री कुरुकाधिनाथ की सूक्ति प्रकार मदिरा विन्दु मिश्रित स्वर्णमय पात्रगत तीर्थजल की तरह अहंकार मिश्रित उपायान्तर है ॥१३५॥

अब श्रीवचनभूषणकार और भी अन्य दोष को कहते हैं कि—

रत्नस्य वराटिकावद्राज्यस्य लिकुवफलवच्च फलस्य सदृशं न भवति ॥२३६॥

अर्थ—(रत्नस्य) रत्न के बदले में (वराटिकावत्) कौड़ी की तरह (च) और (राज्यस्य) राज्य के बदले में (लिकुचफलवत्) नीबू के फल की तरह भक्तिमात्र (फलस्य) परमपुरुषार्थ लक्षण मोक्ष रूप फल के (सदृशम्) सदृश (न) नहीं (भवति) हो सकती है। इसीसे कहते हैं कि—रत्न के बदले में कौड़ी की तरह राज्य के बदले में नीबू की तरह फल के सदृश नहीं है ॥२३६॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि अपने पास कुछ भी देने को नहीं है।

स्वस्य दरिद्रत्वात्स्वेन दातव्यं नास्ति ।१३७॥

अर्थ— (स्वस्य) इस जीवात्मा के (दरिद्रत्वात्) दरिद्र होने से (स्वेन) जीवात्मा करके (दातव्य) देने योग्य इस चेतन के पास कुछ भी (न) नहीं (अस्ति) है। इसी से कहते हैं कि चेतन के दरिद्र होने से अपने पास देने योग्य कुछ नहीं है ॥१३७॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि भगवान् की दी हुई वस्तु को यदि दिया तो वह फल का साधन नहीं हो सकता है।

तद्दत्तस्य दानसमये क्रमेण ददाति चेदनुपायः स्यात् अक्रमेण ददाति चेच्चौर्यं प्रकटितंस्यात् ।१३८॥

अर्थ —(तद्दत्तस्य) भगवत् के दिये हुये का (दान समये) दान के समय में (क्रमेण) क्रम से चेत् यदि (ददाति) देता है तो वह (अनुपायः) भगवत् प्राप्ति के लिये उपाय नहीं (स्यात्) हो सकता है और (अक्रमेण) हमारा है ऐसी बुद्धि करके क्रम छोड़कर (चेत्) यदि (ददाति) देता है अर्थात् भगवत् को समर्पण करता है तो (चौर्यम्) चोरी (प्रकटितम्) प्रगट (स्यात्) हो जायगी। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि दान कितने प्रकार का है? इस प्रश्न का उत्तर भगवद्गीता में लिखा है कि दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानंसात्विकं स्मृतम् ॥ गी० १७, २० ॥ यत्तु-प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२१॥ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२॥

और हे अर्जुन! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान, देश काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करनेवाले के लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्विक कहा गया है ॥२०॥ और जो दान, क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल का उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥२१॥ और जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य, देशकाल में, कुपात्रों के लिये दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है ॥२२॥ इसी से कहते हैं कि—उनके दिये हुए को देने पर क्रम से दे तो उपाय नहीं होता है और क्रम छोड़ देने पर चोरी प्रकट होगी ॥१३८॥

अब जगदाचार्यजी और भी उपायान्तर के एक दोष कहते हैं कि—

भर्तृभोगमुदरपोषणस्य हेतुं करोति चेद्यथा तथोभयोरप्यवद्यम् ॥२३९॥

अर्थ—(यथा) जैसे स्त्री (भर्तृभोगम्) स्वयं प्रयोजनरूप अपने पति के भोग को (उदरपोषणस्य) अपने पेट पोषण के (चेत्) यदि (हेतुम्) साधन (करोति) करती है तो (उभयोः) अपने को पत्नीतया आदर करनेवाले पति और उसकी भार्या रूप से प्रसिद्ध स्त्री इन दोनों को (अपि) भी (अवद्यम्) दोष होगा (तथा) वैसे ही भगवद्वैलक्षण्यानुभव से होनेवाली भोगरूप भक्ति को मोक्ष के साधन करने पर, अपने को शेष भूत, मान आदरपूर्वक संश्लेष करनेवाले ईश्वर और तच्छेषभूत जीवात्मा (उभयोः) इन दोनों को (अपि) भी (अवद्यम्) दोष होगा। इस विषय में कुरुकाधिनाथ ने भी कहा है कि— रात्रौभर्त्रा संश्लिष्य प्रभाते निष्क्रयं दातव्यमित्यनुरुन्धेच्चेद्यथा तथा भक्तिमुपायत्वेन स्वीकरोति चेत् ॥ रात्रि में अपने पति के साथ आलिंगन कर सबेरे मजूरी दो ऐसा कह कर अंचल पकडने पर जैसा दोष होता है वैसा ही भक्ति को उपाय समझने से दोष होता है ॥ इसीसे कहते हैं कि पति के भोग को पेटपोषण के लिये हेतु माननेवाली के समान दोनों को दोष होगा ॥१३९॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि वेदान्त में यह भक्ति उपायत्वेन क्यों विधान की गयी है।

वेदान्तेष्वियमुपायत्वेन कथं विधीयत इति चेत् ॥१४०॥

अर्थ—(वेदान्तेषु) वेदान्त आदि में (इहम्) यह भक्ति (उपायत्वेन) उपायतया (कथम्) कैसे (विधीयते) विधान करते हैं (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर आगे के सूत्र में लिखा है। यह भक्ति शास्त्रों में उपायतया विधान की गयी है, क्योंकि लिखा है कि—

चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय

भक्तिनिष्ठोभव। भक्तिनिष्ठोभव भक्त्या सर्वसिद्धयः सिध्यन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति॥ त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० अध्या० ८॥ ब्रह्मा आदि सगुण देवों को भी बिना विष्णु भगवान की भक्ति के करोड़ों कल्पों करके मोक्ष नहीं प्राप्त होता है। कारण के बिना कार्य नहीं उत्पन्न होता है। भक्ति के बिना ब्रह्मज्ञान कभी नहीं उत्पन्न होता है। उससे तुम भी सब अन्य उपायों को छोड़कर भक्ति का आश्रयण करो। भक्तिनिष्ठ होओ। भक्ति से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भक्ति से असाध्य कुछ भी नहीं है। और भी लिखा है कि—पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया॥ गी० अ० ८।२२॥ हे अर्जुन वह पुरुषोत्तम भगवान् अनन्या भक्ति से प्राप्त होने योग्य है॥२२॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। गी० ११॥ ५४॥ हे अर्जुन तू अनन्य भक्ति से इस प्रकार के चतुर्भुज रूपवाले मुझको प्राप्त कर सकता है॥५४॥ और भी लिखा है कि—कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्य-कारिणी॥ पद्म पु० उत्तर खं० श्रीमद्भागवत मा० अ० २ श्लो० ४॥ कलि में केवल भक्ति ब्रह्म की सायुज्य मुक्ति को देनेवाली है॥४॥ पातञ्जल योगदर्शन में भी लिखा है कि— ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ यो० अ० १ पा० १ सू० २३॥ अथवा मन, वाणी और शरीर से परमेश्वर की भक्ति करने से॥२३॥ और भी लिखा है कि—भक्तिर्जनित्री ज्ञानस्य भक्तिर्मोक्षप्रदायिनी। भक्तिहीनेन यत्किंचित्कृतं सर्वमसत्समम्॥ अध्यात्म रा० युद्धकां० स० ७ श्लोक ६७॥ भक्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है और भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है, भक्ति से रहित जो कुछ किया जाता है वह सब नहीं करने के समान है॥६७॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से भक्ति उपाय मालूम होती है। इसीसे कहते हैं कि—यह भक्ति वेदान्त में उपायतया कैसे विधान की गई है?

अब प्रबन्धकर्ता एक सौ चालीसवें सूत्र में किये हुये प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि—

औषधसेवामकुर्वाणानामभिमतवस्तुनि तं मिश्रीकृत्य यथा ददति तथेश्वरं मेलयित्वा विदधति॥१३१॥

अर्थ—(यथा) जैसे अत्यन्त रोगी छोटा लड़का कहने पर भी जब (औषधसेवाम्) दवा का सेवन (अकुर्वाणानाम्) नहीं करता है तब उस

लड़के को (अभिमत वस्तुनि) उसकी इच्छित खानेयोग्य वस्तु में (तम्) उस दवा को (मिश्रीकृत्य) मिला कर (ददति) माता-पिता आदि देते हैं अर्थात् खिलाते हैं (तथा) वैसे ही शीघ्र भवरूज को दूर करने वाला सिद्धोपायरूप अमृत को स्वप्रवृत्ति निवृत्तिपूर्वक सेवन करने को पहले ही उपदेश करने पर अनादि काल से होने वाली स्वयत्न वासना से उसमें सम्मति न करनेवाले जीवों को भी छोड़ नहीं सकने से उनके अभिमत स्वयत्नरूप वासना में (ईश्वरम्) सिद्धोपायभूत ईश्वर को (मेलयित्वा) मिलाकर (विदधति) भक्ति को उपायतया शास्त्र विधान करते हैं। इसी से कहते हैं कि—जैसे दवा खानेवालों को उनकी अभिमत वस्तु में उस दवा को मिलाकर खिलाते हैं, वैसे ईश्वर को मिलाकर विधान करते हैं ॥१४१॥

अब श्रीवचनभूषणकार उपासना को विधान करने के कारण को कहते हैं कि—

इमां प्रवर्तयति परहिंसां निवर्तयितुम् ॥१४२॥

अर्थ—(इमाम्) इस भक्ति रूप उपासना को (प्रवर्तयति) शास्त्रने प्रवर्तनया विधान किया है (परहिंसाम्) उत्कृष्ट हिंसा जो "अग्निषोमीयं पाशुमालभेत्" अग्नि और सोम सम्बंधी पशु की हिंसा करो इस वचन से कही गयी है—उस हिंसा को (निवर्तयितुम्) हटाने के लिये। अर्थात् उपासना विधि से काम्यकर्म निवृत्त होता है। इसी से कहते हैं कि—इसको प्रवर्तन किया है, परहिंसा निवृत्ति के लिये ॥१४२॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि यह उपासना, विधि और निषेध का विषय है, तो भी कोई विरोध नहीं है।

एतच्च पूर्वविहितहिंसावत् विधिनिषेधयोर्न विरोधः ॥१४३॥

अर्थ—(च) और (एतत्) यह पूर्वोक्त उपासना (पूर्वविहित हिंसावत्) पहले कहा हुआ जो "श्येनेनाभिचरन् यजेत्" अभिचार करनेवाला श्येनयाग करे। इस वचन से हिंसा है उस हिंसा की तरह (विधिनिषेधयोः) विधि और निषेध के विषय होने में (विरोधः) विरोध (न) नहीं है। इसीसे कहते हैं कि—यह पूर्व विहित हिंसा की तरह विधि और निषेध के विषय होने में दोष नहीं है ॥१४३॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि श्येनयाग शास्त्र में विश्वास होने के लिये और उपासना के विधान अपने स्वरूप में विश्वास होने के लिये कहा गया है।

तच्छास्त्रविश्वासार्थं व्यदधात्, इदं स्वरूपविश्वासार्थं व्यदधात् ॥१४४॥

अर्थ—(तत्) यह श्येनादियागरूप अभिचारकर्म (शास्त्रविश्वासार्थम्) शास्त्र को नहीं माननेवाले नास्तिकों को शास्त्र में विश्वास होने के लिये (व्यदधात्) विधान किया है और (इदम्) यह पूर्वोक्त उपासना (स्वरूपविश्वासार्थम) अपने को स्वतन्त्र और अन्य शेष समझ भ्रान्त चेतन को ये दोनों आगन्तुक हैं, भगवत्शेषत्व ही स्वभाव सिद्ध आकार है, ऐसा अपने स्वरूप में विश्वास होने के लिये (व्यदधात्) विधान किया गया है। इसीसे कहते हैं कि—अभिचार को शास्त्र में विश्वास होने के लिये विधान किया और उपासना को स्वरूप में विश्वास होने के लिये विधान किया ॥१४४॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि अहंकार मिश्रित यह उपासना अभिचार कर्म से भी अधिक क्रूर है।

तच्चर्मस्पर्श्येव गच्छति, इदं मर्मस्पर्शि ॥१४५॥

अर्थ—(तत्) परहिंसारूप वह अभिचार कर्म (चर्मस्पर्शि) देहात्माभिमानीका कार्य हो शरीर विशिष्ट आकार का विरोधी होने से चाम को स्पर्श करता हुआ (एव) निश्चय करके (गच्छति) चला जाता है और (इदम्) अहंकारमिश्रित यह उपासना आत्मज्ञानो का कार्य हो शेषत्व का विरोधी हो भगवदेक पारतंत्र्य रूप स्वरूपका नाशक होने से (मर्मस्पर्शि) मर्म को स्पर्श करती है। इसे कहा है कि—वह अभिचारकर्म चाम को छूता हुआ ही चला जाता है और यह अहंकार मिश्रित उपासना मर्म को स्पर्श करती है ॥१४५॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि स्वरूप विरोधी यह उपासना दुष्कर भी है।

इदं कर्मसाध्यत्वाद् दुष्करं च भवति ॥१४६॥

अथ—(इदम्) स्वरूपविरोधी यह उपासना (कर्मसाध्यत्वात) कर्म करके साधन करने योग्य होने से (दुष्करम्) दुष्कर (च) भी (भवति) है। कर्म

सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। लिखा है कि—नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लोक २३॥ यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥२४॥ अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥२५॥ जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ कर्तापन के अभिमान से रहित फल को न चाहनेवाले पुरुष द्वारा बिना राग द्वेष से किया हुआ है वह कर्म सात्विक कहा जाता है॥२३॥ और जो कम बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहनेवाले और अहंकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है॥२४॥ और जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा तथा सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है वह कर्म तामस कहा जाता है॥२५॥ उपासना के लिये सब कर्मों की अपेक्षा है। क्योंकि लिखा है कि—सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्॥ वेदान्त० अ० ३ पा० ४ सूत्र २६॥ उपासना के लिये सब कर्मों की अपेक्षा है। यज्ञादिश्रुति से घोड़े के उपयुक्त लगाम, चरजामा, चाबुक आदिक से सजावट कर लाओ ऐसा अर्थ होता है॥२६॥ यज्ञादि श्रुति इस प्रकार है कि—

यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति॥

यज्ञ, दान, तपस्या और उपवास से ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं॥ इससे कहते हैं कि—अहंकार मिश्रित यह उपासना कर्मसाध्य होने से दुष्कर भी है॥१४६॥

॥इति श्रीवचनभूषणे अधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणे उपायान्तरदोषः समाप्तः॥

॥अथ अधिकारिवैभवनाम तृतीयप्रकरणे सिद्धोपायाधिकारः॥

अबलोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि प्रपत्ति रूप उपाय को एक भी दोष नहीं है।

प्रपत्त्युपायस्य एतेषु कोऽपि नास्ति॥१४७॥

अर्थ—(प्रपत्त्युपायस्य) प्रपत्ति रूप उपाय के (एतेषु) अपायत्व भयजनकत्व, शोकजनकत्व, निषिद्धत्व, अवद्यकरत्व, स्वरूपविरोधित्व

आदिक इन (दोषेषु में (कः) कोई (अपि) भी (न) नहीं (अस्ति) है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि प्रपत्ति किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

भगवत्प्रवृत्तिविरोधिस्वप्रवृत्तिनिवृत्तिः प्रपत्तिः ॥

भगवत् को प्रवृत्ति-विरोधिनी जो जीवात्मा की प्रवृत्ति है उस प्रवृत्ति की निवृत्ति को प्रपत्ति कहते हैं ॥ इसीसे कहा है कि प्रपत्तिरूप उपाय के इन दोषों में कोई भी दोष नही है ॥१४७॥

अब प्रबन्धकर्त्ता प्रपत्ति में दोष नहीं है इसको सिद्ध करने के लिये प्रपत्ति को स्वरूपोचित और सुकर कहते हैं कि—

आत्मयाथात्म्यज्ञानकार्यत्वात्स्वरूपस्योचिता, "न व्याप्रियताम्" इत्युक्तप्रकारेण निवृत्तिसाध्यत्वात्सुकरा च भवति ॥१४८॥

अर्थ—(आत्मयाथात्म्यज्ञानकार्यत्वात्) आत्मा का यथार्थ आकार जो भगवदत्यन्त पारतंत्र्य उसके ज्ञान कार्य होने से प्रपत्तिरूप उपाय (स्वरूपस्य) भगवदत्यन्त पारतंत्र्य स्वरूप के (उचिता) अनुरूप है (च) और (न) नहीं (व्याप्रियताम्) कोई व्यापार करो (इति) ऐसा उक्त प्रकारेण) दिव्यसूरि से कहे हुए वाक्य के अनुसार (निवृत्तिसाध्यत्वात्) अपनी प्रवृत्ति को छोड़ साधन करने योग्य होने से (सुकरा) सुखपूर्वक करने योग्य सुकर (भवति) है। इसीसे कहा है कि—आत्मा के यथार्थ ज्ञान का कार्य होने से प्रपत्ति स्वरूप के उचित है और यत्न मत करो इस वचनानुसार निवृत्ति साध्य होने से सुकर भी है ॥१४८॥

अबश्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि परमात्मा अवाप्त समस्त काम है, इससे उसके वैभव के अनुसार कोई भी भेंट नहीं दे सकता है।

पूर्णविषयत्वात्तद्वैभवानुगुणमुपहारो न कल्पयितुं शक्यते ॥१४९॥

अर्थ—(पूर्णविषयत्वात्) परमात्मा अवाप्त समस्त काम और पूर्ण विषय होने से (तद्वैभवानुगुणम्) उस परमेश्वर के गौरव के अनुसार

(उपहारः) भेंट (कल्पयितुम्) देने के लिये (न) नहीं (शक्यते) चेतन समर्थ हो सकते हैं। अर्थात् लोक में भेंट देनेवाले जिसको देते हैं उसके गौरव के अनुसार देते हैं। यहाँ पर भगवत् के परिपूर्ण होने से उसके गौरव के अनुसार इस चेतन के पास कुछ भी देने लायक नहीं है। इसीसे कहा है कि—पूर्णविषय होने से गौरवानुसार भेंट नहीं दे सकता है ॥१५९॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि जीव के अभिमुख होने ही से परमात्मा अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं।

आभिमुख्यसूचकमात्रे संतोषो वर्द्धते ॥१५०॥

अर्थ—(आभिमुख्यसूचकमात्रे) अनेक जन्म से भगवद्विमुख यह चेतन जब भगवत् के सम्मुख होता है तब केवल आभिमुख्य के दिखाने मात्र से (संतोषः) संतोष (वर्द्धते) बढ़ता है अर्थात् भगवत् का हृदय अत्यन्त प्रसन्न होता है। इसी से कहा है कि आभिमुख्य को दिखाने मात्र से परमात्मा अत्यन्त प्रसन्न होता है ॥१५०॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि भगवान् प्रेम के साथ आश्रयण करने योग्य हैं।

पूर्तिर्निवृत्तिमकृत्वा आदरणे हेतुः ॥१५१॥

अर्थ—(पूर्तिः) पूर्ति (निवृत्तिम्) निवृत्ति को (अकृत्वा) नहीं कर (आदरणे) आदर करने में (हेतुः) कारण है। अर्थात् आश्रयणोन्मुख चेतन हम किसी प्रकार सर्वेश्वर को सन्तुष्ट करने में अशक्य हैं, ऐसा समझ उसके आश्रयण अलग न कर हमारे दिये हुए को लेकर तृप्त न हो, जैसा परिपूर्ण होने से हमारी समर्पित वस्तु से संतुष्ट होगा, ऐसा समझ प्रेम के साथ आश्रयण करने के साथ आश्रयण करने के योग्य होता है। इसी से कहा है कि—पूर्ति हाथ न खींच ऊपर गिरने का कारण है ॥१५१॥

अब लोकाचार्य स्वामी जी यह कहते हैं कि भक्तजन जो कुछ परमात्मा को समर्पण करते हैं उसीसे सर्वेश्वर संतुष्ट होते हैं।

"पत्रं पुष्पम्" "अन्यत्पूर्णात्" समर्पणीयो धूपः पुष्पमेव ॥१५२॥

अर्थ (पत्रम्) पत्ता (पुष्पम्) फूल (पूर्णात्) जल से भरे हुए घड़े से और (अन्यत्) अन्यवस्तु (समर्पणीयः) भगवत् को समर्पण करने योग्य (धूपः)

धूप और (पुष्पम्) फूल (एव) निश्चय करके हैं। इस एक सौ बावनवें सूत्र में "पत्रं पुष्पम्" तथा "अन्यत्पूर्णात्" और "समर्पणीयो धूपः पुष्पमेव" ये तीन प्रतीक हैं। इससे इन तीनों का अर्थ स्पष्ट आगे लिखता हूँ कि— पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ भगवद्गीता अ० ९ श्लो० २६॥ पत्ता, फूल, फल, जल इत्यादिक को जो कोई भक्तजन मेरे लिये प्रेम से अर्पण करता है वह पत्ता, फूल आदिक मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीति सहित खाता हूँ ॥२६॥ और ॥

अन्यत्पूर्णादपांकुंभादन्यत्पादावनेजनात्।
अन्यत्कुशलसंप्रश्नान्नैवेच्छति जनार्दनः॥

महाभार० उद्योगप० अध्याय ८७ श्लोक १३॥

जल से भरे हुए घड़े से अन्य, और पैर धोने के जल से अन्य तथा कुशल प्रश्न से अन्य कुछ भी जनार्दन श्रीकृष्ण भगवान् नहीं चाहते हैं ॥१३॥ और परांकुशमुनि स्वामीजी ने "दुःखरहितमीशम्" यहाँ से प्रारंभ कर कहा है कि— समर्पणीयो धूपः पुष्पमेव॥ प्रीति से समर्पण करने योग्य पत्ता और फूल ही है॥ इसीसे कहते हैं कि पत्ता फूल जल भरा हुआ घड़ा और अन्य देने योग्य धूप और फूल ही हैं ॥१५२॥

अब जगदाचार्यजी सिद्धोपाय और फल इन दोनों की एकता को कहते हैं कि—

तृणं प्रदर्श्याहूय तृणं यथा ददति तथा फलसाधनयोर्भेदो नास्ति ॥१५३॥

अर्थ—(यथा) जैसे गौ के पालन करनेवाले लोग (तृणम्) गौ के सामने घास को (प्रदर्श्य) दिखा कर (आहूय) अपने समीप में बुलाकर (तृणम्) घास को (ददति) देते हैं तो यहाँ पर जैसे फल और साधन में भेद नहीं है (तथा) वैसे ही विलक्षण गुण विग्रह विशिष्ट परमात्मा ही पहले इस जीवात्मा के वश करने का उपाय हो फिर इस जीव के अनुभव करने योग्य होता है इससे (फल साधनयोः)फल और साधन में (भेदः) भेद (न नहीं अस्ति) है। इसीसे कहते हैं कि— जैसे घास को दिखाकर पास में बुलाकर गौ को घास ही देते हैं वैसे ही फल और साधन में भेद नहीं हैं ॥१५३॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि इससे प्रपत्ति सबसे श्रेष्ठ सुखरूप है।

तस्मात्सुखरूपा च भवति ॥१५४॥

अर्थ— (च) और (तस्मात्) उस कारण से (सुखरूपा) सुखरूप (भवति) प्रपत्ति होती है। अर्थात् साध्यवस्तु ही साधन होने से तत्स्वीकार रूप यह प्रपत्ति सुखरूप होती है। इसीसे कहते हैं कि—उस कारण से यह प्रपत्ति सुखरूप होती है ॥१५४॥

इति श्रीवचनभूषणे अधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणे सिद्धोपायाधिकारः समाप्तः ॥

॥ अथ अधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणे सिद्धोपायनिष्टवैभवः ॥

अब लोकाचार्यस्वामीजी यह कहते हैं कि यह चेतन यदि ईश्वर को पाने की इच्छा करता है तो प्रपत्ति भी उपाय नहीं है।

अयं तं प्रेप्सति चेदियं प्रपत्तिश्च नोपायः ॥१५५॥

अर्थ — (अयम्) यह जीवात्मा (तम्) उस परमात्मा को (चेत्) यदि (प्रेप्सति) प्राप्त करने की इच्छा करता है यो(इयम्) सब उपायों से श्रेष्ठ यह (प्रपत्तिः)भगवत् की प्रपत्ति(च)भी (उपायः)भगवत् प्राप्ति का उपाय (न) नहीं होती है। इसीसे कहते हैं कि— जब यह चेतन ईश्वर को पाने की इच्छा करता है तब यह प्रपत्ति भी उपाय नहीं होती है ॥१५५॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि यदि ईश्वर इस चेतन को पाने की इच्छा करते हैं तब पाप भी प्रतिबन्धक नहीं होते हैं।

सोऽमुं प्रेप्सति चेत् पातकमपि न प्रतिबंधकम् ॥१५६॥

अर्थ — (सः) स्वतन्त्र मालिक वे परमात्मा (अमुम्) परतन्त्र इस चेतन को (चेत्) यदि अपनी इच्छा से (प्रेप्सति) प्राप्त करने की इच्छा करते हैं तो (पातकम्) पापों में प्रधान गिने जानेवाले पाप (अपि) भी (प्रतिबन्धकम्) प्रतिबन्धक (न) नहीं होता है। क्योंकि यह लिखा है कि—

चितः परमचिल्लाभे प्रपत्तिरपि नोपधिः।
विपर्यये तु नैवारय प्रतिषेधाय पातकम् ॥

चेतन के परमात्मा की प्राप्ति में प्रपत्ति भी उपाय नहीं है। परमात्मा के चेतन की प्राप्ति में चेतनगत पाप भी प्रतिबन्धक नहीं है। इसी से कहते हैं कि—वह परमात्मा इस चेतन को पाने की इच्छा करता है तो चेतन का पाप भी प्रतिबन्धक नहीं होता है ॥१५६॥

अब जगदाचार्यजी पूर्वोक्त दोनों को कहाँ देख सकते हैं इसको कहते हैं कि—

एतदुभयमपि श्रीभरते गुहे च दृश्यते ॥१५७॥

अर्थ—(एतत्) इन (उभयम्) दोनों को (अपि) भी (श्रीभरते) श्रीभरतसूरि में (च) और (गुहे) श्रीगुहदेव में दृश्यते) देखा जाता है। इसी से कहते हैं कि— इन दोनों को श्रीभरतसूरि में और श्रीगुहदेव में देख सकते हैं ॥१५७॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि श्रीभरतसूरि का पुण्य ही पाप हो गया और श्रीगुहदेव का पाप ही पुण्य हो गया है।

श्रीभरतस्य समीचीनमेवासमीचीनं जातम्, श्रीगुहस्य असमीचीनमेव समीचीनं जातम् ॥१५८॥

अर्थ—(श्रीभरतस्य) श्रीभरतसूरि के (समीचीनम्) प्रपत्तिरूप पुण्य (एव) निश्चय करके शरण्य श्रीरामजी के इच्छित न होने से (असमीचीनम्) पाप (जातम्) हुआ है और (श्रीगुहस्य) श्रीगुहदेव के (असमीचीनम्) पाप (एव) निश्चय करके श्री रामजी से अंगीकार करने से (समीचीनम्) पुण्य हुआ है। पुण्य और पाप का लक्षण लिखा है कि—यत्वत्प्रियं तदिह पुण्यमपुण्यमन्यत् ॥ जो भगवान् का प्रिय है वही पुण्य है और जो भगवान् का अप्रिय है वही पाप है॥ श्रीभरतसूरि ने प्रपत्ति की है। यह लिखा है कि—पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ वा० रा० अयो० २ स० ९९ श्लोक ३७ ॥ रोते हुए श्रीभरतजी श्रीरामजी के चरणों को नहीं पाकर पृथ्वी में गिर गये॥३७॥ और भी लिखा है कि—तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि। अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ वाल्मी० रा० अयो० १ स० १०४ श्लोक ८ ॥ दास भूत मेरे ऊपर प्रसन्नता करने योग्य आप हैं, आज ही इन्द्र के समान राज्याभिषेक को ग्रहण कीजिये ॥८॥ इस प्रकार बहुत कहकर—

रामस्यशिरसा पादौ जग्राह विधिवत्पुनः ॥ वाल्मी० अयो० २ स० १०४ श्लो० १४ ॥ फिर से श्रीभरतसूरिजी ने श्रीरामजी के दोनों चरणों को शिर से ग्रहण किया ॥१४॥ इस प्रकार के राज्याभिषेक के लिये श्रीभरतसूरिजी के प्रपत्ति करने पर भी शरण्य श्रीरामजी का वह अनिष्ट है अतएव श्रीरामजी ने कहा है कि— वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥ वाल्मी० अयो० २ स० १०४ श्लोक २३ ॥ वल्कल के वस्त्र से मुझे दण्डकारण्य में निवास करना चाहिये ॥२३॥ और ॥ पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥२५॥ पिताजी से दिया हुआ राज्य तुम भोग कर सकते हो ॥२५॥ इससे सिद्ध हो गया कि श्रीभरतसूरि का पुण्य श्रीरामजी के अनिष्ट होने से पाप हो गया है। और निषादराज श्रीगुहदेव का पाप श्रीरामजी के इष्ट होने से पुण्य हो गया है यह लिखा है कि — तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा ॥ वाल्मी० अयो० स० ५० श्लोक ३२ ॥ श्रृंगवेरपुर में श्रीगुहदेव नामवाला राजा आत्मा के समान श्रीरामजी का सखा था ॥३३॥ और भी साक्षात् श्रीरामजी ने कहा है कि— अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वदावयम्। पदभ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च ॥ वाल्मी० अयो० २ स० ५० श्लो० ४० ॥ भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन्वाक्यमब्रवीत् ॥४१॥ पैदल आने से और अच्छे प्रकार के प्रेम देखने से आपने सर्वदा हम सबों की पूजा और प्रसन्नता को किया है ॥४०॥ ऐसा सुन्दर कार्य करनेवाले दोनों हाथों से श्रीरामजी ने श्री गुहदेव को पकड़कर वाक्य कहा ॥४१॥ इस पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध होता है कि श्री गुहदेव का पाप ही श्रीरामजी को इष्ट होने से पुण्य हो गया है। इसी से कहा है कि— श्री भरतसूरि का पुण्य ही पाप हुआ और श्रीनिषादराज गुहदेव का पाप ही पुण्य हुआ ॥१५८॥

अब प्रबन्धकर्ता श्रीभाष्यकार के अनुष्ठान प्रकार को कहते हैं कि—

सर्वापराधानामपि प्रायश्चित्तरूपा प्रपत्तिश्चापराधकोटावन्विता क्षमापणकर्तव्यतार्हास्थिता खलु ॥१५९॥

अर्थ— (सर्वापराधानाम्) सब अपराधों का (अपि) भी (प्रायश्चित्तरूपा) प्रायश्चित्त रूप (प्रपत्तिः) भगवत् की प्रपत्ति है क्योंकि लिखा है कि— अपराधसहस्रभाजनम् ॥ आलवन्दा० श्लो० ५१ ॥ अनन्त अपराधों

का स्थान भूतपात्र हूँ ॥५१॥ इस वचन के अनुसार अपराधों का स्थान-भूत इस चेतन के द्वारा प्रपत्ति करने पर सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्मामि ॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लोक ६६ ॥ सब पापों से मुक्त करूँगा ॥६६॥ इस चरम वाक्य के अनुसार इस चेतन के ऊपर परमात्मा के प्रसन्न होने से प्रपत्ति सब अपराधों का प्रायश्चितरूप है (च) और (अपराध कोटौ) अपराध की कोटि में (अन्विता) अन्वित होकर (खलु) निश्चय करके(क्षमापणकर्तव्यतार्हा)क्षमापण करने योग्यप्रपत्ति(स्थिता) स्थित है। अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार की प्रपत्ति को— त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये ॥ आपके दोनों चरणारविन्दों में मैं शरणागति करता हूँ ॥ ऐसा प्रपत्ति करनेवाले श्रीभाष्यकार स्वामीजी अपने पूर्ववृत्त को अनुसंधान कर उस प्रपत्ति को अपराध कोटि में जान ॥ त्वमेव माता च ॥ पाण्डव गी० श्लोक २८ ॥ आप ही माता हैं ॥२८। ऐसा प्रारम्भ कर अपने अपराधों को क्षमा करने योग्य सम्बन्धों को विज्ञापन कर ॥ तस्मात्प्रणम्य ॥ भगवद्गी० अ० ११ श्लोक ४४ ॥ तिससे प्रणाम कर ॥४४॥ इत्यादि से इस प्रकार आपके सामने निडर खड़ा हो प्रपत्ति करने से इस अपराध को क्षमा कीजिये ऐसा क्षमापण कराना आवश्यक हुआ। इस कारण यह प्रपत्ति अपराध कोटि में गिनी जाती है। इसी से कहा है कि— सब अपराधों का प्रायश्चित रूप प्रपत्ति अपराध कोटि में गिनी जाकर क्षमापण करने योग्य होती है ॥१५६॥

अब जगदाचार्यजी चेतन कर्तृक प्रपत्ति अपने पूर्ववृत्तका अनुसंधान करने पर अपराध कोटि में गिनी जाती है, इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि—

बहुकालमन्यपरा भार्या लज्जाभये त्यक्त्वा भर्तृसकाशे स्थित्वा मामंगीकुरुष्वेत्यपेक्षते चेद्यथा स्यात्तथा वर्तमानः कश्चन खल्वनेन क्रियमाणा प्रपत्तिः ॥१६०॥

अर्थ— (बहुकालम्) बहुत काल पर्यन्त अपने पति का साथ छोड़कर (अन्यपरा) पर पुरुष के साथ रहनेवाली (भार्या) स्त्री(लज्जाभये) मैं पति की सन्निधि में निडर हो कैसे जा सकती हूँ, इस प्रकार की लज्जा को

और इतने काल तक हमारे बुरे कर्मों को देखते रहनेवाले पति अब हमारी इस प्रकार इज्जत खराब करती है ऐसा समझ दण्ड देंगे तो क्या होगा ऐसे डर को (त्यक्त्वा) छोड़कर (भर्तृसकाशे) पति के समीप में (स्थित्वा) खड़ी होकर (माम्) मुझको(अंगीकुरुष्व) स्वीकार करो (इति) ऐसी (अपेक्षते) अपेक्षा करती है (चेत्) यदि तो उसको (यथा जैसा (स्यात्) अपराध होगा (तथा) वैसा ही (खलु) निश्चय करके (कश्चन) भगवदनन्यार्हशेष भूत कोई चेतन अनादि काल से परमात्मा का सम्बन्ध छोड़कर (वर्तमानः) अन्य देवादिकों में आसक्त हो रहनेवाला (अनेन) इस प्रकार के अपने पूर्ववृत्तानुसन्धान से होनेवाली लज्जा को और स्वतन्त्र परमात्मा दण्ड देने से क्या करेंगे ऐसे डर को छोड़ कर भगवत् की सन्निधि में जा खड़े हो मुझको अंगीकार करो ऐसा कहकर (क्रियमाणः) चेतन द्वारा क्रियमाण (प्रपत्तिः) प्रपत्ति है। अर्थात् ऐसी प्रपत्ति से अपराध होगा। इसीसे कहा है कि— बहुत काल तक अन्यासक्त हो रहनेवाली स्त्री के लज्जा और डर को छोड़ कर पति के समीप में खड़ी होकर मुझको अंगीकार करो ऐसी अपेक्षा करने से जैसा अपराध होता है, वैसा ही चेतन द्वारा क्रियमाण प्रपत्ति से निश्चय करके अपराध होता है ॥१६०॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि कृपा से होनेवाला पारतन्त्र्य से अपनी स्वतन्त्रता से होनेवाला पारतंत्र्य श्रेष्ठ है।

कृपया आगतात् पारतंत्र्यात् स्वातंत्र्येणागतं पारतंत्र्यं प्रबलम् ॥१६१॥

अर्थ—(कृपया) भगवत् की दया से (आगतात्) आनेवाली (पारतंत्र्यात्) पराधीनता से (स्वातंत्र्येण) अपने स्वातंत्र्य से (आगतम्) आनेवाली (पारतंत्र्यम्) पराधीनता (प्रबलम्) श्रेष्ठ है। इसीसे कहा है कि कृपा से होनेवाले पारतंत्र्य की अपेक्षा स्वातंत्र्य से होनेवाला पारतंत्र्य प्रबल है ॥१६१॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि यह अर्थ वेद का अभिमत है।

अमुमर्थं वेदपुरुषोऽपेक्षितवान् ॥१६२॥

अर्थ— (अमुम्) स्वातंत्र्य से होनेवाला पारतंत्र्य प्रबल है इस (अर्थम्)अर्थ को (वेदपुरुषः)वेदपुरुष (अपेक्षितवान्) चाहता है। यह कठो-

पनिषद् में लिखा है—**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥**

॥कठोपनि० अध्या० १ वल्ली २ मं० २२॥

यह परमात्मा व्याख्यान से या मेधा से या बहुत सुनने से नही मिलता है, जिस चेतन को यह परमात्मा स्वीकार करता है उससे ही प्राप्त होने योग्य है उसी को यह परमात्मा अपना स्वरूप रूपगुण विभूतियों का विस्तार कर दिखाता है ॥२२॥ यह मंत्र मुण्डकोपनिषद् के तीसरे मुण्डक के दूसरे खण्ड के तीसरे मत्र में भी लिखा है। इसी से कहा है कि—इस अथ को वेद पुरुष चाहता है ॥१६२॥

अब प्रबन्धकर्ता इस चेतन की अपेक्षा नही करने पर भी जिसको परमात्मा ने अपेक्षा की है उसको कहते हैं कि—

अपेक्षानिरपेक्षं मारुतेः श्रीगुहस्य चायं जातः ॥१६३॥

अथ (अपेक्षानिरपेक्षम्) बिना अपेक्षा के (मारुतेः) महावीर के (च) और (श्रीगुहस्य) निषादराज श्रीगुहदेव के (चार्य) यह (जातः) उत्पन्न हुआ है। अर्थात् श्रीरामजी ने आप ही जाकर पंपा के तीर पर हनुमान जी को अंगीकार किया है। यह वृत्तान्त वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धाकाण्ड के तीसरे सर्ग में स्पष्ट लिखा हुआ है। और भी लिखा है कि—पंपातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह ॥ वाल्मीकिरा० बालकां० १ स० १ श्लोक ५८ ॥ पंपा के तीर पर श्रीरामजी का श्रीहनूमान नामवाले बानर स संग हुआ ॥५८॥ और ऐसे ही श्रीरामजी ने आप ही गंगा के किनारे जाकर श्रीगुहदेव को अंगीकार किया है। यह वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड के पचासवें सर्ग में स्पष्ट लिखा है। और भी लिखा है कि गुहमासाद्यधर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ॥ वाल्मीकिरा० बालकां० स० १ श्लाक २९ ॥ धर्मात्मा श्रीरामजी गंगा के किनारे निषादों के राजा प्रिय श्रीगुहदेव से मिले ॥२९। इसीसे कहा है कि—बिना अपेक्षा के श्रीमारुतिजी को और श्रीगुहदेव को यह अंगीकार हुआ है ॥१६३॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि यह चेतन आश्रयण समय में जिसको पुरुषकार के लिये आगे करता है परमात्मा भी अंगीकार समय में उसी को आगे करते हैं।

अनेन पुरस्क्रियमाणान् स पुरस्करोतीत्ययमर्थोऽभय-प्रदाने च द्रष्टव्यः ॥१६४॥

अर्थ—(अनेन) इस चेतन करके (पुरस्क्रियमाणान्) आश्रयण के समय में पुरुषकारके लिये जिनको आगे किया जाता है (सः) परमात्मा भी अंगीकार के समय में उन्हीं को (पुरस्करोति) आगे करता है (इति) ऐसा (च) और (अयम्) यह (अर्थः) अर्थ (अभयप्रदाने) श्री विभीषण सूरि के अभय प्रदान स्थल में (द्रष्टव्यः) देखने योग्य है। क्योंकि श्री विभीषण सूरि ने कहा है कि—सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः। त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥ वाल्मीकिरा० युद्धकां० ६ स० १७ श्लोक १६॥ सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने। निवेदयत मां क्षिप्रं विभीषणमुपस्थितम् ॥१७॥ मैं उस रावण से कठिन वचन कहा जाकर नौकर की तरह अपमानित होकर पुत्रों को और स्त्रियों को छोड़कर श्रीरामजी की शरण में आया हूँ ॥१६॥ सब लोक के रक्षक महात्मा श्रीरामजी से, शरण में आया हुआ विभीषण नामवाला है ऐसा शीघ्र निवेदन कीजिये ॥१७॥ ऐसा कहने पर अभयदान पूर्वक अङ्गीकार करने के समय में श्रीरामजी ने कहा है कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयंमया ॥
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

वाल्मीकि रा० युद्ध कां० ६ स० १८ श्लोक ॥३४॥

हे वानर राज सुग्रीव, विभीषण हो या स्वयं रावण हो उसको मैंने अभयदान दिया है इस लिये हमारे पास में उसको लाओ ॥३४॥ यहाँ पर श्री रामजी ने सब वानरों के राजा सुग्रीव को आगे कर ही श्रीविभीषण सूरि को अंगीकार किया है। इसीसे कहते हैं कि—यह जीवात्मा जिसको आगे करती है परमात्मा भी उसी को आगे करता है। यह अर्थ अभय प्रदानकाल में देख सकते हैं ॥१६४॥

अब प्रबन्धकर्ता जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों पुरुषकार को क्यों आगे करते हैं इस विषय में कहते हैं कि—

उभावपि पुरस्कुरुतः स्वस्वापराधं शमयितुम् ॥१६५॥

अर्थ—(उभौ) जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों (अपि) भी (स्वस्वापराधम्) अपने अपने अपराध को अर्थात् जीवात्मा अनादि काल

से परमात्मा से विमुख हो विषय में आसक्त हो भगवत् की आज्ञा को उल्लंघन कर संचय किये हुए अपने अपराध को और परमात्मा नित्य सम्बन्ध के होने पर भी अपराध ही को गिनकर अनादि काल से इस चेतन को अपने से अलग रखना रूप अपने अपराध को (शमयितुम्) क्षमा कराने के लिये (पुरस्कुरुतः) आगे करते हैं। इसीसे कहते हैं कि—ये दोनों अपने अपने अपराध को क्षमा कराने के लिये आगे करते है ॥१६५॥

अब श्रीवचनभूषणकार एक और भी प्रयोजन कहते हैं कि—

स्वरूपसिद्धिश्चानेन ॥१६६॥

अर्थ—(च) और (अनेन) इस जीवात्मा और परमात्मा के पुरुषकार को आगे करने से (स्वरूपसिद्धिः) जीवका तदीय पारतंत्र्य और ईश्वर का आश्रित पारतंत्र्य रूप स्वरूप की सिद्धि होती है। इसीसे कहते हैं कि—स्वरूप की सिद्धि भी उससे ही है ॥१६६॥

अब जगदाचार्यजी ऊपर में कहे हुए स्वरूप को कहते हैं कि—

इदं चौपाधिकं, नित्यंपारतंत्र्यमुभयोरप्यस्ति हि ॥१६७॥

अर्थ—(हि) निश्चय करके (इदम्) यह (पारतंत्र्यम्) पारतंत्र्य (औपाधिकम्) औपाधिक (च) और (नित्यम्) नित्य है। ये दोनों (उभयोः) जीव और ईश्वर इन दोनों के (अपि) भी (अस्ति) हैं। अर्थात् जीव का लक्ष्मीजी के विषय में पारतंत्र्य भगवत् सम्बन्ध प्रयुक्त होने से औपाधिक हो उस उपाधि के नित्य होने से निरुपाधिक भगवत् पारतंत्र्य के समान नित्य भी होता है। और ईश्वर का लक्ष्मी जी के विषय में पारतंत्र्य आश्रित प्रयुक्त होने से औपाधिक हो उस उपाधि के नित्य होने से नित्य भी होता है। इसीसे कहते हैं कि—औपाधिक और नित्यभूत ये दोनों पारतंत्र्य इन दोनों को निश्चय करके हैं ॥१६७॥

अब प्रबन्धकर्ता और भी इसके एक प्रयोजन को कहते हैं कि—

अनित्यस्य पारतंत्र्यस्य नाशोऽनेन ॥१६८॥

अर्थ—(अनित्यस्य) अनित्य (पारतंत्र्यस्य) पारतंत्र्य का (नाशः) नाश (अनेन) पुरुषकार से ही होता है। इसीसे कहा है कि—अनित्यभूत जीव और ईश्वर दोनों का पारतंत्र्य पुरुषकार से ही नाश होता है ॥१६८॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि कोई भी इस सम्बन्ध को नही हटा सकता है।

ससाक्षिकत्वादयं सम्बन्ध उभाभ्यामपि दूरीकर्तुं न शक्यते ॥१६९॥

अर्थ—(ससाक्षिकत्वात्) पुरुषकार रूप साक्षी सहित होने से (अयम्) यह रक्ष्यरक्षक भावरूप (संबन्धः) सम्बन्ध (उभाभ्याम्) ये दोनों जीव और ईश्वर करके (अपि) भी (दूरीकर्तुम्) दूर करने के लिये (न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकता है। इसीसे कहते हैं कि साक्षी सहित होने से इस सम्बन्ध को दोनों नाश नहीं कर सकते हैं ॥१६९॥

अब प्रबन्धकर्ता एक सौ उनहत्तरवें सूत्र में कहे हुए अर्थ में प्रमाण कहते हैं कि

"मां त्यजत्यपि" सुन्दरपुष्पवासिन्याः स्नेहरूपः ॥१७०॥

अर्थ—(माम्) हमको (त्यजति) छोड़ने पर (अपि) भी सुन्दरपुष्पवासिन्याः) सुन्दर पुष्पवासिनी का (स्नेहरूपः) प्रेमरूप है। अर्थात् नीलादेवी के पुरुषकार से नित्यसूरियों के बीच में हम को स्वीकार करने पर सब शक्ति आप भी नहीं छोड़ सकते हैं। ऐसा कहने से "मांत्यजत्यपि" इस गाथा को परमात्मा से रक्ष्यरक्षक सम्बन्ध दूर नहीं किया जायेगा। इस अर्थ में प्रमाण समझना चाहिये और लक्ष्मी के प्रिय होने से उनके दास हमारे विषय में अति स्नेह कर दुष्कर कृत्यों के करने से हमारे साथ मिलनेवाले आपको प्राप्त हुए बाद छोड़ सकता हूँ क्या ऐसा कहने से "सुन्दर पुष्पवासिन्याःस्नेहरूपः" इस गाथा को पुरुषकार के पुरस्कार से होने वाले रक्ष्यरक्षक सम्बन्ध को जीव भी दूर नही कर सकता में प्रमाण समझना चाहिये। इसीसे कहते हैं कि हमको अर्थ छोड़ने पर भी सुन्दर पुष्पवासिनी के प्रेमरूप ॥१७०॥

अब जगदाचार्यजी लक्ष्माजी के विषय में विद्यमान जोव और ईश्वर के पारतंत्र्य को कहते हैं कि—

कर्मणिव्युत्पत्तौ स्वरूपगुणप्रयुक्तं कर्तुः संकोचराहित्यं स्मर्तव्यम् ॥१७१॥

अर्थ—(कर्मणि) कर्म में (व्युत्पत्तौ) व्युत्पत्ति होने पर अर्थात् भ्वादि में पठित "श्रिञ् सेवायाम्" इस धातु से "श्रीयते" ऐसी

व्युत्पत्ति होने पर (स्वरूपगुणप्रयुक्तम्) शेषत्वस्वरूप से और प्रापयित्व रूपगुण से होनेवाले (कर्तुः) सेवा करनेवालों के (संकोचराहित्यम्) संकोच के अभाव को अर्थात् लक्ष्मीजी के विषय में चेतन और ईश्वर के विद्यमान पारतंत्र्य को (स्मर्तव्यम्) स्मरण करना चाहिये। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कर्ता किसको कहते हैं तथा कितने प्रकार का है, कौन कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—स्वतंत्रः कर्ता ।। व्याक० अ० १ पा० ४ सू० ५४।। क्रिया में स्वातन्त्र्य से विवक्षित जो अर्थ है उसको कर्ता कहते हैं ।।५४।। वह कर्ता तीन प्रकार का होता है। यह लिखा है कि—**मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।। भगवद्गी० अ० १८ श्लो० २६।। रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।२७।। अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।** आसक्ति से रहित और अहंकार का वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष शोकादि विकारों से रहित है वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है ।।२६।। आसक्ति से युक्त कर्म के फल को चाहनेवाला और लोभी तथा दूसरों को कष्ट देने का स्वभाववाला अपवित्र और हर्ष शोक से युक्त है वह कर्ता राजस कहा गया है ।।२७।। विक्षोभयुक्त चित्तवाला शिक्षा से रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरे की आजीविका का नाशक तथा विषाद करने के स्वभाववाला, जो आलसी और दीर्घ सूत्री है वह कर्ता तामस कहा जाता है ।।२८।। इसीसे कहते हैं कि कर्मगिव्युत्पत्ति में स्वरूप और गुण से होनेवाले कर्ता के संकोचभाव को स्मरण करना चाहिये ।।१७१।।

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि यह पुरुषकार प्रपत्ति करनेवाले सब अधिकारियों के लिये अवश्य अपेक्षित है।

अधिकारित्रयस्यापि पुरुषकारोऽवर्जनीयः ।।१७२।।

अर्थ—(अधिकारित्रयस्य) अज्ञ तथा ज्ञानाधिक्य और भक्ति परवश इन तीनों अधिकारियों के (अपि) भी (पुरुषकारः) लक्ष्मी देवी का पुरुषकार (अवर्जनीयः) छोड़ने योग्य नहीं है। इसीसे कहते है कि—तीनों अधिकारियों को भी पुरुषकार अवर्जनीय है ।।१७२।।

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि अपने को आपसे ही अन्वेषण किये जाने वाले गुण दोष की तरह प्रतिबन्धक होता है।

स्वस्य स्वेन मृग्यमाणो गुणो दोषवत्प्रतिबन्धको भवति ॥१७३॥

अर्थ—(स्वस्य) अपने को (स्वेन) अपने करके (मृग्यमाणः) अन्वेषण किये जानेवाला (गुणः) गुण (दोषवत्) अकृत्य करणादिक दोष की तरह (प्रतिबन्धकः) प्रतिबन्धक (भवति) होता है। इसीसे कहते हैं कि—अपने को आपसे अन्वेषण किये जानेवाले पुण्य पाप के समान प्रतिबन्धक होते हैं ॥१७३॥

अब श्रीवचनभूषणकार शेषीके आदर करने योग्य आत्मा का अलंकारभूत शेषत्व भोग विरोधी कैसा होता है, इसको कहते हैं कि—

सौन्दर्यायार्पितः कंचुको यथा आलिंगनस्य विरोधी ॥१७४॥

अर्थ—(सौन्दर्याय) स्त्री से सुन्दरता के लिये (अर्पित.) धारण की हुई (कंचुकः) चोली, पति को सन्तोषजनक हो स्त्री का अलंकार होती है। तौ भी भोग समय में (यथा) जैसे (आलिंगस्य) आलिंगन का (विरोधी) विरोधी होती है। वैसे ही यह शेषत्व भी ईश्वर के भोग का विरोधी होता है। इसीसे कहते हैं कि—जैसे सौन्दर्य के लिये धारण किया हुआ कंचुक आलिंगन का विरोधी होता है ॥१७४॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी सौन्दर्य के उपयुक्त अनुभव का विरोधी होता है इस अर्थ को कहते हैं कि—

हारोऽपि ॥१७५॥

अर्थ—(हारः) हार (अपि) भी इस एक सौ पचहत्तरवें सूत्र में 'हारोऽपि' यह श्लोक का प्रतीक है। इससे सम्पूर्ण उस श्लोक को लिखकर अर्थ लिखता हूँ ॥ हारोऽपि नार्पितः कण्ठे स्पर्शसंरोधभीरुणा। आवयोरन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥ ब्र० व० पु० श्रीकृ० ज० खं० ६२।८३॥ स्पर्श को रोकने के भय से हार भी गला में नहीं धारण किया गया, इन हम दोनों के बीच में पहाड़, नदी, पेड़ ये हुए हैं ॥ इसीसे कहते हैं कि—हार भी ॥१७५॥

अब प्रबन्धकर्ता पुण्य की तरह पारतंत्र्य भी परानुभव का विरोधी है। इसको कहते हैं कि—

पुण्यमिव पारतंत्र्यमपि परानुभवस्य विरोधिस्यात्

॥१७६॥

अर्थ—(पुण्यम्) पुण्य के (इव) समान अर्थात् शेषत्व पूर्वोक्त प्रकार से स्वनैच्यानुसन्धान करके भोगने के उपयुक्त हो जिस प्रकार भोग का विरोधी होता है उसी प्रकार से भोग में उनके सामने दृष्टि प्रदान न कर अचित् की तरह रहने के योग्य (पारतंत्र्यम्) पारतंत्र्य (अपि) भी (परानुभवस्य) ईश्वर के भोग का (विरोधी) रोकनेवाला (स्यात्) होगा। इसीसे कहते हैं कि पुण्य की तरह पारतंत्र्य भी ईश्वर के अनुभव का विरोधी है ॥१७६॥

अब प्रबन्धकर्ता गुण की तरह दोषनिवृत्ति को कहते हैं कि—

गुण इव दोषनिवृत्तिः ॥१७७॥

अर्थ—(गुणः) आत्मा के अन्तरंग निरूपक शेषत्व और पारतंत्र्य ये दोनों गुण जिस प्रकार परमात्मा के अनुभव का प्रतिबन्धक होते हैं। उसी गुण की (इव) तरह दोषनिवृत्तिः) चेतन से निर्बन्धपूर्वक करा लिये जानेवाली प्रकृति सम्बन्ध रूप दोष की निवृत्ति भी परमात्मा के भोग का प्रतिबन्धक होती है। इसी से कहते हैं कि गुण की तरह दोषनिवृत्ति है ॥१७७॥

अब जगदाचार्यजी दोषनिवृत्ति अनभिमत और दोष अभिमत क्यों होते हैं इस विषय में कहते हैं कि—

आभरणमनभिमतं मालिन्यमभिमतमभूत् खलु

॥१७८॥

अर्थः—(आभरणम्) लोक में विषयासक्त पुरुषों को अभिमत जो स्त्री हो उस युवती का सौन्दर्य बढ़ानेवाला भूषण भोग समय में (अनभिमतम्) अभिमत नही होता है और (खलु) निश्चय करके (मालिन्यम्) भूषण रहित केवल मलिन स्त्री का शरीर (अभिमतम) अभिमत (अभूत्) हुआ है। इसीसे कहते हैं कि—निश्चय करके आभरण अनभिमत हो मालिन्य अभिमत हुआ है ॥१७८॥

अब श्रीवचन भूषणकार यह कहते हैं कि श्रीसीताजी जो स्नान करके आयीं, वह श्रीरामजी के लिये रोषजनक हुआ है।

स्नानं रोषजनकमिति वार्ता स्मर्तव्या ॥१७९॥

अर्थ—(स्नानम्) श्रीसीताजी का स्नान (रोषजनकम्) श्रीरामजी को रोष उत्पन्न करनेवाला हुआ (इति) यह वार्ता यहाँ पर (स्मर्तव्या) स्मरण करने योग्य है। अर्थात् रावण का बध होने पर श्री विभीषण सूरि ने स्नान कराके जो सीताजी को लाया है, वह श्रीरामजी को रोषजनक हुआ है। क्योंकि लिखा है कि—तामागतामुपश्रुत्य रक्षोगृहचिरोषिताम्। रोषं हर्षं च दैन्यं च राघवः प्राप शत्रुहा ॥ वाल्मीकिरा० युद्ध कां० ६ स० ११७ श्लो० १६ ॥ दस मास रावण की अशोक वाटिका में रहनेवाली श्रीसीताजी स्नान करके दिव्य अलंकारों से युक्त होकर आयी हैं, ऐसा सुनकर शत्रु को मारनेवाले श्रीरामजी ने रोष, हर्ष, और दैन्य को प्राप्त किया ॥१६॥ और सामने श्रीसीताजी के जाने पर श्रीरामजी ने कहा है कि—दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढम्। वाल्मीकिरा० युद्ध कां० ६ स० ११८ श्लोक १७ ॥ आँख के रोगवाले को दीपक की तरह निश्चय करके मुझको तुम प्रतिकूल हो ॥१७॥ क्योंकि दस महीना तक स्नान नहीं करने से मालिन्य विशिष्ट तेरा रूप मैं देखना चाहता था इससे विरुद्ध तुम स्नान करके आयी हो ॥ तद्गच्छ ॥१८॥ उससे तुम सामने से चली जा ॥१८॥ इससे स्पष्ट होता है कि जो श्री सीताजी स्नान करके आयीं सो श्रीरामजी को रोषजनक हुआ है अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि जबकि साक्षात् श्रीरामजी ने कहा है कि—दिव्यांगरागां वैदेहीं दिव्याभरणभूषिताम्। इह सीतां शिरः स्नातामुपस्थापय माचिरम् ॥ वाल्मीकि० यु० ६ स० ११७ श्लो० ७॥ शिर से स्नान कराकर दिव्य चन्दनादि से युक्त और दिव्य आभरणों से विभूषित श्रीसीताजी को शीघ्र यहाँ पर हमारे पास ले आओ ॥७॥ तब श्रीसीताजी का स्नान रोषजनक कैसे हुआ? इसप्रश्न का यह उत्तर है कि स्नान करने को श्रीरामजी ने हृदय से नहीं कहा था, नहीं तो रुष्ट नहीं होते। और श्रीसीताजी श्रीरामजीके हृदय की वार्ता को जानती थी इसीसे कहा है कि—अस्नात्वा द्रष्टुमिच्छामि भर्तारं राक्षसेश्वर ॥ वाल्मी० यु० ६ स० ११७ श्लो० १०॥ हे विभीषणबिना स्नान किये मैं स्वामी को देखना चाहती हूँ ॥१०॥ ऐसा कहने पर श्रीविभीषणसूरि ने कहा है कि—यथाह रामोभर्त्ता ते तत्तथा कर्तुमर्हसि ॥वाल्मी० यु० ६ स० ११७

श्लो० ११।। जैसा तुम्हारे पति ने कहा वैसा ही तुमको करना चाहिये ।।११।। ऐसा आग्रह पूर्वक श्रीविभीषणसूरि के कहने के बाद श्रीसीताजी ने स्नान किया है। यह स्नान श्रीरामजी को हृदय से अभिमत नहीं था इससे रोषको उत्पन्न करनेवाला हुआ। इसी से कहते हैं कि—स्नान रोषजनक है इन वार्ता को स्मरण करना चाहिये ।।१७९।।

अब प्रबन्धकर्त्ता परांकुशमुनि स्वामीजी के पाशुर को कहते हैं कि—

"वंचकः कपटो" "नश्यतु" ।।१८०।।

अर्थ —(वंचकः) ठगनेवाला धूर्त (कपटः) कपट (नश्यतु) नाश हो। अर्थात् 'वंचकः कपटो' इस पाशुर से प्रारम्भ कर नश्यतु इस पाशुर पर्यन्त अपने दिव्य शरीर में अति आदर करते हुए परमात्मा के अनुभव प्रकार इतना ही नहीं अतिचंचलता से इस देह के साथ अपने को परमपद में ले जाने को वह अत्यन्त अभिलाषा कर रहा है। इस प्रकार को भी देख हे उपकारक ऐसा मत कीजिये ऐसा निबन्धकर इसके दोष को उसे जनाकर एवं हेयरूप यह शरीर नाश करने के लिये अनुमति करना ऐसा चरण को पकड़ इसको छुड़ा कर ले जाने के लिये निबंधपूर्वक अनुमति कराने के प्रकार को श्रीपरांकुश मुनिजो ने कहा है। इसी से कहते हैं कि वंचक कपट नाश होने के लिये अनुमति करो ।।१८०।।

अब जगदाचार्यजो इस चेतन का ज्ञानरूप परिमल इस शरीर में भासमान होने से इस देह को आदर करते हैं। इस अर्थ को दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि—

उशीरधर्तारो यथा मृत्संबन्धं न दूरीकुर्वन्ति तथा ज्ञानिनं देहेन सहाद्रियते ।।१८१।।

अर्थ—(उशीरधर्तारः) परिमल को जान उशीर को धारण करने वाले भोगी लोग (यथा) जैसे (मृत्सम्बन्धम्) मिट्टी के छुड़ाने से परिमल नष्ट होगा ऐसा सतझकर मिट्टी के सम्बन्ध को (न) नहीं (दूरीकुर्वन्ति) दूर करते हैं (तथा) वैसे ही परभोगो परमात्मा (ज्ञानिनम्) ज्ञानी जन को (देहेन) संपूर्ण विकारों के आश्रय और इसका सम्पूर्ण ज्ञान परिमल का

प्रकाशक इस शरीर के (सह) साथ (आद्रियते) आदर करते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि शरीर किसको कहते हैं और किस चीज से यह शरीर बना है? इस प्रश्न का उत्तर भगवद् गीता में लिखा है कि—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते॥ भगवद्गी० अ० १३ श्लो० १॥ हे अर्जुन यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है॥१॥ और लिखा है कि—महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ भगवद्गी० अ० १३ श्लो० ५॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघाश्चेतनाधृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥६॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पाँच महाभूत, अहंकार, महत्तत्व और मूल प्रकृति भी तथा श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, रसना, त्वचा और वाक्, पाणि, पाद, गुदा उपस्थ ये दस इन्द्रियाँ एक मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच इन्द्रियों का विषय॥५॥ इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देह का पिण्ड चेतनता, धृति इस प्रकार यह शरीर विकारों से सहित संक्षेप से कहा गया है॥६॥ इसी से कहते हैं कि—जैसे उशीर (खस) को धारण करनेवाले मिट्टी के सम्बन्ध को नहीं छुड़ाकर धारण करते हैं, वैसे ही परमात्मा ज्ञानी पुरुष को शरीर के साथ आदर करते हैं॥१८१॥

अब श्रीवचनभूषणकार और भी एक प्रकार के ज्ञानी के शरीर में ईश्वर के आदर को कहते हैं।

परमार्तस्यास्य शरीरस्थितेहेतुः केवलभगवदिच्छैव हि॥१८२॥

अर्थ—(परमार्तस्य) अत्यन्त आर्त (अस्य) प्रपत्ति करने वाले इस चेतन के (शरीरस्थितेः) शरीर स्थिति का (हेतुः) कारण (हि) निश्चय करके (केवल भगवदिच्छा) सिर्फ भगवत् की इच्छा (एव) ही है। प्रारब्ध कर्म शरीर स्थिति का हेतु नहीं है क्योंकि लिखा है कि—अहं त्वा सर्व-पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लो० ६६॥ मैं तूझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा॥६६॥ और भी लिखा है कि—आर्तानामाशुफला सकृदेव कृताह्यसौ दृप्तानामपि जन्तूनां देहान्तर-निवारिणी॥ आर्त भक्तों द्वारा एक ही बार की हुई प्रपत्ति उसी समय में शीघ्र ही फल देती है और दृप्त लोगों को भी दूसरे जन्म का निवारण करती है॥ इससे प्रमाणित होता है कि प्रपन्नों की शरीर-स्थिति का हेतु

केवल ईश्वर की इच्छा ही है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि आर्त और दृप्त किस को कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर लिखा है कि—

श्रीशानुभव प्रत्यूहं देहस्थितिं दुरावहाम्। त्वरया प्राप्तिमीशान निरवद्यतया पुनः॥ हेयमिदं शरीरं तु तव कैंकर्यरोधिनम्। शीघ्रं मे जहिस्वामिन्प्रार्थनार्तेति कथ्यते॥ श्रीपति के अनुभव में विघ्न रूप दुःख से ढोने योग्य और शीघ्र भगवत् को नहीं प्राप्त करने वाले देह की स्थिति का और आपके नित्य कैंकर्य को रोकने वाले छोड़ने योग्य इस शरीर को हे स्वामिन् शीघ्र मारिये, ऐसी प्रार्थना करने वाले को आर्त कहते हैं। और—**कृत्याकृत्यविवेकं च परलोकस्य चिन्तनम्। तत्प्राप्तिसाधनं विष्णोः स्वरूपज्ञानमेव च॥ उपायभावे संत्यज्य कर्म ज्ञानादिकं नरः। कुर्वन्भगवतः प्रीत्यै महाभागवतोत्तमः॥** कृत्याकृत्य विवेक को और परलोक के चिन्तन को तथा विष्णु भगवान् की प्राप्ति के उपाय को और स्वरूप ज्ञान को उपायभाव में परित्याग कर भगवान की प्रीति के लिए कर्मज्ञान आदि को जो महाभागवत करते हैं उन्हीं को दृप्त कहते हैं॥ इसीसे कहते हैं कि — परम आर्त इस प्रपन्न के शरीर की स्थिति का हेतु केवल भगवत् की इच्छा ही है॥१८२॥

अब प्रबन्धकर्ता इस प्रकार अपने आदर का विषय इसके शरीर में परमात्मा के आदर के प्रकार को कहते हैं कि—

'तिरुमालिरुंशोलै' इत्युक्तप्रकारेणाभिमतदिव्यदेशेषु सर्वेषु क्रियमाणमादरमस्य शरीरैकदेशे करोति॥१८३॥

अर्थ— (तिरुमालिरुंशोलै) सुन्दर बाहुपर्वत (इति) ऐसा (उक्त प्रकारेण) परांकुश मुनि द्वारा कथित प्रकार से (सर्वेसु) संपूर्ण अभिमत दिव्यदेशेषु) अभिमत दिव्य देशों में (क्रियमाणम्) किया हुआ (आदरम्) आदर जितना है उतना ही आदर (अस्य) इस ज्ञानी के (शरीरैकदेशे) शरीर के एक देश में (करोति) करते हैं। अर्थात् परांकुश मुनि स्वामीजी ने कहा है कि— "दक्षिणवृषाद्रि क्षीरसमुद्रं ममोत्तमांगंचाविशेषेणाद्रियते, श्रीवैकुण्ठमुत्तरवृषादिमच्छरीरं चाविशेषेणाद्रियत"॥ दक्षिण श्री सुन्दरबाहु पर्वत, क्षीरसागर और हमारे उत्तम भाग ने इन सबों को

बराबर आदर किया है और श्रीवैकुण्ठ उत्तर श्रीपर्वत वेंकट गिरि तथा हमारा शरीर इन तीनों को बराबर आदर किया है। इसी से कहते हैं कि—श्रीसुन्दर बाहु पर्वत इस प्रकार से अभिमत सम्पूर्ण दिव्य देशों में जितना आदर करते हैं उतना ही आदर इस ज्ञानी के शरीर के एक देश में करते हैं ॥१८३॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी दिव्यदेश में जो भगवत् का वास है और शुद्ध चेतन के हृदय में जो वास है इन दोनों स्थलों में विद्यमान तारतम्य को कहते हैं ॥१८३॥

तत्र वासः साधनम्, अत्रवासः साध्यम् ॥१८४॥

अर्थ—(तत्र) वहाँ पर दिव्य देशों में (वासः) भगवत् का वास (साधनम्) साधन है क्योंकि दिव्य देशों में आदर पूर्वक भगवत् के वास करने का प्रयोजन यही है कि उचित उपायों से जीवों को वश कर लेना। और (अत्र) यहाँ पर चेतन के शुद्ध हृदय में (वासः) भगवत् का वास (साध्यम्) साध्य है। क्योंकि दिव्य देश में रहकर किये हुए कार्य का फल यह है। इसीसे कहते हैं कि वहाँ वास साधन है और यहाँ वास साध्य है ॥१८४॥

अब प्रबन्धकर्ता इस साधन और साध्य से होनेवाले आदर के तारतम्य को कहते हैं कि—

"शिलाः शब्दायमानसमुद्रः इत्युक्तप्रकारेणास्मिन् सिद्धे तत्रादरः परिमितो भवति ॥१८५॥

अर्थ—(शिलाः) पत्थर और (शब्दायमानसमुद्रः) शब्द करता हुआ समुद्र (इति) ऐसे (उक्त प्रकारेण) कहे हुए प्रकार से (अस्मिन्) इस चेतन के शुद्ध हृदय (सिद्धे) प्राप्त होने पर (तत्र) वहाँ पर दिव्य देशों में (आदरः) आदर (परिमितः) कम (भवति) होता है। क्योंकि श्रीभट्टनाथ सूरि ने कहा है कि श्री पर्वत अपनी सन्निधि से शब्द करता हुआ क्षीरसागर किसी को भी अप्राप्य परमपद इन सब में घास जम गयी है क्या? इसीसे कहते हैं—कि—पत्थर और शब्द करता हुआ। समुद्र ऐसा उक्त प्रकार से चेतन के इस शुद्ध हृदय के प्राप्त होने पर दिव्य देशों में आदर कम होता है ॥१८५॥

अब जगदाचार्यजी आदर की न्यूनता की अवधि को दिखाते हैं कि—

"बालालयं मात्यजेः" इत्यनेन प्रार्थना कर्तव्या स्यात् ॥१८६॥

अर्थ—(बालालयम्) बालालयरूप क्षीर समुद्र का (मा) मत (त्यजेः) छोड़ा (इति) ऐसा (अनेन) इस चेतन करके (प्रार्थना) प्रार्थना (कर्तव्या) करने की आवश्यकता (स्यात्) होती है। इस एक सौ छियासी सूत्र में 'बालालयं मात्यजेः' यह वाक्य भूतयोगी स्वामीजी के पाशुर का प्रतीक है। इसका आशय यह है कि श्री भूतयोगी ने अपनी प्राप्ति के लिये पहले ईश्वर से आदर किये हुए दिव्य देशों में पहले की तरह आदर न कर अपने हृदय में अति आदर करने के प्रकार को देख उन दिव्य देशों को छोड़ देंगे क्या ऐसी शंका कर मेरे हृदय में प्रवेश करने के लिये साधन भूत बालालय रूप क्षीर समुद्र को मत छोड़ो ऐसी प्रार्थना की है। इसी से कहते हैं कि—"बालालय को मत छोड़ो" ऐसा इस चेतन की प्रार्थना की आवश्यकता होती है ॥१८६॥

अब श्रीवचनभूषणकार ईश्वर को वे दिव्य देश अभिमत होते हैं इसको कहते हैं कि—

प्राप्यप्रीतिविषयत्वेन कृतज्ञतया च पश्चात्तेऽभिमता भवन्ति ॥१८७॥

अर्थ—(प्राप्यप्रीतिविषयत्वेन) ईश्वर के प्राप्य भूत इस चेतन को प्रीति के विषय होने से (च) और (कृतज्ञतया) इन दिव्य देशों में वास करने से ही मैंने भगवत् को प्राप्त किया है ऐसा विचार कर उन दिव्य देशों के अपने प्रति किये हुए उपकार को अनुसंधान करना रूप कृतज्ञता से (पश्चात) पीछे से ईश्वर को (ते) वे दिव्य देश अभिमताः) अभिमत (भवन्ति) होते हैं। इसी से कहते हैं कि प्राप्य का प्रीति के विषय होने से और कृतज्ञता से वे दिव्यदेश अभिमत होते हैं ॥१८७॥

अब प्रबन्धकर्त्ता सिंहावलोकन न्याय से पूर्वोक्त शेषत्व पारतंत्र्यरूप आत्मगुणों की परानुभव विरोधिता को कहते हैं कि -

तस्माद्दोषनिवृत्तिवदान्तरगुणश्च विरोधी भवति ॥१८८॥

अर्थ—(तस्मात्) उस कारण से (दोषनिवृत्तिवत्) दोषनिवृत्ति की तरह (आन्तरगुणः) शेषत्व पारतंत्र्य रूप आन्तर गुण (च) भी (विरोधी)

परानुभव के विरोधी (भवति) होता है। इसी से कहते हैं कि—उस कारण से दोषनिवृत्ति की तरह आन्तर गुण भी विरोधी होता है ॥१८८॥

अब जगद्गुरु दोषनिवृत्ति से होने वाले दोष को कहते हैं कि—

दोषनिवृत्तिरेव दोषः स्याद्धि ॥१८९॥

अर्थ—(हि) निश्चय करके (दोषनिवृत्तिः) दोषों की निवृत्ति (एव) ही (दोषः) दोष (स्यात्) हो जायेगा। इसी से कहा है कि—दोषनिवृत्ति ही दोष होता है ॥१८९॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी कुरुकाधिनाथ के वचन को कहते हैं कि—

"स्वेनागतो गुणः क्रीतदुग्धवत्" "तेनागतो गुणः स्तन्यदुग्धवत्" इतिकुरुकाधिनाथवार्ता ॥१९०॥

अर्थ—(स्वेन) स्वयत्न से आप अपने लिये (आगतः) संपादन किया हुआ (गुणः) गुण (क्रीतदुग्धवत्) बाजार से खरीदे हुए दूध के समान विरस और औपाधिक होता है और (तेन) परमात्मा से (आगतः) आया हुआ (गुणः) गुण (स्तन्य दुग्धवत्) छोटे बच्चे के लिये अत्यन्त फायदा करने वाले, निरुपाधिक सरस माता के स्तन में होनेवाले दूध के समान होता है (इति) ऐसा (कुरुकाधिनाथवार्ता) श्री कुरुकाधिनाथजी का वचन है। इसी से कहा है कि—अपने से आने वाला गुण खरीदे हुए दूध के समान है और परमात्मा से आया हुआ गुण माता के स्तन के दूध के समान है, ऐसा श्री कुरुकाधिनाथ का वचन है ॥१९०॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि भगवान् को छोड़ आप अपने लिये गुण सम्पादन का यत्न यदि करें तो उससे अपने स्वरूप का विनाश ही सिद्ध होता है।

तेन विना स्वेन स्वस्य गुणसम्पादनं स्तनंधयप्रजां मातृ-पितृहस्तादाकृष्य घातकस्याजावाणिजस्य हस्ते ददाति चेद्यथा तथा भवेत् ॥१९१

अर्थ—(तेन) रक्षक सर्वेश्वर को (विना) छोड़कर अपने उज्जीवन के लिये (स्वेन) अपने से (स्वस्य) अपना (गुणसम्पादनम्) गुण सम्पादन करना कैसा है कि (यथा) जैसे (स्तनंधयप्रजाम्) अपनी रक्षा के उपयोगी

ज्ञानशक्त्यादि न होने की अवस्था में अपने माता-पिता आदिक से रक्षा करने योग्य स्तन पीनेवाले छोटे बच्चे को (मातृपितृहस्तात्) रक्षा करने वाले माँ बाप के हाथ से (आकृष्य) छीनकर (अजावाणिजस्य) बकरा को मारकर उसके साथ मांस मिलाकर बेंच देनेवाले (घातकस्य) कसाई के (हस्ते) हाथों में इस बच्चे को रक्षा करो ऐसा कहकर (चेत्) यदि कोई (ददाति) दे देता है (तथा) वैसे ही (भवेत्) होगा। इसीसे कहा है कि—परमात्मा को छोड़ अपने आप गुण सम्पादन करना स्तन्य पान करनेवाली प्रजा को माता पिता के हाथ से छीन कर हिंसक कसाई के हाथ में देने के सदृश है ॥१९१॥

अब जगद्गुरु यह कहते हैं कि यह चेतन अपना नाश अपने ही से करता है।

स्वं स्वयमेव नाशयेत् ॥१९२॥

अर्थ—(स्वम्) यह चेतन अपने को (स्वयम्) अपने से (एव) ही निश्चय करके (नाशयेत्) नाश कर लेता है। क्योंकि सर्वेश्वर इस चेतन के उज्जीवन के लिये सर्वदा अवसर प्रतीक्षक होने से जीव के नाश के लिये कभी कारण नहीं हो सकते हैं। इसीसे कहा है कि—यह चेतन अपने को आप ही नाश कर लेता है ॥१९२॥

अब प्रबन्धकर्त्ता अपने को आप नाश कर लेना किसको कहते हैं इस विषय में कहते हैं कि—

स्वयमेव स्वविनाशनम्-अहंकारस्य विषयाणां चादरणम ॥१९३॥

अर्थ—(स्वयम्) अपने से (एव) निश्चय करके (स्वविनाशनम्) अपना विनाश करना किसको कहते हैं कि (अहंकारस्य) देहात्माभिमान तथा स्वातन्त्र्याभिमान रूप अहंकार (च) और (विषयाणाम्) विहित तथा निषिद्ध विषयों में (आदरणम्) आदर करना अर्थात् अति प्रेम करना। इसी से कहा है कि—अपने से ही अपने को नाश करना यानी अहंकार और विषयों का आदर करना ॥१९३॥

अब श्रीवचनभूषणकार अहंकार की क्रूरता को कहते हैं कि—

अहंकारोऽग्निस्पर्शवत् ॥१६४॥

अर्थ—(अहंकारः) देहात्माभिमान और स्वातन्त्र्याभिमान रूप अहंकार (अग्निस्पर्शवत्) आग के स्पर्श के समान है। अर्थात् जैसे आग का स्पर्श स्वसम्बन्धी पदार्थ को जलाकर भस्म करता है। वैसे ही अहंकार भी स्वसम्बन्धी को नाश करता है। इसीसे कहा हैं कि—अहंकार आगके स्पर्शके समान है ॥१६४॥

अब जगद्गुरु इस विषय में पहले जितंतेस्तोत्रके वचन को कहते हैं कि—

न कामकलुषं चित्तम् ॥१६५॥

अर्थ—(कामकलुषम्) काम से कलुषित (चित्तम्) चित्त (न) नहीं है। इस एक सौ पँचानवें सूत्र में "न कामकलुषचित्तम्" यह पद जितन्ते ग्रन्थ के श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले सम्पूण उस श्लोक को लिखकर उसके अर्थ को लिखता हूँ ॥ **न कामकलुषं चित्तमम ते पादयोः स्थितम्। कामये वैष्णत्वं तु सर्वजन्मसु केवलम्॥ श्रीपांचरात्रागमे जितन्ते स्तोत्रे चतुर्थायाध्ये, १३ श्लो०** ॥ आपके चरणारविन्द में स्थिरीभूत मेरा चित्त काम से कलुषित नहीं है। सब जन्मों में केवल वैष्णवता को चाहता हूँ। इसी से कहा है कि—काम से व्याकुल चित्त नहीं है ॥१६५॥

अब जगदाचार्यजी श्रीसीताजो के वचन को कहते हैं कि—

न हि मे जीवितेनार्थः ॥१६६॥

अर्थ—(हि) निश्चय करके (मे) मुझे जीवितेन जीने से (अर्थः) प्रयोजन (न) नहीं है। इस एक सौ छियानवें सूत्र में 'नहि मे जोवितेनार्थः' यह पद वाल्मोकि रामायण के सुन्दर काण्ड के छबीसवें सग के पाँचवें श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले समस्त श्लोक को लिखकर उसके अर्थ को लिखताहूँ ॥ **न हि मे जीवितेनार्थो नैवार्थैर्न च भूषणैः। वसंत्या राक्षसीमध्ये विना रामं महारथम्॥ वाल्मीकिरा० सुं० ५ स० २६ श्लो० ५** ॥ महारथी श्रीरामजी के विना राक्षसियों के बीच में वास करने वाली मुझको जीने से कुछ भी प्रयोजन नहीं है

तथा धनों से भी कुछ प्रयोजन नहीं है और भूषणों से भी कुछ प्रयोजन नहीं है ॥५॥ इसी से कहा है कि—निश्चय करके मुझे जीने से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥१९६॥

अब प्रबन्धकर्त्ता श्रीयामुनाचार्य स्वामीजी के वचन को कहते हैं कि

न देहम् ॥१९७॥

अर्थ—(देहम्) देह को (न) नहीं चाहता हूँ। इस एक सौ सन्तानवें सूत्र में "न देहम्" यह पद आलवन्दार स्तोत्र के साठवें श्लोक का प्रतीक है, इससे पहले सम्पूर्ण श्लोक को लिखकर उसके अर्थ को लिखता हूँ ॥ **न देहं न प्राणान्न च सुखशेषाभिलषितं न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात्। बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधाविनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ॥ आलवन्दा० श्लो० ६० ॥** हे नाथ आपके शेषत्वरूप विभव से बाहर हुए देहको नहीं सहन कर सकता हूँ और प्राणों को नहीं सह सकता हूँ तथा सम्पूर्ण मनोभिलषित सुख को नहीं मैं सह सकता हूँ और आत्मा को भी नहीं सह सकता हूँ तथा पूर्वोक्त से भिन्न दूसरा कुछ भी क्षण मात्र भी नहीं सह सकता हूँ, सौ तरह से विनाश को प्राप्त हों, हे मधु-सूदन प्रसिद्ध यह मेरा विचार सच्चा है ॥६०॥ इस श्लोक का विशेष अर्थ जिसको जानना हो वे मेरी बनाई हुई आलवन्दार स्तोत्र की "भाव प्रकाशिका" टीका को देख ले। इसी से कहा है कि—देह को नही मैं सह सकता हूँ ॥१९७॥

अब श्रीवचनभूषणकार दिव्य सूरि श्रीशठकोप स्वामी के वचन को कहते हैं कि—

सुमहापदप्रकारमपि ॥१९८॥

अर्थ - (सुमहापद्प्रकारम्) अत्यन्त विलक्षण मोक्ष रूप महान् पद के प्रकार को (अपि) भी। इसका आशय यह है कि परमात्मा, श्री शठ-कोप स्वामीजी से कहे हैं कि "हे दिव्य सूरि तुम मोक्ष को लो" ऐसा ईश्वर के कहने पर श्रीशठकोप स्वामीजी ने कहा है कि "मेरे सन्तोष के

लिये दिये जाने वाला मोक्ष अत्यन्त विलक्षण होने पर भी उस मोक्ष की बात को भी प्रस्ताव करने वाला मैं नहीं हूँ" इससे अपने सन्तोष के लिये होने वाला मोक्ष भी अहंकार गर्भित होने से ऐश्वर्यादिकों के समान त्याज्य होता है। इसी से कहा है कि—महान् पद मोक्ष के प्रकार को भी ॥१९८॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी विषयों की क्रूरता को कहते हैं कि—

प्रतिकूलविषयस्पर्शो विषस्पर्शवत्, अनुकूलविषयस्पर्शो विषमिश्रान्नभोजनवत् ॥१९९॥

अर्थ—(प्रतिकूलविषयस्पर्शः) लोक विरुद्ध और नरक के हेतु निषिद्ध विषयों का स्पर्श (विषस्पर्शवत्) प्राण को नाश करनेवाले विष-स्पर्श की तरह है। और (अनुकूलविषय-स्पर्शः) वर्ण और आश्रम के अनुकूल शास्त्र विहित विषयों का स्पर्श (विषमिश्रान्नभोजनवत्) विष मिले हुए भोजन के सदृश है। अर्थात् विष मिश्रान्न भोजन नहीं जानने वालों को अनुकूल मालूम होते हुए भी खाने वालों के प्राण को जैसे नाश करता है वैसे ही शास्त्र विहित भी विषय आत्मा के अनन्य भोग्यत्व रूप स्वरूप को नाश करता है। इस विषय में और भी लिखा है कि—विषयस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥ विष और विषयों के बीच में अत्यन्त दूर अन्तर है क्योंकि विष खाने पर मारता है और विषय तो स्मरण से भी मारता है॥ इसी से कहा है कि—प्रतिकूल विषयों का स्पर्श विष-स्पर्श के समान है और अनुकूल विषयों का स्पर्श विषमिश्रान्न भोजन के समान है ॥१९९॥

अब प्रबन्धकर्त्ता विषयों में आसक्त हो सुख पाने की इच्छा करना विपरीत ज्ञान का कार्य है ऐसा प्रमाण प्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा कहते हैं।

अग्निज्वालां निगीर्य पिपासां शमयितुमिच्छेव, नृत्यतः सर्पस्य छायायां स्थातुमिच्छेव च विषयप्रावण्येन सुखितुमिच्छा ॥२००॥

अर्थ - (अग्निज्वालाम्) आग की ज्वाला को (निगीर्य) निगलकर (पिपासाम्) अपनी प्यास को (शमयितुम्) शान्त करने की (इच्छा) इच्छा

करने की (इव) तरह (च) और (नृत्यतः) नाचने वाले (सर्पस्य) साँप की (छायायाम्) छाया में विश्राम करने के लिये (स्थातुम्) ठहरने की (इच्छा) इच्छा करने की (इव) तरह (विषयप्रावण्येन) विषयों में आसक्त हो उसके द्वारा (सुखितुम्) सुख पाने की (इच्छा) इच्छा करना है। इस विषय में यह लिखा भी है कि—**आस्वाद्यदहनज्वालामुदन्याशमनं यथा। तथा विषयसंसर्गात् सुखचिन्ता शरीरिणः॥ विषयाणां तु संसर्गाद्यो विभर्ति सुखं नरः। नृत्यतः फणिनश्छायां विश्रमायाश्रयेत् सः॥** आग की ज्वाला को निगल कर जैसे प्यास को शान्त कर लेना है वैसे ही विषय संसर्ग से मनुष्य को सुख पाने की इच्छा है॥ विषयों के संसर्ग से जो मनुष्य सुख पाता है वह नाचने वाले साँप की छाया को विश्राम के लिये आश्रयण करता है॥ अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि सुख कितने प्रकार के हैं और कौन-कौन से? इस प्रश्न का उत्तर भगवद्गीता में लिखा है कि—**सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥** भगवद्गी० अ०१८ श्लो० ३६॥ **यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥ विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥ यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥** अब सुख भी तू तीन प्रकार के मेरे से सुनो, हे भरतश्रेष्ठ जिस सुख में साधक पुरुष स्मरण, ध्यान और सेवादिक के अभ्यास से रमण करता है और दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है॥ ३६॥ वह सुख प्रथम साधन के आरम्भकाल में यद्यपि विष के सदृश लगता है परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है। इस लिये जो भगवत् विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख है वह सात्विक कहा गया है॥३७॥ जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के समान लगता है परन्तु परिणाम में विष की तरह है इसलिये वह सुख राजस कहा गया है॥३८॥ जो सुख भोगकाल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहनेवाला है वह निद्रा तथा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है॥३९॥ इसीसे कहा

है कि अग्नि ज्वाला को निगल कर प्यास को शान्त करने की इच्छा की तरह और नाचते हुए साँप की छाया में ठहर कर ताप को दूर करने की इच्छा की तरह विषयासक्त हो सुख पाने की इच्छा है ॥२००॥

अब श्री वचनभूषणकार यह कहते हैं कि भगवद्गुणों को अनुभव करनेवाले विषयों को देखने ही से नष्ट हो जाते हैं।

अशुणामा (केकयपक्षी) यथा नश्यति तथा भगवदनुभवपरोमृदुप्रकृतिविषयदर्शनेन नश्यति ॥२०१॥

अर्थ—(अशुणामा) केकयपक्षी (यथा) जैसे (नश्यति) नष्ट होता है। अर्थात् केकयपक्षी अत्यन्त मधुर गीत के सुनन से मन के जल के समान होने के समय में अति कठिन बाजा बजाने पर उसको सुनकर जैसे नष्ट होता है (तथा) वैसे ही (भगवदनुभवपरः) भगवान के गुणों के अनुभव में ही आसक्त (मृदुप्रकृतिः) अत्यन्त कोमल स्वभाववाला प्रपन्न (विषयदर्शनेन) भगवदेक भोगत्वरूपस्वरूप को नाश करनेवाले विषयों को देखने मात्र से (नश्यति) नष्ट हो जाता है। इसीसे कहा है कि "केकयपक्षी जैसे नष्ट होता है वैसे ही भगवदनुभव में ही आसक्त कोमल स्वभाववाला प्रपन्न विषय के देखने से नष्ट होता है ॥२०१॥

"दर्शयित्वा नाशयसि किम्" इत्युक्तं हि २०२॥

अर्थ—(दर्शयित्वा) अल्परस और अनेक प्रकार के बुरे विषयों को दिखाकर (नाशयसि) मुझका नाश करते हो (किम्) क्या (इति) ऐसा (हि) निश्चय करके (उक्तम्) श्रीशठकोपसूरिजी कहते हैं। इसीसे कहा है कि—दिखाकर नाश करते हो क्या" ऐसा कहा है ॥२०२॥

अब प्रबन्धकर्ता इस प्रकार विषय के दोष को नही जान इनमें आसक्त होनेवाले और इस दोष को जान इनमें आसक्त होनेवाले इन दोनों के तारतम्य को कहते हैं कि –

अज्ञो विषयप्रवणः केवलनास्तिकवत् ज्ञानवान् विषयप्रवणः आस्तिकनास्तिकवत् ॥२०३॥

अर्थ—(अज्ञः) विषयों के दोष को और स्वरूप विरुद्धता को न जानकर (विषयप्रवणः) विषयों में आसक्त (केवलनास्तिकवत्) धर्म,

अधर्म, परलोक, चेतन, ईश्वर आदि को कहनेवाले शास्त्र में प्रामाण्य-ज्ञानरहित यथेष्ट संचार करनेवाला केवल नास्तिक की तरह है। और (ज्ञानवान्) विषयों को दोषों से युक्त तथा स्वरूप विरुद्ध जानकर विषय-प्रवणः) विषयों में आसक्त (आस्तिकनास्तिकवत्) धर्म अधर्म आदि सकल प्रतिपादक शास्त्र को प्रमाण मानने से आस्तिक कहने के योग्य और शास्त्र की मर्यादा में न रहकर यथेष्ट संचार करने से नास्तिक के समान होता है॥ नास्तिक के विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि—योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेद-निन्दकः॥मनु० २।११॥ जो वेद और आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का तर्क से अपमान करता है उस वेद निन्दक नास्तिक को जातिपंक्ति और देश से बाहर निकाल देना चाहिये॥११॥ इसीसे कहा है कि—न जानकर विषयों में आसक्त केवल नास्तिक के समान है और जानकर विषयों में आसक्त आस्तिक नास्तिक की तरह है॥२०३॥

अब श्रीवचनभूषणकार केवल नास्तिक और आस्तिक इन दोनों में क्या विशेष है इसको कहते हैं कि—

केवलनास्तिको वशीकर्तुं शक्यः, आस्तिकनास्तिकः कदापि वशीकर्तुं न शक्यते॥२०४॥

अर्थ—(केवलनास्तिकः) केवल शुद्ध नास्तिक को (वशीकर्तुम्) उपदेश के द्वारा वश करने के लिये (शक्यः) समर्थ हो सकते हैं। और (आस्तिकनास्तिकः) आस्तिकनास्तिक को (कदा) कभी (अपि) भी (वशीकर्तुम्) उपदेश द्वारा वश करने के लिये (न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकते हैं। क्योंकि यह लिखा है कि—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति॥

अज्ञानी को सुख से समझा सकते हैं और विशेष ज्ञानी को अत्यन्त सुख से समझा सकते हैं परन्तु ज्ञान के लेश से दुर्विदग्ध पंडितमानी मनुष्य को ब्रह्माजी भी नहीं समझा सकते हैं॥ इसीसे कहा है कि—केवल नास्तिक को वश कर सकते हैं परन्तु आस्तिक नास्तिक को कभी भी वश नहीं कर सकते हैं॥२०४॥

अब जगद्गुरुजी अहंकार औअ विषय इन दोनों की क्रूरता को एक वाक्य से कहते हैं कि—

इदं द्वयमपि स्वरूपेण नाशयतीत्येतावन्मात्रंविना भागवतविरोधं च वर्द्धयित्वा नाशयति ॥२०५॥

अर्थ—(इदम्) ये अहंकार और विषयासक्ति (द्वयम्) दोनों (अपि) भी (स्वरूपेण) अपने स्वरूप से (नाशयति) नाश करते हैं (इति) ऐसा (एतावत्) इतना ही (मात्रम्) मात्र (विना) नही है (च) और भी (भागवतविरोधम्) भागवतापचाररूप महान् अनर्थ को (वर्द्धयित्वा) उत्पन्न कर अपने स्वरूप को (नाशयति) नाश करते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि भागवत किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—अर्थपंचकतत्वज्ञाः पंचसंस्कारसंस्कृताः। आकारत्रयसंपन्नास्तेवै-भागवताः स्मृताः॥ पराशरीय धर्मशास्त्र उत्तर खण्ड०॥ स्वस्वरूप, परस्वरूप पुरुषार्थस्वरूप, उपायस्वरूप, विरोधिस्वरूप इन पाँच अर्थों के तत्वों को जो जाननेवाले हों और ताप, पुण्ड्र, मंत्र, याग इन पाँच सस्कारों से संस्कृत हों तथा अनन्यार्हत्व, अनन्यभोग्यत्व, अनन्यशरणत्व रूप तीन आकारों से सम्पन्न हो उनको निश्चय करके भागवत कहा है॥ और भी लिखा है कि—सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः भूतानि भगवत्या-त्मन्येष भगवतोत्तमः ॥श्रीमद्भा० ११।२।४५॥ गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति। विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥ देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः। संसार-धर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥ न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः। वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥ न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥ न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा। सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२ जो पुरुष सम्पूर्ण जीवों में अपने बराबर भगवद्भाव को देखता है और सम्पूर्ण जीवों को भगवान में देखता है वह उत्तम भागवत है ॥४४॥ और जो पुरुष इन्द्रियों से अर्थों को ग्रहण करके न द्वेष करता है और न तो आनन्द प्राप्त करता है इस समस्त संसार को जो श्रीविष्णु की माया जानता है वह निश्चय करके उत्तम भागवत है ॥४८॥ जो देह, इन्द्रिय, प्राण. मन और बुद्धि के जन्म, नाश, भूख, डर, इच्छा आदिक संसार के धर्मो से विशेष मोहित नहीं

होता है नारायण के स्मरण द्वारा वह श्रेष्ठ भागवत है ॥४९॥ और जिसके चित्त में काम कर्म का बीज नहीं उत्पन्न होता है और वासुदेव का केवल भक्त जो है उसको निश्चय करके उत्तम भागवत कहते हैं ॥५०॥ जिसके देह में जन्म और कर्म से तथा वर्ण और आश्रम से अहंभाव नहीं होता है वह निश्चय नारायण का प्रिय है ॥५१॥ और जिसका धनों में या आत्मा में यह मेरा है और यह दूसरे का है ऐसा भेदभाव नहीं होता है तथा जो सब जीवों के विषय में सम और शान्त रहता है वह निश्चय करके उत्तम भागवत है ॥५२॥ इसीसे कहा है कि—ये दोनों अपने स्वरूप से नाश करते हैं इतना ही नहीं भागवतापचार को बढ़ाकर भी नाश करते हैं ॥२०५॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि भागवत से विरोध करनेवाले नाम रूप विशिष्ट जले हुए वस्त्र के सदृश होते हैं।

नामरूपविशिष्टाः सन्तो भागवतापचारं कुर्वन्तो दग्धपटवत् ॥२०६॥

अर्थ—(नामरूपविशिष्टाः) नाम और रूप विशिष्ट (सन्तः) होते हुए (भागवतापचारम्) भागवत से विरोध (कुर्वन्तः) करने वाले (दग्धपटवत्) जले हुए वस्त्र के समान होते हैं। इसी से कहा है कि – नामरूप विशिष्ट हो भागवत से विरोध करने वाले जले हुए वस्त्र की तरह होते हैं ॥२०६॥

अब प्रबन्धकर्त्ता जले हुए वस्त्र के प्रकार को कहते हैं कि—

पिण्डीकृतपटो दग्धोऽपि आतानवितानेसमे तिष्ठतः, वायौ संचरत्युत्पतेत् ॥२०७॥

अर्थ –(पिण्डीकृतपटः) इकट्ठा किया हुआ वस्त्र (दग्धः) जला हुआ (अपि) भी (आतानवितानेसमे) आतान और वितान (समे) पहले की तरह (तिष्ठतः) ठहरे रहते हैं परन्तु (वायौ) हवा के (संचरति) जोर से बहने पर (उत्पतेत्) रूप भी जैसा नहीं रहे वैसा उड़ जायगा। इसी तरह भागवतापचार रूप अग्नि से दग्ध होने पर भी नाम और रूप से रहनेवाले भगवन्निग्रह विशेष से अत्यन्त पीड़ित हो भस्म हो जाते हैं। इसी

से कहा है कि—इकट्ठा किया हुआ वस्त्र जला हुआ भी आतान वितान पहले के समान रहते हुए हवा चलने पर उड़ जाता है ॥२०७॥

अब जगदाचार्यजी भागवतापचार करने पर ईश्वर नहीं सह कर उचित दण्ड देते हैं इस अर्थ को वेदान्ती स्वामीजी के वचन को कहते हैं कि –

"ईश्वरोऽवतीर्याकरोदतिमानुषचेष्टितानि भागवतापचारासहिष्णुत्वाद्" इतियतिर्वदेत् ॥२०८॥

अर्थ—(ईश्वरः) परमेश्वर ने (अवतीय) अवतार धारण कर (अतिमानुषचेष्टितानि) हिरण्यकशिपु तथा रावणादिक के बधरूप मनुष्यों से नहीं होनेवाले कार्यों को (अकरोत्) किया है (भागवतापचारासहिष्णुत्वात्, प्रह्लाद आदिक भागवतों के विरोध को नहीं सहने से (इति) ऐसा (यतिः) संन्यासी वेदान्ती स्वामीजी ने (वदेत्) कहा है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि प्रह्लाद भागवत हैं इसमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट लिखा है कि—प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुन वशिष्ठविभीषणादीन्पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि ॥ पाण्डव गी० श्लो० १॥ प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, वेदव्यास, अम्बरोष, शुकदेव, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य महर्षि, रुकमाङ्गद, अर्जुन, वशिष्ठ, विभीषण आदिक पुण्य इन परम भागवतों को स्मरण करता हूँ ॥१॥ इसी से कहा है कि—ईश्वर ने अवतार लेकर अतिमानुष चेष्टित सभी किया है। भागवतापचार को नहीं सहने से, ऐसा संयासी वेदान्ती स्वामीजी ने कहा है ॥२०८॥

अब श्रीवचनभूषणकार भागवतापचार की क्रूरता में भगवान् के वचन को कहते हैं कि—

अवमानक्रिया ॥२०९॥

अर्थ—(अवमानक्रिया) भागवतोंका अपमान किया हुआ। इस दो सौ नवें सूत्र में "अवमानक्रिया" यह पद श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले सम्पूर्ण श्लोक को लिखकर उसके अर्थ को लिखता हूँ॥ या प्रीतिर्मयि संवृत्ता मद्भक्तेषु सदास्तु ते। अवमानक्रिया तेषां संहरत्यखिलं जगत् ॥ तुमको जो प्रीति मुझमें है, मेरे भक्तों में भी सर्वदा वही प्रीति हो उनके

अपमान करने से सम्पूर्ण संसार का संहार होता है। यह भगवान का वाक्य है। इसीसे कहा है कि— अपमान करना ॥२०९॥

अब प्रबन्धकर्त्ता भागवतापचार अनेक प्रकार के हैं, ऐसा कहते हैं कि—

भागवतापचारोऽनेकविधः ॥२१०॥

अर्थ—(भागवतापचारः) भागवतापचार (अनेकविधः) जन्म-निरूपण, ज्ञान निरूपण, आचार निरूपण आकारनिरूपण, बन्धुनिरूपण, वासनिरूण, आदिक भेद से अनेक प्रकार का है। इसी से कहा है कि— भागवतापचार अनेक प्रकार का है ॥२२०॥

अब जगद्गुरुजी जन्म निरूपण के क्रौर्य को कहने के लिये उपपादन करते हैं कि—

तत्रैकं तेषु जन्मनिरूपणम् ॥२११॥

अर्थ— (तत्र) उन अनेक प्रकार के अपराधों में (एकम्) एक प्रधान अपराध यह है कि (तेषु) उनके विषय में (जन्मनिरूपणम्) छोटे कुलों में उत्पन्न भागवतों के भगवत्संबन्ध प्रयुक्त महात्म्य को नहीं देखकर नीचता बुद्धि से उनके जन्मों को निरूपण करना। इसी से कहा है कि—उनमें एक उनके विषय में जन्मनिरूपण है ॥२११॥

अब श्रीवचनभूषणकार जन्मनिरूपण की क्रूरता को कहते हैं कि—

इदं अर्चावतारे उपादानस्मृतेरपिक्रूरम् ॥२१२॥

अर्थ— (इदम्) यह भागवतों के जन्मनिरूपण रूप अपचार (अर्चावतारे) अर्चावतार भगवान् के विषय में (उपादानस्मृतेः) उपादान-स्मृति से (अपि) भी (क्रूरम्) अत्यन्त क्रूर (च) और है। अर्थात् मूर्ति में पत्थर, काठ, लोहा, पीतल, तांबा, चाँदी, सोना, मणि, मिट्टी आदि के स्मरण से भागवत का जन्म - निरूपण बड़ा अपराध है। इसी से कहा है कि यह अर्चावतार में उपादान स्मृति से भी क्रूर अपराध है ॥२१२॥

अब जगदाचार्यजी भागवत के जन्मनिरूपण अपनी माँ के योनि-निरूपण के समान है ऐसा कहते हैं।

तन्मातृयोनिपरीक्षासममिति शास्त्रं वदति ॥२१३॥

अर्थ— (तद्) वह भागवतों का जन्मनिरूपण रूप अपचार (मातृयोनि परीक्षया) अन्य स्त्री की योनि से विलक्षण है या विलक्षण नहीं है इसको जानने की इच्छा से अपनी माँ की योनि की परीक्षा के (समम्) समान है (इति) ऐसा (शास्त्रम्) शासन देने वाला ग्रन्थ (वदति) कहता है। स्कन्दपुराण में यह लिखा है— अर्चावितारोपादानं वैष्णवोत्पत्ति-चिन्तनम्। मातृयोनिपरीक्षायास्तुल्यमाहुर्मनीषिणः॥ अर्चावतार के उपादान द्रव्य और भागवतों की उत्पत्ति का चिन्तन इन दोनों को अपनी माता की योनि की परीक्षा के समान विद्वान लोग कहते हैं। इसी से कहा है कि भागवत का जन्म निरूपण अपनी माँ की योनि की परीक्षा की तरह शास्त्र कहता है ॥२१३॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि भागवत के जन्मनिरूपण करते ही कर्मचण्डाल हो जाता है।

त्रिशंकुवत्कर्मचण्डालो भवेत्-वक्षसि यज्ञोपवीत-मेवचर्मरज्जुर्भवेत् ॥२१४॥

अर्थ— (त्रिशंकुवत्) भागवतापचार करने वाला जैसे इक्ष्वाकुवंश के राजा वशिष्ठजी के पुत्रों के शाप से चण्डाल हो गये हैं वैसे ही (कर्म-चण्डालः) कर्म चण्डाल (भवेत्) हो जाता है। और उपनयन संस्कार के द्वारा (वक्षसि) छाती में धारण किया हुआ (यज्ञोपवीतम्) जनेऊ (एव) निश्चय करके (चर्मरज्जुः) चण्डाल वेष के अनुगुण चाम की रस्सी (भवेत्) हो जाता है। त्रिशंकु राजा की कथा वाल्मीकि रामायण में लिखी हुई है कि— इक्ष्वाकु वंश के त्रिशंकु नाम वाले राजा ने, गच्छेयं स्वशरीरेण देवतानां परांगतिम्। वशिष्ठं स समाहूय कथयामास चिन्तितम्॥ वाल्मी० बाल कां० १ स० २७ श्लो० १२॥ अशक्यमिति चाप्युक्तो वशिष्ठेन महात्मना ॥१३॥ कुलगुरुवशिष्ठजी को बुलवाकर उनसे शरीर के साथ स्वर्ग प्राप्ति के लिये मुझसे यज्ञ कराइये ऐसा कहा ॥१३॥ इसके बाद वशिष्ठजी ने कहा कि ऐसा यज्ञ मैं नही कर सकता हूँ ॥१३॥ ततस्तत्कर्मसिद्ध्यर्थं पुत्रांस्तस्यगतोनृपः ॥१४॥ वशिष्ठजी के इन्कार करने पर उस यज्ञ को कराने के लिये वशिष्ठजी के पुत्रों के पास त्रिशंकु

राजा गया ॥१४॥ और जाकर बोला कि वशिष्ठ जी से तिरस्कृत हो मैं आप लोगों की शरण आया हूँ, इससे सशरीरो यथाहं वै देवलोक-मवाप्नुयाम् ॥२०॥ शरीर के साथ जैसे मुझको स्वर्ग प्राप्त हो ऐसा यज्ञ करायें ॥२०॥ ऐसा कहने पर उस ऋषि कुमार ने कहा है कि—

अशक्यमिति सोवाच वशिष्ठो भगवानृषिः ।
ते वयं वै समाहर्तुं क्रतुं शक्ताः कथंचन ॥

वाल्मी० बाल० १ स० ५८ श्लोक० ॥४॥

बालिशस्त्वं नरश्रेष्ठ गम्यतां स्वपुरं पुनः ॥५॥

जिसको वशिष्ठजी करने में असमर्थ हैं उस यज्ञ को हम सब कैसे करा सकते हैं ॥४॥ तुम दुर्बुद्धि हो इससे ऐ राजन् अपने ग्राम को चले जाओ ॥५॥ ऐसा कहने पर तो फिर से त्रिशंकु ने कहा कि—

प्रत्याख्यातो भगवता गुरुपुत्रैस्तथैव हि ॥७॥
अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः ॥८॥

भगवान् वशिष्ठ ने इन्कार किया तथा उनके पुत्र आप लोग भी इन्कार करते हैं ॥७॥ मैं और किसी की शरण में जाऊँगा। हे तपो धन आप लोगों का मंगल हो ॥८॥ इसके बाद—ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यंधाराभिसंहितम् ॥ ८ ॥ शेपुः परमसंक्रुद्धाश्चण्डालत्व गमिष्यसि ॥९॥ वशिष्ठ ऋषि के सभी पुत्रों ने त्रिशंकु के वचन को सुनकर ॥८॥ अत्यन्त क्रोधयुक्त हो तुम चण्डाल हो जाओ ऐसा शाप दिया ॥९॥ अथ रात्र्यांव्यतीतायां राजा चण्डालतां गतः। नीलवस्त्रधरो नीलः पुरुषो ध्वस्तमूर्धजः ॥१०॥ चित्यामाल्यांगरागश्च आयसाभरणोऽभवत् ॥११॥ अनन्तर रात्रि के बीतने पर चण्डाल के भाव को प्राप्त हुआ राजा नील कपड़ा पहना हुआ नील पुरुष माथ के केश बिखरे हुए ॥१०॥ और चिता की विचित्र माला तथा चन्दन और लोहे के भूषण इनसे युक्त हुआ ॥११॥ इस पूर्वोक्त प्रकार से जैसे त्रिशंकु कर्म चण्डाल हुआ है। वैसे ही भागवतों की निन्दा करनेवाले कर्म चण्डाल हो जाते हैं। यह लिखा है कि—अनाचारान् दुराचारानज्ञातून् हीनजन्मनः। मद्भक्तान् श्रोत्रियो निन्दन् सद्यश्चण्डालतां व्रजेत् ॥ अनाचार या अज्ञानी या हीन जन्म ऐसे मेरे भक्तों कोवेदपाठी भी यदि निन्दा करेगा तो वह शीघ्र ही चण्डाल

होगा। यह भगवत् का वाक्य है। इसीसे कहा है कि —त्रिशंकु के समान कर्म चण्डाल हो जाता है और उसकी छाती का जनेऊ चाम की रस्सी हो जाता है ।।२१४।।

अब प्रबन्धकर्ता जाति चण्डाल की अपेक्षा कर्म चण्डाल की नीचता को कहते हैं कि—

जातिचण्डालस्य कालान्तरे भागवतो भवितुं योग्यतास्ति, सापि नास्त्यस्य-आरूढपतित्वात् ।।२१५।।

अर्थ—(जातिचण्डालस्य) **जाति** से चण्डाल हुए को (कालान्तरे) दूसरे काल में (भागवतः) **भागवत** (भवितुम्) होने की (योग्यता) योग्यता (अस्ति) है (सा) वह योग्यता **(अपि)** भी (न) नहीं (अस्ति) है (अस्य) भागवतापचार रूप कर्म से **चण्डाल** हुए इस पापिष्ठ को (आरूढ पतितत्वात्) भागवत तत्वरूप **ऊँचे** शिखर पर चढ़कर भागवतापचार से अत्यन्त पीड़ित हो अधःपतित होने से। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि चण्डाल जाति किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर मनुस्मृति में लिखा है —**शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्। वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ।। मनु० अ० १० श्लोक** १२ ।। शूद्र से वैश्या स्त्री में आयोगव तथा शूद्र से क्षत्रिया स्त्री में क्षत्ता और शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में मनुष्यों में नीच चण्डाल ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ।।१२।। **और** चण्डाल के विषय में लिखा है कि— **चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः। अपपात्राश्चकर्तव्या धनमेषांश्वगर्दभम् ।। मनु० अ० १० श्लोक ५१ ।। वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्। काष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ।।५२।। न तैः सममन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन्। व्यवहारोमिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ।।५३।। अन्नमेषां पराधीनं देयं स्यादूभिन्नभाजने। रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ।।५४।। दिवाचरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः। अबान्धवं चैव शवं निर्हरेयुस्तिस्थितिः ।।५५।। वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया। वध्यवासांसि गृहणीयुः शय्याश्चा-**

भरणानि च ॥ चाण्डाल तथा श्वपचों का निवास गाँव से बाहर हो और ये पात्र रहित करने योग्य हैं और इनका धन कुत्ते गदहे हैं ॥५१॥ और कपड़े इनके मुर्दा के वस्त्र हैं तथा फूटे टूटे पात्र में भोजन और काले लोहे के कड़े आदि इनके गहने हैं और रोज रोज घूमना इनका काम है ॥५२॥ धर्म करने के समय पुरुष चण्डालादिक के साथ व्यवहार न करे और इनके व्यवहार तथा विवाह बराबर जातिवालों के साथ आपस में हो ॥५३॥ इनका अन्न पराये अधीन करना चाहिये और फूटे टूटे पात्र में इनको खाने पीने को देना चाहिये और वे सब रात में गाँव या शहर में न घूमें ॥५४॥ दिन में गाँव या शहर में काम के लिये राजा की आज्ञा से चिह्नित हो घूमें और जिसका कोई मालिक न हो ऐसे मूर्दों को गाँव से ले जाय, यह शास्त्र की मर्यादा है ॥५५॥ और मारने योग्य जो है उसको शास्त्र की आज्ञा से शूली आदि पर चढ़ाकर सर्वदा राजा की आज्ञा से मारे और उनके कपड़े, शय्या तथा गहना आदि को ले लेवे ॥५६॥ इस प्रकार चण्डालजाति कोकहा है। चण्डाल जाति के निश्चय होने पर तो प्रश्न होता है कि आरूढ़ पतित किसको कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर विष्णु-स्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिष्तथा। उत्तमांवृत्तिमाश्रित्य पुनरावर्तयेद्यदि ॥ विष्णु स्मृ० अ० ४ श्लोक ३२ ॥ आरूढ़पतितो ज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः। निंद्यश्च सर्वदेवानां पितृणां च तथोच्यते ॥ ३३ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी उत्तम आचरण को स्वीकार कर फिर यदि उसको छोड़ता है ॥३२॥ तो उसे आरूढ़ पतित जानना वह सब धर्मों से बाहर है और वह सब देवता और पितरों में निन्दित कहा जाता है ॥३३॥ और आरूढ़ पतित के विषय में अंगिरा स्मृति में लिखा है कि—

आरुढपतितो हन्ति दशपूर्वान्दशापरान् ॥ अंगिरास्मृ० ॥

आरूढ़ पतित पहले के और पीछे के दस पुरुषों का नाश करता है ॥ इसीसे कहा है कि—जाति चण्डाल को कालान्तर में भागवत होने की योग्यता है, परन्तु आरूढ़ पतित होने से कर्म चण्डाल को कालान्तर में भी भागवत होने की योग्यता नहीं है ॥२१५॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि भागवतापचार के अधिकारी का नियम नहीं है।

अस्याधिकारिनियमो नास्ति ॥२१६॥

अर्थ— (अस्य) इस भागवतापचार के (अधिकारिनियमः) अधिकारी का नियम (न) नहीं (अस्ति) है। इसीसे कहा है कि—इसका अधिकारी नियम नहीं है ॥२१६॥

अब श्रीवचनभूषणकार दो सौ सोलहवें सूत्र में कहे हुए अर्थ में प्रमाण श्री भक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी के वचन को कहते हैं।

"तदीयश्रेष्ठाः जातिब्राह्मण अपि" इत्युक्तत्वात् ॥२१७॥

अर्थ—(तदीयश्रेष्ठाः) भागवतों में श्रेष्ठ (जातिब्राह्मणः) जाजि-ब्राह्मण होता तो (अपि) भी (इति) ऐसा (उक्तत्वात्) तत्वयथात्म्य को जाननेवाले श्रीभक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी के कहने से। इसीसे कहा है कि—भागवतों में श्रेष्ठ तथा ब्राह्मण जाति के हो तो भी ऐसा कहने से ॥२१७॥

अब प्रबन्धकर्ता इस पूर्वोक्त अर्थ के विषय में दो इतिहासों को स्मरण कराते हैं कि—

अत्रवैनतेयवृत्तान्तः पिल्लैपिल्लैयाल्वानित्यस्य कूरेशोक्ता वार्ता च स्मर्तव्या ॥२१८॥

अर्थ—(अत्र) इस विषय में (वैनतेयवृत्तान्तः) विनतासुतगरुड़ के वृत्तान्त को (च) और पिल्लैपिल्लैयाल्वान्) पिल्लैपिल्लैसूरि (इति) ऐसे नामवाले (अस्य) इस महात्मा के प्रति (कूरेशोक्ता) श्रीकूरेश स्वामीजी की कही हुई (वार्ता) (स्मर्तव्या) स्मरण करने योग्य है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि वैनतेय का वृतान्त कैसा है और कहाँ पर लिखा हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि महाभारत के उद्योगपव के एक सौ छवें अध्याय में लिखा है कि विश्वामित्र ऋषि के पास सम्पूर्ण विद्या पढ़नेवाले गालव नाम के शिश्य ने गुरुदक्षिणा दिये बिना हमको विद्या फलित नहीं होगी ऐसा विचार कर कहा कि हमारे देने योग्य दक्षिणा को हे भगवन् आप बतलाइये। ऐसा पूछने पर विश्वामित्र ऋषि ने कहा कि तुम हमको कुछ भी मत दो, हम तुम्हारी शुश्रूषा और भक्ति से ही

अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं तुम चले जाओ। ऐसा बराबर कहने पर भी जब गालव नहीं माना है, तब— किंचिदागतसंरंभो विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ।। महाभा० उद्यो० अ० १०६ श्लोक २६।। एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्। अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव माचिरम् ।।२७।। विश्वामित्र ऋषि ने कुपित होकर कहा है कि ।।२६।। चन्द्रमा की तरह सफेद और एक कान श्याम वर्णवाले आठ सौ घोड़ों को लाकर हमको दो। हे गालव जाओ और शीघ्र लाओ ।।२७।। इसके बाद एक सौ सातवें अध्याय में लिखा है कि उस दक्षिणा को सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो इसके लिये क्या करना चाहिये ऐसे बहुत प्रकार का विचार कर सर्वप्रद श्रीविष्णु भगवान् की उपासना करने के उद्योग करने पर पहले इनके सखा गरुड़जी सामने आकर खड़े हुए। इसके बाद स्तुति कर इस कार्य के लिये क्या करना चाहिये ऐसा गालव के पूछने पर श्रीगरुड़-जी ने कहा है कि— स भवानेतु गच्छाव नयिष्ये त्वां यथासुखम्। देशं पारं पृथिव्या वा गच्छ गालव माचिरम् ।। महाभा० उद्यो० अध्याय १०७श्लोक १६ ।। आप आइये इस लोक में सर्वत्र ले जाऊँगा। हम दोनों मिलकर ढूढ़ेंगे चलो ऐ गालव देर मत करो ।।१६।। ऐसा कहकर गालव को लेकर सर्वत्र ढूँढ़ने लगे। बहुत घूमने पर गरुड़ ने कहा कि ऋषभ पहाड़ पर विश्राम कर जायेंगे ऐसा कहकर—ऋषभस्य ततः शृंगं निपत्य द्विजपक्षिणौ। शांडिलीं ब्राह्मणीं तत्र ददृशतुते तपोन्विताम् ।। महाभा० उद्यो० अ० ११३ श्लोक १ ।। गालव और गरुड़ इन दोनों ने ऋषभ पर्वत के शृंगपर जाकर वहाँ शाण्डिली नामवाली ज्ञानाधिका भागवता को देखा ।।१।। इसके बाद उस भागवता के पास जाकर दर्शन और नमस्कार किया। तब स्वागत करके उस भागवता ने आसन और सुन्दर भोजन के लिये अन्न दिया। उस अन्नको पाकर वहाँ पर वे दोनों सो गये इसके बाद गरुड़ने वहाँ से चलने की इच्छा की ।। अथ भ्रष्टतनूजांग मात्मानं ददृशे खगः ।। महाभा० उद्यो० अ० ११३ श्लोक ४ ।। मांस-पिण्डोपमोऽभूत्स मुखपादान्वितः खगः ।। गालवस्तं तथा दृष्ट्वा विमनाः पर्यपृच्छत् ।।५।। किमिदंभवताप्राप्तमिहागमनजं फलम्। वासोयमिह कालं तु कियन्तं नौ भविष्यति ।।६।। किं नु ते मनसाध्यातमशुभं धर्म-दूषणम्। नह्ययं भवतः स्वल्पो व्यभिचारो भविष्यति ।।७।। इसके बाद बिना पाँख के अपने को गरुड़ ने देखा ।।४।। वह गरुड़ मुख और पैर से युक्त मांस के पिंड के समान हो गया तब उसको वैसा देखकर

उदास हो गालव नें पूछा ॥५॥ कि यहाँ आने का फल यह आपने क्या प्राप्त किया, अब यहाँ पर कितना दिन तक हम दोनों का निवास होगा ॥६॥ हे गरुड़ ! आपने अपने मनसे धर्म को दूषित करनेवाले कौन से पाप को चिन्तन किया है, यह तो आपके छोटे पाप का फल नहीं है ॥७॥ ऐसा गालव के पूछने पर— सुपर्णोऽथाब्रवीद्विप्रं प्रध्यातं वै मया द्विज । इमां सिद्धामितोनेतुं तत्र यत्र प्रजापतिः ॥८॥ यत्र देवो महादेवो यत्र विष्णुः सनातनः । यत्र धर्मश्च यज्ञश्च तत्रेयं निवसेदिति ॥९॥ सोऽहं भगवतीं याचे प्रणतः प्रियकाम्यया । मयैतन्नाम प्रध्यातं मनसा शोचता किल ॥१०॥

गरुड़जी ने कहा है कि हे ब्राह्मण गालव मैंने मन में यह चिन्तन किया था, इस शांडिली भागवता के यह निवास स्थान ही नहीं है इससे इस भागवता को जहाँ पर ब्रह्मा रहते हैं वहाँ पर ले जाकर स्थापित करूँगा ॥८॥ या जहाँपर महादेवजी हैं या जहाँ पर सनातन श्रीविष्णु भगवान् हैं या जहाँ पर धर्म और यज्ञ हैं वहाँ पर यह भागवता निवास करे ॥९॥ हे भगवती जो कि मैंने मनसे आपके इस निवास स्थल को हीन चिन्तन करना रूप अपचार किया है उसके विषय में पाँख होने के लिये साष्टांग करके मैं याचना करता हूँ ॥१०॥ त्वं महात्म्यात्क्षन्तु-मर्हसि ॥११॥ तुम अपने महात्म्य से इस मेरे अपराध को सहन करने योग्य हो ॥११॥ ऐसा गरुड़ के कहने पर वह भागवता बोली कि— न भेतव्यं सुपर्णोऽसि सुपर्ण त्यज संभ्रमम् ॥१२॥ हे गरुड़ तुम मत डरो संभ्रम को छोड़ो तेरा सुन्दर पाँख है ॥१२॥ यथेष्टं गम्यतामितः ॥१६॥ जहाँ पर यहाँ से जाने की इच्छा हो वहाँ पर चले जाओ ॥१६॥ भवितासि यथापूर्वं बलवीर्यसमान्वितः ॥१७॥ जैसा तुमको पहले बल और वीर्य था वैसा ही फिर भी होगा ॥१७॥ ऐसा उस भागवता के कहते ही बभूवतुस्ततस्तस्यपक्षौ द्रविणवत्तरौ ॥१७॥ उस गरुड़ के अत्यन्त द्रविण युक्त दोनों पाँख हो गये ॥१७॥ और अनुज्ञातस्तु शाण्डि-ल्या यथागतमुपागमत् ॥ महाभा० ऊद्यो० अ० ११३ श्लोक १८॥ शाण्डिली भागवता की आज्ञा से जैसे गरुड़ आये थे वैसे ही चले गये ॥१८॥ अर्थात् शाण्डिली भागवता के निवास स्थल को हीन चिन्तवन करने से गरुड़ के दोनों पाँख गिर गये और उसी भागवता से फिर उस भागवतापचार को क्षमा कराने से गरुड़ के दोनों पाँख हो गये। यही वैनतेय का वृत्तान्त है। इस प्रकार के वैनतेय के वृत्तान्त कहने पर तो

यह प्रश्न होता है कि पिलैपिलैयाल्वान् सूरि से श्रीकूरेश स्वामीजी ने कौन सी वार्ता कही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पिल्लै पिल्लै-याल्वान् नाम के महात्मा को शरश्रागति करने पर इनके जाति, रूप, धन आदिक से उत्कृष्ट होने से भागवतों के विषय में नम्रता को नहीं देखकर श्रीकूरेश स्वामीजी ने ऐसा विचार किया कि इनका यह भाग-वतापचार ज्ञानानुष्टानादि संपूर्ण गुणों को दबा कर आप ही प्रबल हो स्वरूप को नाश कर देगा। इसको रोकना चाहिये। संयोगवशपुण्यकाल समय में स्नान करने के बाद पिल्लैपिल्लैयाल्वान् सूरि से ओर कूरेश-स्वामीजी से किनारे में आते ही भेंट हो गयी और श्रीकूरेशस्वामी जी ने कहा कि सब लोगों के दान करने के इस पुण्यकाल में आप भी हमको एक दान दीजिये। इस बात को सुनकर पिल्लैपिल्लैयाल्वान् सूरि ने कहा कि दास किसको दान दे सब कुछ तो आपही का है। ऐसा कहने पर तो फिर से कूरेशस्वामीजी ने कहा कि यह तो ठीक है परन्तु उतने मात्र से तृप्त नहीं हूँ त्रिकरण से भी भागवतापचार नहीं करेंगे ऐसा संकल्प करके हमारे हाथ में जल दो। ऐसा कहने पर पिल्लैपिल्लैयाल्वान् सूरि ने वैसे ही सकल्प कर हाथ में जल दिया। इसके बाद वह पिल्लैपिल्लै-याल्वान् सूरि किसी एक भागवत के दोष को पूर्ववासना स्मरण कर हम नष्ट हुए हैं ऐसा डर कर अपने घर में किवाड़ बन्द कर पड़े रहे। उस सूरि के प्रतिदिन आने का समय जब बीत गया तब श्रीकूरेशस्वामीजी ने उन सूरि के घर पर जाकर कहा कि क्यों जी क्या विचारते हो। ऐसा पूछने पर पिल्लैपिल्लैयाल्वान् सूरि अपने मन की बात को कहकर कहा कि हे भगवन् तीनों कारणों से यथा भागवतापचार न हो तथा इस शरीर के साथ रहना दुष्कर है क्या किया जाय। इसके बाद कूरेशस्वामीजी के श्रीचरणों को पकड़ भूमि में गिर कर बहुत ताप किया। इसके बाद श्रीकूरेशस्वामीजी ने इतना अनुताप इनको हुआ है यह हमारा भाग्य ही है ऐसा संतुष्ट हो कहा कि मन से किया हुआ दोष अनुताप होते ही ईश्वर क्षमा करते हैं। प्रत्यक्ष दण्ड के भय से किसी को शरीर से हिंसा नहीं करना। और इसलिये वे दोनों करण तुमको लौटा देता हूँ। केवल वागिन्द्रिय मात्र को अच्छी तरह से रोक कर रहना। यही श्रीकूरेश स्वामीजी की कही हुई वार्ता है। इसीसे कहा है कि इस स्थल में विनता के पुत्र गरुड़ का वृत्तान्त और पिल्लै

पिल्लैयाल्वान् सूरि से श्रीकूरेशस्वामीजी की कही हुई वार्ता को भी स्मरण करना ॥२१८॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि कर्म और ज्ञान होने पर भी भागवतापचार होने से भगवत्-प्राप्ति नहीं होती है।

ज्ञानानुष्ठानाभ्यां रहितत्वेऽपि फलस्य यथातत्संबन्ध एवालं, तथा तयोःसत्वेऽप्यप्राप्तेस्तेष्वपचार एवालम् ॥२१९॥

अर्थ—(ज्ञानानुष्ठानाभ्याम्) ज्ञान और कर्मानुष्ठान के (रहितत्वे) नहीं रहने पर (अपि) भी (फलस्य) भगवल्लाभरूप फल के (यथा) जैसे (तत्संबन्धः) भागवतों का सम्बन्ध (एव) ही निश्चय करके (अलम्) पर्याप्त है (तथा) वैसे ही (तयोः) ज्ञान और कर्मानुष्ठान इन दोनों के (सत्वे) रहने पर (अपि) भी (अप्राप्तेः) भगवल्लाभ रूप फल की प्राप्ति नहीं होने के लिये (तेषु) उन भागवतों के विषय में (अपचारः) अपचार करना (एव) ही निश्चय करके (अलम्) पर्याप्त है। यहाँ पर बहुत से लोग यह कहते हैं कि भगवत्प्राप्ति केवल ज्ञान से होती है कर्म से नहीं। यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति और स्मृति में ज्ञान और कर्म इन दोनों से ब्रह्म प्राप्ति लिखी हुई है, देखिये-विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्ययामृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ यजु० अ० ५० मं० ११॥

जो कर्म और ज्ञान इन दोनों को एक साथ जानता है वह कर्म से प्राचीन बन्धनकारक कर्म को पार करके ज्ञान अमृत ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥११॥ और भी हारीत स्मृति में लिखा है कि—उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म-शाश्वतम् ॥ हारी० अ० ७ श्लो० ११ ॥

दोनों पाँखों से ही जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हैं वैसे ही ज्ञान और कर्म इन दोनों से सनातन ब्रह्म प्राप्त होता है। और भी लिखा है कि—कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥ भगवद्गी० अ० ३ श्लो० २० ॥

जनकादिक ज्ञानीजन ने भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि (ब्रह्म) को प्राप्त किया है ॥२०॥ इससे सिद्ध हो गया कि ज्ञान

और कर्म इन दोनों से श्री हरि प्राप्त होते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इसमें क्या प्रमाण है कि भागवत के सम्बन्ध से श्रीमन्नारायण प्राप्त होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः ।
तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

पशु हो या मनुष्य हो या पक्षी हो जो भागवतों का आश्रयण करनेवाले हैं वे सब उस भागवत के सम्बन्ध से ही विष्णु भगवान के परम पद को पाते हैं। और भी लिखा है कि—

यं यं स्पृशति पाणिभ्यां यं यं पश्यति चक्षुषा ।
स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनर्बान्धवा जनाः ॥

भागवत जिस जिस को हाथों से छूता है और जिस जिसको आँखों से देखता है, स्थावर होने पर भी वह मुक्त होता है तो फिर बान्धवों को कहना ही क्या है ? और भी लिखा है कि—

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः । ईक्षिता भगवद्भक्तै-
र्लभन्ते परमं पदम् ॥ बृहन्नारदीयपु० अ० १८ श्लो० ११६ ॥
यतीनां विष्णुभक्तानां परिचर्यापरायणैः ईक्षिताश्चापि गच्छन्ति
पापिनोऽपि परां गतिम् ॥११७॥

महापातकी हो या सब पापों से युक्त हो भगवत् के भक्तों के देखने से परमपद को प्राप्त करता है॥११६॥ विष्णु के भक्त त्रिदण्डी संन्यासी की सेवा करनेवाला मनुष्य यदि पापी को भी देख लेता है तो वह मोक्ष को पाता है॥११७॥ इसीसे कहा है कि—ज्ञान और कर्मानुष्ठान के बिना भी मोक्ष के लिए भागवत का सम्बन्ध ही काफी है, वैसे ही ज्ञान और कर्मानुष्ठान होने पर भी मोक्ष नहीं प्राप्त होने के लिए भागवतों के विषय में अपचार ही काफी है॥२१९॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि इसमें जन्मवृत्तादिक के नियम नहीं है।

अत्र जन्मवृत्तादिनियमो नास्ति ॥२२०॥

अर्थ –(अत्र) मोक्ष के लिए भागवत का सम्बन्ध ही काफी है। और मोक्ष नहीं प्राप्त होने के लिए भागवतापचार पूर्ण है, इन पूर्वोक्त दोनों में (जन्मवृत्तादिनियमः) जन्ववृत्तादियों से श्रेष्ठ भागवतों के साथ सम्बन्ध ही मोक्ष का साधन है। जन्मादिकों से अपकृष्ट के साथ सम्बन्ध मोक्ष का साधन नहीं है ऐसा नियम और जन्मवृत्तादियों से उत्कृष्ट भागवतों के विषय में किया हुआ अपचार ही हानि का कारण है। ऐसा नियम (न) नहीं (अस्ति) है, इसी से कहा है कि—इसमें जन्म और वृत्तादियों के नियम नहीं हैं ॥२२०॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि दो सौ बीस सूत्र में कहे हुये अर्थ को कैशिकवृत्तान्त में और उपरिचरवसु के वृत्तान्त में देख सकते हैं।

अयमर्थः कैशिकवृत्तान्ते उपरिचरवसुवृत्तान्ते च द्रष्टव्यः ॥२२१॥

अर्थ :—(अयम्) इसमें जन्मवृत्तादियों के नियम नहीं हैं यह (अर्थः) अर्थ (कैशिकवृत्तान्तते) कैशिकस्वर के वृत्तान्त में (च) और (उपरिचरवसुवृत्तान्ते) उपरिचर वसुके वृत्तान्त में (द्रष्टव्यः) देखने योग्य है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कैशिक स्वर का वृत्तान्त और उपरिचरवसु का वृत्तान्त कैसा है? तथा कहाँ पर लिखा है? इस प्रश्न का उत्तर नीचे क्रम से मैं लिखता हूँ। कैशिक स्वर का वृतान्त श्रीवराह पुराण में श्री भूमि देवी से श्रीवराह भगवान् ने कहा है कि—चरक कुल में उत्पन्न सोमशर्मा नाम के ब्राह्मण ने यज्ञ करना प्रारम्भ किया, परन्तु दैव योग से यज्ञ की विधि ठीक नहीं होने से उस यज्ञ समाप्ति से पहले ही वह ब्राह्मण मर गया ब्रह्मराक्षस योनि में जन्म लेकर घूमने लगा कि किसी समय में चण्डाल योनि में जन्म लेनेवाले परम भागवत देवोत्थान एकादशी को रात में श्रीकुरंग नगर में श्रीकुरंग पूर्ण भगवान् की सन्निधि में गाना करने के लिये वीणा हाथ में लिये हुए उस ब्रह्म राक्षस को मिला। उस परम भागवत को खाने के लिये ब्रह्म राक्षस सामने खड़ा हुआ। तब उस परम भागवत ने अनेक

शपथ करके कहा कि हमारे कैंकर्य में इस समय में विघ्न मत करो। मैं गाना करके अवश्य यहाँ पर आऊँगा तो मुझको तुम खा लेना। इस वाक्य को सुनकर ब्रह्म राक्षस ने उस भागवत को छोड़ दिया। और वह भागवत श्री कुरंगपूर्ण की सन्निधि में गाना गाकर ब्रह्म राक्षस के स्थान में आया और कहा कि अब यथेष्ठ हमारे शरीर को तुम खा लो। इस बात को सुनकर और भागवत के सत्यवादित्व को देख कर उस ब्रह्मराक्षस ने प्रसन्न हो कहा कि आज के गाना का फल मेरे लिये आप दे दीजिये। आपको प्राण से मैं छोड़ दूँगा, इस बात को सुन कर उस परम भागवत ने कहा कि आज की रात के सब गाना का फल मैं नही दूँगा। तुम हमारी देह को खालो। इस वचन को सुन कर फिर से उस ब्रह्म राक्षस ने कहा कि आधी रात के गाने का फल दो। मैं तुमको नहीं खाऊँगा। इस बात को सुन कर फिर से भागवत ने कहा कि आधी रात के गाने का फल मैं नही दूँगा। तुम हमारे शरीर को खा लो। इस वाक्य को सुनकर फिर से उस ब्रह्म राक्षस ने कहा कि अच्छा एक पहर के गाने का फल मेरे लिये आप दीजिये। आपको मैं नहीं खाऊँगा। इस बात को सुनकर फिर से उस भागवत ने कहा कि एक पहर का भी गाना का फल मैं नहीं दूँगा, तुम प्रतिज्ञानुसार हमारे शरीर को खा लो ऐसा स्थिर होने से—

त्वं वै गीतप्रभावेण निस्तारयितुमर्हसि। एवमुक्त्वाथ चण्डालं राक्षसः शरणं गतः॥ श्रीवराहपु०॥

इसके बाद वह ब्रह्म राक्षस निश्चय करके आप अपने गीत के प्रभाव से मुझको इस योनि से पार कर सकते हैं। ऐसा कह कर उस चण्डाल जाति में उत्पन्न परम भागवत की शरण में गया॥ इसके बाद शरणागति करने पर उस भागवत ने कहा कि—

यन्मयापश्चिमं गीतं स्वरं कैशिकमुत्तरम्॥ श्रीवराहपु०॥

हमने उत्तर कैशिकस्वर को जो चौथा पहर में गाया था॥ इसके फल को तेरे लिये मैं देता हूँ। ऐसा कह कर फल दिया। और वह ब्रह्म राक्षस पूर्ववत् ब्राह्मणहो भागवत हो गया। यही कैशिक का वृत्तान्त है। इस कैशिक के वृत्तान्तमें जन्मादिकों से उत्कृष्ट भागवत सम्बन्ध ही उज्जीवन हेतु उनसे अपकृष्ट भागवत सम्बन्ध होने हेतु ऐसा नियम नहीं है। यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार कैशिकवृत्तान्त लिखा हुआ है। अब जो

कि महाभारत के शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म के तीन सौ सैंतिसवें अध्याय में श्रीभीष्मजी ने युधिष्टिर से उपरिचरवसू के वृतान्त को कहा है उसको लिखता हूँ कि ऋषियों और देवताओं ने आपस में विवाद किया कि यज्ञ में पशु मारना चाहिये कि नहीं, कि इतने ही में—

मार्गागतोनृपश्रेष्ठस्तदेशं प्राप्तवान्वसुः। महाभा० शान्तिपर्व मोक्ष० अ० ३३७ श्लो० ६॥ अन्तरिक्षचरः श्रीमान्समग्रबलवाहनः। तं दृष्ट्वा सहसायान्तं ते त्वंतरिक्षगम् ॥८॥ ऊचुर्द्विजातयो देवानेषच्छेत्स्यति संशयम् ॥

उपरिचरवसु राजाओं में श्रेष्ठ आकाश के रास्ते से जाते हुए जहाँ ऋषि और देवताओं का विवाद होता था उस स्थल पर आ पहुँचे ॥६॥ जो कि संपूर्ण अपने बल और वाहन के साथ आकाश में विचरनेवाले हैं और श्रीमान् हैं आकाश में चलने वाले उपरिचरवसुको स्वेच्छया अचानक वहाँ आये हुए देख कर ॥७॥ ऋषियों ने देवताओं से कहा कि यही हम सबों के संशय को दूर करेंगे ॥८॥ ऐसा कहने पर देवता और ऋषि इन दोनों ने उपरिचर वसु के पास में जाकर कहा कि—

भो राजन्केनयष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ॥१०॥

हे राजन् बकरा से यज्ञ करना चाहिये कि औषधों से ॥१०॥ यह जो देवता और ऋषियों का संशय है इसको पक्षपात रहित आप दूर कर दीजिये। ऐसा पूछने पर हाथ जोड़कर उपरिचरवसु ने कहा कि—

कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमः ॥११॥

ऐ ऋषियों आप लोग सच कहिये कि आप लोगों का कौन मत है और देवताओं का कौन मत है ॥११॥ इस बात को सुनकर ऋषि लोगों ने कहा कि—

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकंनराधिप ॥१२॥ देवानां तु पशुःपक्षो मतो राजन्वदस्वनः ॥१३॥

हे राजन् धान्यों से यज्ञ करना चाहिये ऐसा ऋषियों का पक्ष है ॥१२॥ और पशुओं से यज्ञ करना चाहिये ऐसा देवताओं का पक्ष है इसमें आपका मत क्या है' कहिये ॥१३॥ इसके बाद—

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात् ॥१३॥ छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तंवचस्तदा ॥१४॥

देवताओं के पक्ष बकरा को आश्रयण कर उस उपरिचरवसु ने ॥१३॥ पशु से यज्ञ करना चाहिये ऐसा वाक्य कहा ॥१४॥

कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः ॥१४॥
ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात्तस्माद्दिवः पत ॥१५॥
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः ।
अस्मच्छापाभिघातेन महीं भित्त्वा प्रवेक्ष्यसि ।१६॥

उसके बाद सूर्य के सदृश तेजवाले वे सब ऋषिलोग क्रोधयुक्त हुए ॥१४॥ और विमान में बैठे हुए तथा देवताओं के पक्ष को कहनेवाले उपरिचरवसु से कहा कि जिस कारण से देवताओं के पक्ष को तू ने ग्रहण किया है उस कारण से आकाश से नीचे तुम गिरो ॥१५॥ और हे राजन् हमसब ऋषियों के शाप से तेरी गति आज से आकाश में नहीं होगी और पृथ्वी को फोड़ कर तुम प्रवेश करोगे ॥१६॥ ऐसा शाप देने पर ॥

ततस्तस्मिन्मुहूर्तेऽथ राजोपरिचरस्तदा ।
अधो वै संबभूवाशुभूमेर्विवरगो नृप ॥
महाभा० शां० अ० ३३७ श्लो० १७॥

हे युधिष्ठिर ! तब उपरिचरवसु ने उसी मुहूर्त में भूमि के विवर पाताल में शीघ्र ही प्रवेश किया ॥१७॥ इस उपरिचरवसु के वृत्तान्त में—ऋषि लोगों ने भी धर्म सन्देह अपने से पूछा जैसे विद्यादियो से उनसे उत्कृष्ट ऋषि के विषय में अपचार से अधःपतित होने से जन्म-वृत्तादियों से उत्कृष्टों के विषय में अपकृष्ट क्रियमाण अपचार ही हानि-कारक है॥ जन्मादिकों से उत्कृष्ट विषय में किया हुआ अपचार हानिकारक नहीं है। ऐसा नियम नहीं है। यह सिद्ध होता है। यही उपरिचरवसु का वृत्तान्त है। इसीसे कहा है कि—इस अर्थ को कौशिक वृत्तान्त में और उपरिचर वसु के वृत्तान्त में भी देख सकते हैं ॥२२१॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि वेदाध्ययन द्वारा भगवत्प्राप्ति के हेतु समझकर ब्राह्मणता का अत्यन्त आदर किया जाता है।

ब्राह्मण्यस्य महार्घता वेदाध्ययनादिमुखेन भगवल्ला-भादिहेतुत्वात्, तदेव हानिहेतुश्चेत् त्याज्यं हि ॥२२२॥

अर्थ—(हि) निश्चय करके (ब्राह्मण्यस्य) ब्राह्मणता (महार्घता) सबके अत्यन्त आदर करने का विषय क्यों होती है कि (वेदाध्ययनादि मुखेन) वेदाध्ययन आदिक के द्वारा (भगवल्लाभादिहेतुत्वात्) भगवत् प्राप्ति आदिक के विषय में कारण होने से (चेत्) यदि (तत्) वही ब्राह्मणता (एव) ही निश्चय करके (हानिहेतुः) भगवत् प्राप्ति नहीं होने देने में कारण हो (त्याज्यम्) छोड़ने योग्य होती है। इसीसे कहा है कि ब्राह्मणता की अत्यादर की जाती है वेदाध्ययन द्वारा भगवत् की प्राप्ति के हेतु समझ कर, यदि वही ब्राह्मणता हानिका हेतु हो तो त्याग करने योग्य होती है ॥२२२॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि जन्मवृत्तों के उत्कर्ष भगवल्लाभ का कारण नहीं है और जन्मवृत्तों का अपकर्ष भगवान् के अलाभ का कारण नहीं है।

जन्मवृत्तयोरुत्कर्षापकर्षश्च प्राप्तेर्हानेश्च न प्रयोजकः ॥ २२३॥

अर्थ—(जन्मवृत्तयोः) जन्म और वृत्तों के (उत्कर्षः) उत्कर्ष (च) और (अपकर्षः) अपकर्ष ये दोनों (प्राप्तेः) भगवल्लाभ के (च) और (हानेः) भगवान् की अप्राप्ति के (प्रयोजकः) कारण (न) नहीं हैं। क्योंकि उत्कृष्ट जन्म वृत्त वाले कई एक प्राप्त नहीं होते हैं और कई एक प्राप्त होते हैं। ऐसे ही अपकृष्ट जन्म वृत्तवाले कई एक प्राप्त नहीं होते हैं और कई एक प्राप्त होते हैं। इसीसे कहा है कि—जन्मवृत्तों का उत्कर्ष भगवल्लाभ का कारण नही है और जन्मवृत्तों का अपकर्ष भगवत् के अलाभ का कारण नही है ॥२२३॥

अब श्रीवचनभूषणकार भगवत् की प्राप्ति और अप्राप्ति इन दोनों के कारण को कहते हैं कि—

प्रयोजको भगवत्संबन्धोऽसंबन्धश्च ॥२२४॥

अर्थ—(प्रयोजकः) भगवल्लाभरूप प्राप्ति कारण (भगवत्सम्बन्धः) भगवदनन्यार्ह शेष भूत ऐसा समझ रहना रूप भगवत् का सम्बन्ध है (च) और भगवत् के अलाभरूप अप्राप्ति का कारण (असम्बन्धः) भगवदनन्यार्ह शेषत्व ज्ञान के अभावरूप भगवत्संबन्धाभाव है। इसीसे कहा है

कि भगवत् की प्राप्ति और अप्राप्ति इन दोनों के कारण भगवत्सम्बन्ध और भगवत् का असम्बन्ध हैं ॥२२४॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि भगवत्सम्दन्ध हो तो उत्कृष्ट और अपकृष्ट ये दोनों जन्म बराबर होंगे क्या ?

भागवत्संबन्धे जाते द्वयमपि तुल्यंकिमिति चेत् ॥२२५॥

अर्थ—(भगवत्सम्बन्धे) भगवदनन्यार्ह शेषत्व ज्ञानरूप भगवत् के सम्बन्ध (जाते) उत्पन्न होने पर (द्वयम्) उत्कृष्ट जन्म और अपकृष्ट जन्म ये दोनों (अपि) भी (किम्) क्या (तुल्यम्) बराबर हैं (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर दो सौ छब्बीसवें सूत्र में लिखा है। इसीसे कहा है कि भागवत्सम्बन्ध उत्पन्न होने पर दोनों भी बराबर होंगें क्या ? ऐसा यदि हो तो ॥३३५॥

अब प्रबन्धकर्ता दो सो पचीसवें सूत्र में किये हुए प्रश्न का उत्तर देते हैं कि—

न तुल्यम् ॥२२ ।

अर्थ :—भगवत्सम्बन्ध उत्पन्न होने पर उत्कृष्ट जन्म और अपकृष्ट जन्म ये दोनों (तुल्यम्) बराबर (न) नहीं होंगे ॥२२६॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी दो सौ छब्बीसवें सूत्र में कहे हुऐ अर्थ को उपपादन करते हैं कि—

उत्कृष्टत्वेन भ्रमविषयं जन्मभ्रंशसंभावनया "शरीरे च" इत्युक्तप्रकारेण भयजनकम् ॥२२७॥

अर्थ (उत्कृष्टत्वेन) जाति आदि के अहंकार कर नष्ट होने के उपयुक्त होने से अपकृष्ट रूप इसको उत्कृष्ट या समझने से (भ्रम-विषयम्) जैसे रस्सी में सर्प भ्रम से मालूम होता है। वैसे ही भ्रम का विषय (जन्म) यह जन्म है और (भ्रंशसम्भावनया) उपायान्तरों में प्रवृत्त हो अनन्योपायत्व रूप अधिकार से च्युत होने की सम्भावना से (च) और (शरीरे) शरीर में (इति) ऐसा (उक्तप्रकारेण) उक्त प्रकार से

(भयजनकम्) भय को उत्पन्न करने वाला जन्म होता है। इस सूत्र में "शरीरेच" यह पद श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले सम्पूर्ण श्लोक को लिखकर उसके अर्थ को लिखता हूँ कि—

कालेष्वपि च सर्वेषु दिक्षुसर्वासु चाच्युत। शरीरे च गतौ चास्य वर्तते मे महद्भयम् ॥ पाञ्चरात्रागमे जितन्ते स्तोत्रे, चतुर्थाध्याये, श्लो० ६

हे अच्युत भगवन्! सम्पूर्ण भूत भविष्य, वर्तमान कालों में और समस्त दिशाओं में तथा इस शरीर में और गति में हमें बड़ा भारी भय होता है। ऐसा कहने से मालूम होता है कि यह शरीर भय का कारण है। इसी से कहा है कि उत्कृष्टतया भ्रम का विषय यह जन्मभ्रंश की सम्भावना से और "शरीरेच" इस वचन के अनुसार भयजनक होता है॥२२७॥

अब प्रबन्धकर्ता और भी उत्कृष्ट जन्म के दोष को कहते हैं कि—

तस्य स्वरूपप्राप्तं नैच्यं भावनीयम् ॥२२८॥

अर्थ :—(तस्य) उस उत्कृष्ट जन्म के (स्वरूपप्राप्तम्) भागवतानुवर्तनादियों में शेषत्व स्वरूप के अनुभव से प्राप्त हुआ (नैच्यम्) नैच्यानुसन्धान को अन्य लोगों से करते हुए देखकर (भावनीयम्) भावना करना है, इसीसे कहा है कि उस उत्कृष्ट जन्म के स्वरूप प्राप्त नैच्य को भावना करना है ॥२२८॥

अब श्रीवचनभूषणकार उत्कृष्ट जन्म के प्रतिकोटि रूप अपकृष्ट जन्म दोष रहित है। ऐसा कहते हैं कि—

अपकृष्टत्वेन भ्रमविषयीभूतस्योत्कृष्टजन्मन उभयदोषोऽपि नास्ति ॥२२९॥

अर्थ :—(अपकृष्टत्वेन) जात्यादिकों से होनेवाले अहंकार के योग्य न होने से शेषत्व के अनुकूल होने से उत्कृष्ट भूत इसको अपकृष्टतया समझना (भ्रमविषयी भूतस्य) भ्रान्तिका कार्य होने से (उत्कृष्टजन्मनः) उत्कृष्ट जन्म के (उभयदोषः) भ्रंशसंभावना से होनेवाले भय जनकत्व रूपदोष और स्वरूप प्राप्त नैच्य की भावना करना रूपदोष, ये दोनों

दोष अपि भी (न) नहीं (अस्ति) है। इसी से कहा है कि— अपकृष्टतया भ्रम के कार्य होने से उत्कृष्ट जन्म के पूर्वोक्त दोनों दोष भी नहीं हैं ॥२२९॥

अब जगदाचार्यजी नैच्यस्वभाव सिद्ध है ऐसे कहते हैं कि—

नैच्यं जन्मसिद्धम् ॥२३०॥

अर्थ — (नैच्यम्) भागवतानुवर्तनादियों के योग्य नैच्य (जन्मसिद्धम्) जन्म सिद्ध है। अर्थात् भावना से सिद्ध नहीं है। स्वभाव सिद्ध है। इसी से कहा है कि— नैच्य जन्म सिद्ध है ॥२३०॥

अब प्रबन्धकर्त्ता इस अर्थ को समाप्त करते हैं कि—

तस्मादुत्कृष्टजन्मैव श्रेष्ठम् ॥२३१॥

अर्थ— (तस्मात्) इस प्रकार उत्कृष्ट जन्म में दो दोष होने से और अपकृष्ट जन्म में दो दोष नहीं होने के कारण से (उत्कृष्टजन्म) शेषत्वानुरूप होने से उत्कृष्ट भूत यह जन्म (एव) ही निश्चय करके शेषत्वाननुगुण जन्म की अपेक्षा (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ है। इसी से कहा है कि— इस कारण से उत्कृष्ट जन्म ही श्रेष्ठ है ॥२३१॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी दो सौ ईकतिसवें सूत्र में कहे हुए अर्थ में प्रमाण दिखाते हैं कि—

श्वपचोऽपि महीपाल ॥२३२॥

अर्थ — (महीपाल) ऐ राजन् (श्वपचः) श्वपाक जातिवाला (अपि) भी। इस दो सौ बत्तीसवें सूत्र में "श्वपचोऽपि महीपाल" यह पद श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले संपूर्ण श्लोक को लिखकर उसके अर्थ को लिखता हूँ कि—

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु यतिश्च श्वपचाधमः॥

ऐ राजन! विष्णु का भक्त श्वपाक जातिवाला भी द्विजों से अधिक होता है और विष्णु की भक्ति से रहित संन्यासी भी श्वपाक जाति वालों से नीच होता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि श्वपाक जाति कौन सी है? इस प्रश्न का उत्तर मनुस्मृति में लिखा है कि—

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते ॥
मनु० अ० १० श्लो० १६ ॥

क्षत्ता पुरुष से उग्रा स्त्री में जो उत्पन्न होता है उसको श्वपाक ऐसा कहते हैं ॥१६॥ और

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमोनृणाम् ।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥मनु० अ० १० श्लो० १२॥

इस श्लोक में कहे हुए के अनुसार शूद्र पुरुष से क्षत्रिया स्त्री में जो उत्पन्न होता है उसको क्षत्ता ऐसा कहते हैं। इस श्लोक का अर्थ पहले लिख चुका हूँ इससे यहाँ पर नही लिखता हूँ। और—

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् ।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रोनाम प्रजायते ॥ मनु० अ० १० श्लो० ६ ॥

क्षत्रिय पुरुष से शूद्र की कन्या में क्रूर आचार और विहार करनेवाला क्षत्रिय तथा शूद्र का शरीरवाला उग्र नाम से युक्त उत्पन्न होता है ॥६॥ इससे यह सिद्ध हुआ कि शूद्र से क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र क्षत्ता होता है और क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्री उग्रा होती है। उस क्षत्ता से उग्रा में उत्पन्न पुत्र श्वपाक या श्वपच कहा जाता है। इसका सब व्यवहार चण्डाल की तरह होता है। इसीसे कहा है कि— हे राजन् श्वपच ॥२३२॥

अब श्री वचनभूषणकार यह कहते हैं कि निकृष्ट जन्म से होनेवाले दोष विलक्षण संबंध से निवृत हैं।

निकृष्टजन्मप्रयुक्तो दोषः शाम्यते
विलक्षणसंबंधेन ॥२३३॥

अर्थ— (निकृष्टजन्मप्रयुक्तः) अहंकार हेतु से निकृष्ट जन्म द्वारा होनेवाला (दोषः) नैच्य भावना और भ्रंशसम्भावना रूप दोष (विलक्षणसंबंधेन) जन्म सिद्ध नैच्यवाले तथा उपायान्तर के संबंध की गंध से रहित विलक्षण भागवतों के साथ शेषत्व रूप संबंध होने से (शाम्यते) जड़ से निवृत होता है। इसीसे कहा है कि— निकृष्ट जन्म से होनेवाला दोष विलक्षण संबंध से निवृत होता है ॥२२३॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि विलक्षण संबंध होने के समय अपना जन्म दोष निवृत्त होना चाहिये।

संबन्धस्य योग्यतायां जननीयायां जन्मन्यूनतानि वृत्तिरावश्यकी ॥२३४॥

अर्थ— (सम्बन्धस्य) जन्म सिद्ध नैच्यवाले इतरोपाय के सम्बन्ध को गन्ध से रहित विलक्षण भागवतों के साथ शेषत्वरूप सम्बन्ध की (योग्तायाम्) योग्यता (जननीयायाम्) उत्पन्न होने के समय में (जन्मन्यूनतानिवृत्तिः) अपने जन्म का दोष निवृत्त होना (आवश्यकी) अत्यन्त जरुरी है। इसी से कहा है कि सम्बन्ध की योग्यता होने पर जन्म का दोष निवृत होना चाहिए ॥२३४॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी जन्म के दोष को और उसके परिहार को कहते हैं कि—

जन्मनो न्यूनता तत्परिहारश्च "अवद्यरहित" (पिलुतिला) इतिगाथायामुक्तः ॥२३५॥

अर्थ — (जन्मनः) जन्मका (न्यूनता) दोष (च और (तत्परिहारः) उस दोष का परिहार (अवद्य रहितः) निन्दा से रहित (पिलुतिला) पिलुतिला नामवाले (इति) इस (गाथायाम्) गाथा में (उक्तः) श्रीभक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी ने कहा है। अर्थात् अज्ञान निवृत्ति पूर्वक परमानन्द को प्राप्त होने वाले तत्वज्ञानियों में आगे गिनानेवाले तदीयशेषता के सीमाभूमिभूत श्रीभक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी "अवद्य रहित वृत्तवाले" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मा से लेकर अपने पर्यन्त आनेवाले वंश-प्रवाह में एक भी दोष से रहित वर्तमान अनेक चतुर्वेदियों इससे नीच नहीं ऐसे कहने योग्य नीच कुल में जन्म लेने पर भी हमारे साथ असाधारण सम्बन्ध को जानकर तद्ज्ञानानुरूप स्वाचारवाले हो तो तुम लोग भगवत् के चरणारविन्दा में गिरकर आराधना करो। और वे लोग तुम्हारे पास ज्ञान की अपेक्षा करें तो तुम आदरपूर्वक कहो। हे भगवद् ज्ञान को तुमसे कहें तो सुनकर कृतार्थ बनो। हमसे अधिक पूज्य न होने से हमारे सदृश भी तो उनकी आराधना कर सन्मार्ग में गमन करो। ऐसे इस परम रहस्य को—

भक्तिरष्टविधाह्येषा यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्तते। तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्।

यह आठ प्रकार की भक्ति जिस किसी म्लेच्छ में भी हो तो उसके लिये दो और उससे ग्रहण करो तथा उनको हमारे समान पूजा करे। ऐसा परमात्मा ने आपही कहा है तो इसमें कोई सन्देह है क्या? इस प्रकार उपदेश मात्र न हो श्रीरंगजी में आविराज लोकसारंग महामुनि के शिर में योगिवाहन स्वामीजी को बैठाकर इस अर्थ को अनुष्ठान पर्यन्त करके दिखाया नहीं है क्या? अभिजनादिक अभिमान जन्म के दोष हैं। वह दुरभिमान जिनको नहीं है उन विलक्षण भागवतों के अनुवर्तन करने से वह दोष निवृत होता है। ऐसा सुस्पष्ट कहा है। इसीसे कहते हैं कि जन्म के दोष और उसके परिहार को अवद्यरहित वृत्त पिलुतिला इस गाथा में श्रीभक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी ने कहा है।

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि स्पर्शवेधि नामवाले सोने के समान विलक्षण भागवतों के साथ सम्बन्ध होने पर इसके जन्म के दोष निवृत्त हो जाते हैं।

वेधकस्वर्णवदेतैः सम्बन्धः ॥२३६॥

अर्थ— (वेधकस्वर्णवत्) अनेक सिद्धौषधों के साथ बहुत बार गलाकर गुल्ली रूप बनाकर रसवादि लोगों के हाथ में रहनेवाला स्पर्श वेधि नाम सोना जैसे स्पर्श मात्र से लोहे को सोना बनाता है वैसे ही (एतैः) जन्मसिद्ध नैच्यादि वाले विलक्षण भागवतों के साथ (सम्बन्धः) संबध निकृष्ट जन्म से होनेवाले दोषको दूरकर इसको भी विलक्षण बना देता है। इसीसे कहा है कि वेधक सोने के समान विलक्षण भागवतों के साथ सम्बन्ध जानना ॥२३६॥

अब जगद्गुरुजी विलक्षण भागवतों में कैसी बुद्धि करनी चाहिये, इसी को कहते हैं कि—

एषु साम्यबुद्धिराधिक्यबुधिश्च कर्तव्या ॥२३७॥

अर्थ— (एषु) इन विलक्षण भागवतों के विषय में साम्यबुद्धि (च) और (आधिक्यबुद्धिः) आधिक्यबुद्धि (कर्तव्या) करनी चाहिये। इसीसे

कहा है कि इनके विषय में साम्य बुद्धि और आधिक्य बुद्धि करनी चाहिये ।।२३७।।

अब जगदाचार्यजी दो सौ सैंतिस सूत्र में कहे हुए अर्थ का विवरण करते हैं कि—

सा चाचार्यतुल्या संसारिभ्यः स्वस्मादीश्वरादधिका इति प्रतिपत्तिः ॥२३८॥

अर्थ—(सा) वह बुद्धि विलक्षण भागवतों के विषय में (आचार्यतुल्या) आचार्य के समान करनी चाहिये (संसारिणः) जात्यादियों से सांसारिकों के समान नहीं समझ कर ज्ञानादि द्वारा आयी हुई विलक्षणता करके संसारी जीवों से (अधिका) अधिक (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति करनी चाहिये। और (स्वस्मात्) संसारियों से विलक्षणता अपने में भी होने पर तद्द्वारा अपने समान न समझ कर अपना शेषीभाव अपने से अधिक प्रतिपत्ति करनी चाहिये। और (ईश्वरात्) शेषी होने से हमें ईश्वर और य विलक्षण भागवत दोनों बराबर हैं ऐसा न समझ कर कर्मानुगुणलीला में विनियोग करनेवाले स्वचरण-कमल समाश्रयण दशा में पुरुषकार की अपेक्षा करनेवाले दिव्य देशों में सन्निधि करने पर भी अर्चावतार संकल्प से मुख खोलकर एक बात भी नहीं कहनेवाले सर्वेश्वर के समान न हो स्वरूपानुगुण विनियोग करनेवाले स्वाश्रयण में पुरुषकार की अपेक्षा न कर मुख से त्याज्योपादेयों को उपदेश देकर रक्षा करनेवाले होने से अधिक (इति) यह प्रतिपत्ति करनी चाहिये। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इस सूत्र में आचार्य किसको कहते हैं ?. इस प्रश्न का उत्तर मनुस्मृति में लिखा है कि—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।
मनु० अ० २ श्लोक १४९

जो ब्राह्मण शिष्य को जनेऊ देकर कल्प और उपनिषद् सहित वेद को पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं ।।१४०।। इसीसे कहा है कि—उस विलक्षण भागवत को आचार्य के तुल्य समझना और संसारी जीवों से तथा अपने से और ईश्वर से अधिक समझना ।।२३८।।

अब श्रीवचनभूषणकार विलक्षण भागवतों को आचार्य के समान समझने के कारण को कहते हैं कि—

आचार्यसाम्यस्य मूलमाचार्यवचनम् ॥२३९॥

अर्थ— (आचार्यसाम्यस्य) विलक्षण भागवतों को आचार्य के समान समझने का (मूलम्) कारण(आचार्यवचनम्) विलक्षण भागवतों को हमारे समान समझना ऐसा उपदेश समय में आचार्य का कहा हुआ वचन है। इसीसे कहा है कि — आचार्य के साम्य का कारण आचार्य का वचन है ॥२३९॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि विलक्षण भागवत के विषय में पहले जैसा कहा है वैसा नहीं समझना अपचार है।

एवं प्रपत्त्यकरणं चापचारः ॥२४०॥

अर्थ – (च) और (एवम्) इस प्रकार के (प्रपत्त्यकरणम्) प्रपत्ति नहीं करना अर्थात् आचार्य के समान विलक्षण भागवतों को नहीं समझना भी (अपचार) अपचार है। इसीसे कहा है कि— ऐसा नहीं समझना भी अपचार है ॥२४०॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि भागवत के वैभव को इतिहास तथा पुराण और दिव्य सूरियों की गथाओं में देख सकते हैं।

अयमर्थ इतिहासपुराणेषु, पयिलुंशुडरोलि नेडुमाल्कडिमै कण्शोरवेंगुरुदि, नण्णातवालवुण्र् तेट्टरुंतिरत्तेन्, मेंवोरुल् इत्यस्या उपरितनगाथासु च विशदतया दृश्यते ॥२४१॥

अर्थ – (अयम्) पहले विस्तारपूर्वक कहा हुआ यह (अर्थः) भागवत वैभव रूप अर्थ (इतिहासपुराणेषु) महाभारत इतिहास में और श्रीमद् भागवत आदिक पुराणों में तथा (पयिलुशुडरोलि) श्री परांकुश मुनि स्वामीजी की जो "पयिलुंशुडरोलि" यह गाथा है और (नेडुमाल्कडिमै) जो "नेडुमाल्कडिमै" यह गाथा है और(कण्शोरवेंगुरुदि) परकाल स्वामी जी की जो "कण्शोरवेंगुरुदि" यह गाथा है और (नण्णातवालवुण्र्) जो

'नण्णातवालनुणर्' यह गाथा है और (तेट्टरुंतिरत्तेन) श्री कुलशेखर स्वामीजी की जो "तेट्टरुंतिरत्तेन्" यह गाथा है और (मेंबोरुल्) श्री भक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी की "मेंबोरुल्" यह गाथा है (इति) इन सब (अस्याः) गाथाओं के (उपरितनगाथासु) ऊपर की गाथाओं में (च) भी (विशदतया) अत्यन्त स्पष्ट रूप से (दृश्यते) देखा जाता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इतिहास और पुराणों में कहाँ पर भागवत वैभव कहा हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बहुत स्थलों में भागवत वैभव कहा हुआ है। उन्हीं में से कुछ यहाँ पर मैं लिखता हूँ, कृपा करके सज्जन लोग अवलोकन करें॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ भगवद्गी० अ० ६ श्लोक ३०॥

यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा हो मुझको भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है॥३०॥ और भी लिखा है कि—

मद्भक्तं शूद्रसामान्यादवमन्यन्ति ये नराः। नरकध्वेवतिष्ठन्ति वर्षकोटीर्नराधमाः॥ कहाभा०॥

जो मनुष्य हमारे भक्त को शूद्रजाति के समान समझ कर अपमान करते हैं वे नीच मनुष्य करोड़ों बरसों तक नरक में रहते हैं।

चण्डालमपिमद्भक्तं नावमन्येत बुद्धिमान्। अवमानात्पतत्येव रौरवेनरके हि सः॥ महाभा०॥

बुद्धिमान् हमारे चंडाल भक्त को भी अपमान न करे, अपमान करने से वह निश्चय रौरव नरक में गिरेगा—

न शूद्राभगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः। सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ताजनार्दने।

शूद्रभागवद् भक्त होने पर शूद्र नहीं कहलायेगा। विप्र भागवत कहलायेगा जो लोग जनार्दन के भक्त नहीं हैं वे ही सब वर्णों में शूद्र कहलाते हैं॥ और भी लिखा है कि—

शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादंश्वपचं तथा। वीक्षते जातिसामान्यात्सयाति नरकं नरः ॥

शूद्र या निषाद या श्वपच हो तो भी हमारे भक्त को जातिसामान्य से जो देखता है वह नरक में जाता है ॥ और भी देखिये—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ॥
श्रीमद्भाग० स्कं० ३ अ० ३३ श्लोक ७ ॥

जिस श्वपच की जीभ के आगे ऐ भगवन् आपका नाम रहता है वह भागवत होने से श्रेष्ठ है ॥

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्विरञ्चितामेति ततः परंहि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं परं पदं यद्विबुधाः कलात्यये ॥
श्रीमद्भा० स्कं० ४ अ० २४ श्लोक २६ ॥

अपने धर्म में निष्ठ पुरुष सौ जन्म करके ब्रह्मा के भावको प्राप्त करता है इसके बाद निश्चय करके वह पुरुष मुझको प्राप्त करता है। इसके बाद वह भागवत होता है और भागवत होकर विकार रहित श्री विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है—

जिस पद को कला के नाश होने पर देवता सब प्राप्त करते हैं ॥६६॥

जिह्वा न वक्ति भगदगुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्। कृष्णाय न नमति यच्छिरएकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥ श्रीमद्भा० स्कं० ६ अ० ३ श्लोक २६ ॥

जिसकी जीभ भगवत् के गुण और नामों को नहीं कहती है और चित्त भगवत् के चरणारविन्द को नहीं स्मरण करता है और शिर एक बार भी कृष्ण भगवान के लिये नहीं प्रणाम करता है ऐसे जो विष्णु भगदान् का कैंकर्य नहीं करनेवाले दुष्ट हैं उनको तुम लोग यम लोक में ले आना ॥२६॥

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपदारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्टम्।
मन्येतदर्पितमनोवचनेहितार्थं प्राणं पुनाति सकलं न तु भूरिमानः ॥
॥श्रीमद्भा० स्कं० ७ अ० ६ श्लोक १० ।

द्विषड्गुण संपन्न ब्राह्मण कमलनाभ भगवान के पादारविन्द से विमुख हो तो उस ब्राह्मण से श्वपच भक्त श्रेष्ठ है, जिसके मन, वचन, तथा वाँछित अर्थ और प्राण परमात्मा में समर्पित हैं वह संम्पूर्ण पृथ्वी को पवित्र करता है, अभिमान से भरा हुआ कभो नहीं पवित्र कर सकता है ॥१०॥

नद्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० ८४ श्लोक ११॥

जलमयतीर्थ और मृण्मयादि देवता बहुत काल में पवित्र करते हैं किन्तु साधु भागवत दर्शन मात्र से पवित्र करते हैं ॥११॥ और श्रीवराहपुराण में लिखा है कि—

मद्भक्तं श्वपचंवापि निन्दां कुर्वन्ति ये नराः। पद्मकोटिशतेनापि न सहामि कदाचन ॥ वराह० ॥

श्वपच हो तो भी हमारे भक्त की जो मनुष्य निन्दा करते हैं, वह करोड़ों पद्मशत वर्षों तक भी मैं सहन नहीं करूँगा ॥

मद्भक्तज न संमर्दपादपांसुविसर्जनात् । चतुःसागरपर्यन्तं पावनंस्याद्वसुन्धरे ॥ वराह० ॥

हे भूमिदेवि हमारेभक्तों के पैर की धूलि से चारो समुद्र पर्यन्त पवित्र हो जाता है। और वामन पुराण में लिखा है कि—

निन्दां कुर्वन्ति ये भूता वैष्णवानां महात्मनाम्। पतन्ति पितृभिः सार्धं महारौरवसंज्ञकम् ॥ वामन ॥ जो जीव वैष्णव महात्माओं की निन्दा करते हैं वे लोग अपने पितरों के साथ महा रौरव नाम के नरक में गिरते है। पुनः लिंग पुराण में लिखा है कि—

वैष्णवानां विशेषोऽस्ति विष्णोरायतनं महत् ।
जङ्गमश्रीविमानानि हृदयानि मनीषिणाम् ॥
यः पश्यति शुभाचारं वैष्णवं वीतकल्मषम् ।
यस्मिन्कस्मिन्कुले जातं प्रणमेद्दण्डवद्भुवि ॥ लिंग पु० ॥

वैष्णवों में विशेष यह है कि वे लोग विष्णु के बड़े मन्दिर हैं, भक्त लोगों का हृदय विष्णु का जंगम विमान है, इससे जो कोई जिस किसी कुल में जन्म लेनेवाले पाप रहित शुभाचारी वैष्णव को देखे तो लाठी के

समान पृथ्वी में गिरकर उसे साष्टांग प्रणाम करना चाहिये स्कन्द पुराण में लिखा है कि—

विष्णुभक्तिसभायुक्तो मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी ।
पुनाति सकलांल्लोकान्सहस्रांशुरिवोदितः ॥
वैष्णवा विष्णुवत्पूज्या मम मान्या विशेषतः ।
तेषांकृतेऽवमाने तु विनाशो जायते ध्रुवम् ॥ स्कन्द पु० ॥

विष्णु की भक्ति से युक्त पुरुष चाहे मिथ्याचारी हो या अनाश्रमी हो परन्तु सूर्योदय के समान सम्पूर्ण लोकों को पवित्र करता है। वैष्णव विष्णु के समान पूज्य हैं और विशेष रूप से मेरे मान्य हैं। इससे वैष्णवों के अपमान करने से निश्चय करके विनाश हो जाता है। पुनः विष्णुपुराण में लिखा है कि—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं जपति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम् ॥विष्णुपु०॥

यमराज ने फांस हाथ में लिये हुए अपने दूतों को देखकर धीरे से कान के मूल में कहा कि मधुसूदन के भक्तों को छोड़ देना क्योंकि वैष्णवों से अन्य मनुष्यों का मैं स्वामी हूँ। भागवतपुराण में भी लिखा है कि—

दूषयेद्भगवद्भक्तं यस्तुवाक्यैर्नराधमः । मूकोभवति जन्मानि सहस्राणि शतानि च ॥ यस्तु दृष्ट्वा हरेर्भक्तमनुत्थाय स्थितो यदि । पाषाणत्वमवाप्नोति चिरकालं स मानवः ॥ विष्णुभक्तान्द्वि जान्यस्तु मर्त्यभावेन मन्यते । सहस्राणि जन्मानि तिर्यग्योनिषु जायते ॥ जो अधमामनुष्य वाक्य से भगवान् के भक्त की निन्दा करता है वह मनुष्य सौ हजार जन्म गूँगा होता है और जो मनुष्य भागवत को देखकर आसन से नहीं उठता है वह बहुत दिनों तक पत्थर होता है। और जो मनुष्य ब्राह्मण विष्णु भक्त को मनुष्य मानता है वह हजार बार तिर्यग्योनि में जन्म लेता है। इस प्रकार के भागवतों का वैभव बहुत सा लिखा हुआ है लेकिन ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूँ। इस प्रकार के इतिहास और पुराणों में भागवत के वैभव

निरूपण होने पर तो यह प्रश्न होता है कि श्रीपरांकुश मुनिजी ने 'अभिवर्धमान प्रभावत्तेजः' इस दशक में और 'व्यामोहवतः' इस दशक में किस प्रकार का भागवत वैभव कहा है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि– क्षीर सागर में सोते हुए श्रीमन्नारायण को अभ्यास करनेवाले जन्म जन्म में मेरे मालिक हैं, ऐसा प्रारम्भ कर भगवद्गुण चेष्टितादियों में प्रवण भागवत लोग ही मेरे मालिक हैं। ऐसा अर्थ को कहने के समय कोई हो वेही कुम्भी नरक में रहनेवाले भी परमात्मा का कीर्तन किये हों तो वह कितना भी सुकृत रहित चण्डाल हो तो भी ऐसा जन्मादियों से कितना भी नीच हो तो भी शेषत्व विरोधी जन्माद्यभिमान रहित भागवत लोग हमको अत्यन्त उद्देश्य हैं। ऐसा श्रीपरांकुश मुनि स्वामीजी ने 'अभिवर्धमान प्रभावत्तेजः इस दशक में कहा है। और क्रूर महापापी उनके दासों के चरण में संगमन बिना आश्चर्य कर तीन लोकों की प्राप्ति से भी छोड़ सकते हैं क्या, ऐसा प्रारम्भ कर भागवत ही अपने को परम प्राप्य । इस अर्थ को कहने के समय जन्म वृत्तादि विभाग को छोड़ दास्य में अग्रसर इसके दास लोग मणि पर्वत के समान सोनेवाले स्वामी के दास लोग अवद्य रहित दास लोग विच्छेद रहित दास लोग ऐसा भगवत्सौन्दर्यादियों में हारनेवाले आकार ही उन भागवतों का निरूपक है। ऐसा ,व्यामोहवतः' इस दशक में परांकुशमुनि स्वामीजी ने कहा है। इस प्रकार के परांकुश मुनि स्वामीजी के कहे हुए भागवत वैभव को सुनकर तो यह प्रश्न होता है कि श्रीपरकाल स्वामी ने 'नेत्रभ्रमण' इस दशक में और 'अनाश्रित राक्षस' इस दशक में किस प्रकार का भागवत वैभव कहा है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि – शीतल सारक्षेत्र के नाथ के चरण का सेवक ही हमारे शिर में वास करता है। ऐसा प्रारम्भ कर अर्चावतार में प्रवण श्रीवैष्णव ही हमको शिरोधार्य हैं। सदा ध्यान के योग्य हैं। नित्यसूरियों से भी कैंकर्य समृद्धि वाले हैं। उनको एक क्षण भी नहीं छोड़ सकता हूँ। उनके विषय में हमारे हृदय में मद्य टपकता हुआ भोग्य होता है। उनको देखते मात्र ही हमारे मन और दृष्टि कैसे संतुष्ट हो प्रफुल्लित होते हैं। देखो हमारा प्रेम उनके विषय में बढ़ रहा है। उनको मनसे स्मरण करने पर मृत्यु और पाप से नहीं डरता हुआ निर्भय होता है। हमारा हृदय उनके विषय में मग्न होता है। देखो ऐसा श्रीपरकाल स्वामीजी ने 'नेत्र भ्रमण' इस दशक में कहा है और तिरुक्कडलुमल्लै स्थलशयन को जो कोई स्मरण करता है, वे ही हमारे

मालिक हैं ऐसा जिस किसी जन्म और वृत्तवाले हों तिरुक्कडल्मल्लै स्थलशयन भगवान् को अनुसन्धान करनेवाले स्थित प्रकार ही प्रमाण दिखाये बिना हो हमसे कैंकर्य स्वीकार करने के समर्थ हैं। ऐसा प्रारंभ कर ज्ञान प्रभावत् विग्रह को स्मरण करनेवाले हमारे नायक हैं। वे ही हमारे कुल देवता हैं। ऐसा श्री परकाल स्वामीजी ने 'अनाश्रित राक्षस इस दशक में कहा है। इस प्रकार के परकाल स्वामीजी के कहे हुए भागवत वैभव को सुन कर यह प्रश्न होता है कि श्री कुलशेखर स्वामी जी ने "मधुतिरस्कारक" इस गाथा में किस प्रकार का भागवत वैभव कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सत्यभूत दासों के समूह को देखने का अवसर प्राप्त हो तो वही आँखों की सफलता है। भक्तों के चरणों की धूलि में स्नान प्राप्त हो तो गंगा में अवगाहन कर स्नान करने की इच्छा क्या होगी? इत्यादि से भागवतों के विषय में अपना प्रेमाधिक्य कहने के समय में जन्मादियों के उत्कर्ष और अपकर्ष के प्रसंग छोड़ भागवद्भक्ति के परवश होना हो उनका निरूपक है। ऐसा श्रीकुलशेखर स्वामीजी ने 'मधुतिरस्कारक' इस गाथा में कहा है। इस प्रकार के श्री कुलशेखर स्वामी के कहे भागवत वैभव को सुनकर यह प्रश्न होता है कि—

श्रीभक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी ने "उपरिवर्तमानार्थ"

इस गाथा में किस प्रकार के भागवत वैभव को कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कितना ही नीच जन्मों से उत्पन्न होने पर भी मेंबोरुल में कहे हुए ज्ञान में निष्ठावाला हो तो श्रीतुलसी के सदृश ईश्वर का शिरसा धार्य है। ऐसी जन्म से आयी हुई नीचता मात्र न हो कितना भी नीच वृत्त वाले भी इस ज्ञाननिष्ठवाले हों तो उस दुष्कृत फल को नहीं पायेंगे, अपने को जन्मवृत्तादियों से आनेवाले दोष नहीं है। इतना मात्र नहीं अपने साथ सम्बन्धवाले संसारी लोग भी अपने प्रसाद स्वीकार से परिशुद्ध हो जाने उत्कर्षवाले होते हैं। जन्मवृत्तादियों से अति नीच होने पर भी एवं भूतज्ञान वाले इस ज्ञानविहीन हो जन्मवृत्तादियोंसे उत्कृष्ट होनेवालों को सर्वेश्वर की तरह पूज्य हो ज्ञान दान प्रतिग्रहों को योग्य होते हैं। जनमवृत्तों के ऊपर ज्ञानाधिक भी होनेवाले जन्मवृत्तादि वैलक्षण्यरहित इस ज्ञानवालों को भगवत् प्रभाव से श्रेष्ठ नहीं समझ कर्ममूलक जन्मादि नीचता को ही समझ नीच मानेंगे तो उसी क्षण में वे कर्मचण्डाल हो जायेंगे। ऐसा श्रीभक्तांघ्रिरेणु स्वामीजी ने उपरि-

वर्तमानार्थं" इस गाथा में कहा है। इसी से कहा है कि॥ इस अर्थ को इतिहास में तथा पुराणों में और "अभिवर्धमानप्रभावत्तेजः", "व्यामोहवतः", "नेत्रभ्रमण", "अनाश्रितराक्षस", "मधुतिरस्कारक" और "उपरिवतमानार्थं" इन छः गाथाओं के ऊपर की गाथाओं में भी अत्यन्त स्पष्ट देख सकते हैं॥२४१॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि क्षत्रिय विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हो गये हैं।

क्षत्रियो विश्वामित्रो ब्रह्मर्षिभूत ॥२४२॥

अर्थ—(क्षत्रियः), क्षत्रियकुल में उत्पन्न (विश्वामित्रः) विश्वामित्रजी उसी जन्म में अपनी तपस्या से और वशिष्ठजी के वाक्य द्वारा जैसे क्षत्रियत्व को समूल नाश करके (ब्रह्मर्षिः) ब्रह्मर्षि (अभूत) हुए हैं। वैसे ही अत्यन्त अपकृष्ट कुल में उत्पन्न होने पर भी उसी शरीर से अवधि शून्य शक्ति-वाले भगवत्सम्बन्धरूप संस्कार विशेष द्वारा अत्यन्त उत्कृष्टतम हो जाते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि वशिष्ठजी के कहने से विश्वामित्र जी ब्रह्मर्षि हो गये हैं? इस प्रश्न का उत्तर वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि –

ततः प्रसादितो देवैर्वशिष्ठो जपतां वरः। सख्यं चकार ब्रह्मर्षि रेवमस्त्विति चाब्रवीत्॥ वाल्मीकिरा० बालकां० १ सर्ग० ६५ श्लो० २५॥ ब्रह्मर्षिस्त्वं न संदेहः सर्वं संपद्यते तव। इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम् ॥२६॥ विश्वा-मित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम्। पूजयामासब्रह्मर्षि वशिष्ठं जपतां वरम् ॥२७॥

इसके बाद देवताओं से प्रसादित जप करनेवालों में श्रेष्ठ वशिष्ठजी ने विश्वामित्रजी से मित्रता की और उनको ब्रह्मर्षि कहा॥२५॥ तुम ब्रह्मर्षि हो इसमें संदेह नहीं है, तुमको ब्रह्मर्षि के सब गुण प्राप्त होंगे ऐसा कह कर संपूर्ण देवता जैसे आये थे वैसे ही चले गये॥२६॥ धर्मात्मा विश्वमित्रजी ने भी उत्तम ब्राह्मणत्व को पाकर जप करनेवालों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी की पूजा की॥२७॥ और मनुस्मृति में लिखा है कि—

ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ मनु० अ० ७ श्लोक ४२ ॥

और गाधिराजा के पुत्र विश्वामित्र ने क्षत्रिय होने पर भी उसी शरीर से ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया है ॥४२॥ वज्रसूचिकोपनिषद् में लिखा है कि **ऋष्यश्रृङ्गो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वाल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्, शशपृष्ठात् गौतमः वशिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात् । वज्रसूचिकोपनि० ॥**

कुश से कौशिक ऋषि उत्पन्न हुये हैं। इसीसे कहा है कि—क्षत्रिय विश्वामित्रजी ब्रह्मर्षि हुए हैं ॥२४२॥

अब श्रीवचनभूषणकार पूर्वोक्त अर्थ को स्थिर करने के लिये श्रीविभीषणसूरि को उद्देश्य कर श्रीरामजी की कही हुई वर्ता को कहते हैं कि

विभीषणं रावणः कुलपांसनमित्यवदत् स्वामीक्ष्वाकुवंश्यत्वेन स्मृत्वा वार्तामवोचत् ॥२४३॥

अर्थ—(रावणः) लोकको रुलानेवाले पापी रावण ने (विभीषणम्) श्रीविभीषणसूरि को श्रीसीतादेवी को श्रीरामजी के लिये दे दो ऐसा हितोपदेश करने के कारण से (कुलपांसनम्) कुल का कलंक तुम हो (इति) ऐसा (अवदत्) कहा है (स्वामी) और उसी श्रीविभीषण सूरि को स्वामी श्रीरामजी ने (इक्ष्वाकुवंश्यत्वेन) इक्ष्वाकुराजा का वंशवाला (स्मृत्वा) समझ कर (वार्ताम्) बात को (अवोचत्) कहा है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि रावण ने श्रीविभीषण सूरि को कुलपांसन कहा है? और श्रीरामजी ने कब श्रीविभीषणसूरि को इक्ष्वाकु वंशवाला समझकर बात को कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्वाक्यमेतन्निशाचर। अस्मिन्मुहूर्ते न भवेत्त्वांतु धिक् कुलपांसनम् ॥ वाल्मीकिरा० युद्ध कां० ६ सर्ग० १६ श्लोक १५॥

हे निशाचर विभीषण यदि दूसरा कोई राम के लिये सीता को दे दो इस प्रकार की बात को कहा होता तो इसी मुहूर्त में उसका बध होता इससे हमारे कुल का कलंक रूप तुमको धिक्कार है ॥१६॥ इस वाल्मीकि रामायण के श्लोक के प्रमाण से सिद्ध होता है कि श्रीविभीषण सूरि को रावण ने कुलपांसन कहा है। और श्रीविभीषणसूरिजी ने जब श्रीरामजी की शरणागति कर ली है तब श्रीरामजी ने श्रीविभीषणसूरि को राक्षस जाति के नहीं समझ अपने भाई के समान समझ कर बात कही है कि—

आख्याहि मम तत्वेन राक्षसानां बलाबलम् ॥

वाल्मीकिरा० युद्ध कांड ६ सर्ग० १६ श्लोक ७॥

राक्षसों के बल और अबल को मुझे यथार्थ रीति से कहो ॥७॥ और भी कहा है कि—

अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सहात्मजम् ।

राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतच्छृणोतु मे ॥१६॥

मैं लड़कों के सहित और प्रहस्त के सहित रावण को मारकर तुमको राजा बनाऊँगा, यह मेरा वाक्य सत्य है इसको सुनो ॥१६॥ इससे कहा है कि —रावण ने श्रीविभषणसूरि को कुल का कलंक कहा है और स्वामी श्रीरामजी ने इक्ष्वाकुवंशवाला समझकर बात कही है ॥२४३॥

अब जगद्गुरु जी यह कहते हैं कि श्रीरामजी ने केवल कथनमात्र से नहीं बल्कि श्रीजटापु महाराज के ब्रह्ममेध संस्कार को भागवत वैभव को प्रकाश करने के लिये किया है।

महाराजस्य स्वामी ब्रह्ममेधसंस्कारमकरोत् ॥२४४॥

अर्थ (स्वामी) स्वामी श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी के पास में खड़े रहने पर भी पुत्र या शिष्य के करने योग्य (महाराजस्य) महाराज श्री जटायु के (ब्रह्ममेधसंस्कारम्) अन्तिम ब्रह्ममेध संस्कार को अपने से (अकरोत्) किया है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि श्रीरामजी ने जटायु का ब्रह्ममेध संस्कार किया है? इस प्रश्न का उत्तर वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्। गृधराज महासत्व संस्कृतश्च मया व्रज॥ वाल्मीकिरा० अरण्य कांड ३ सर्ग ६८ श्लोक ३०॥ एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम्। ददाहरामोधर्मात्मा स्वबन्धुमिवदुःखितः ।३१। रामोऽपिसहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान्। स्थूलान्हत्वा महारोहीननुतस्तारतं द्विजम् ।३२॥ रोहिमांसानिचोद्धृत्य पेशीकृत्वा महायशाः। शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले॥ ३३॥ यत्तत्प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः तत्स्वर्गगमनं क्षिप्रं तस्य रामो जजापह। ३४॥ ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ उदकं चक्रतुस्तस्मै गृधराजायतावुभौ ॥२५॥

हे महासत्य गृध्रराज हमारे से सम्यक् अनुज्ञात और हमारे से अन्तिम सस्कार से संस्कृत हो तुम श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करो॥३०॥ ऐसा कहकर जलती हुई चिता में गृधराज श्रीजटायु को रखकर धर्मात्मा श्रीरामजी ने दुःखित होकर अपने पिता के समान श्रीजटायु के शरीर को भस्म किया॥३१॥ इसके बाद श्रीलक्ष्मणजी के साथ पराक्रमवाले श्रीरामजी ने वन में जाकर महारोहि वृक्ष के मोटे मोटे फलों को मार-कर उस गृधराज को आच्छादित किया ॥३२॥ इसके बाद महायशस्वी श्रीरामजी ने रोहि फल के गूदे को निकाल कर और पीसकर सुन्दर हरी घास के ऊपर श्रीजटायु के लिये दिया॥३३॥ मनुष्य प्रेत के स्वर्ग जाने के लिये जिस मंत्र को द्विजाति लोग कहते हैं श्रीरामजी ने भी शीघ्र ही उस मंत्र को कहा। ३४॥ इसके बाद वे दोनों श्री दशरथ जी के पुत्र श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मण जी ने गोदावरी नदी में जाकर उस गृध्रराज जटायु महाराज के लिये जल दिया॥३५॥ इस प्रकार के श्रीरामजी करके श्रीजटायु का ब्रह्ममेध संस्कार साबित होने पर तो यह प्रश्न होता है कि वेदों में मरे पितरों का श्राद्ध कर्म नहीं लिखा हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिन लोगों ने वेदाध्ययन नहीं किया है वे जो चाहें सो कह दें। परन्तु जिन्होंने वेदाध्ययन किया है वे लोग जानते हैं कि वेदों में मृतक पितरों के श्राद्ध के विषय में बहुत से मंत्र हैं। उन्हीं में से कुछ मंत्रों को यहाँ पर मैं लिखता हूँ। कृपया सज्जन लोग अवलोकन करें।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहि रे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणोहवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ यजु० अ० १९ मं० ५१॥

जो सोमसंपादक वसिष्ठवंशी हमारे पूर्व पितरों ने सोमपान को देवगणों को बुलाया सोम की इच्छावाले यमराज उन सोम की इच्छा वाले पितरों सहित प्रसन्न होते इच्छानुसार हमारी दी हुई हविष्यों को खा लो ॥५१॥

वर्हिषदःपितर ऊत्यार्वागिमावो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आगतावसा शन्तमेन नाथानः शंयोररपो दधात ॥ यजु० अ० १९ मं० ५५॥

कुशा पर बैठनेवाले हे पितरों तुम रक्षा के लिये समीप आओ। तुम्हारी यह हवि हमने संस्कार किया है। इसको तुम सेवन करो। फिर बड़े सुखदाता अन्न से तृप्त होकर हम में सुख भय का पृथक् करना पाप का अभाव स्थापन करो ॥५५॥

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन्यज्ञे स्वधयामदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्। यजु० अ० १९ मं० ५८॥

सोम के योग्य अग्नि द्वारा स्वादित हमारे पितर देवताओं के गमन योग्य मार्गों से आवें। इस यज्ञ में स्वधा अन्न से प्रसन्न होते मानसिक उपदेश दें। वे हमारी रक्षा करें ॥५८॥

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधयामादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथा वशन्तन्वङ्कल्पयामि ॥ यजु० अ० १९ मं० ६०॥

जो पितर अग्नि में जलाये गये हैं और जो पितर अग्नि में नहीं जलाये गये हैं और द्युलोक के मध्य में स्वधा के अन्न से प्रसन्न रहते हैं राजा यम उन पितरों के निमित्त इच्छानुसार इस मनुष्य सम्बन्धवाले प्राणयुक्त शरीर को देता है ॥६०॥

आच्यावानुदक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे। मार्हिं सिष्ठ पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषताकराम ॥ यजु० अ० १९ मं० ६२॥

हे पितरों तुम सब वाम जाँघ को सब प्रकार झुकाकर दक्षिण को मुख कर बैठकर इस यज्ञ को अभिनन्दन करो। किसी तरह का अपराध होने से हम पर क्रोध मत करो। कारण कि चंचल चित्त होने से तुम्हारा अपराध हम भूल से कर जाते हैं ॥६२॥

आसीनासोअरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्तदाशुषे मर्त्याय । पुत्रेभ्यः पितर स्तस्यंवस्वः प्रयच्छत त इहोर्जन्दधात ॥ यजु० अ० १९ मं० ६३ ॥

हे पितरों सूर्य की किरणों की गोद में बैठे हुये तुम हवि के दाता मनुष्य के लिये धन को धारण करो, उसके पुत्रों के लिये धन को धारण करो उसके पुत्रों के लिये धन को दो वह तुम इस यज्ञ में रस को स्थापन करो ॥६३॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तुमाः पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ यजु० अ० १९ मं० ३७ ॥

सोमके योग्य पितर पूर्णायु के दाता पवित्रा से मुझको शुद्ध करो पितामह मुझको पवित्र करो प्रपितामह पवित्र करो पितामह पूर्ण आयु के दाता पवित्रता से मुझको शुद्ध पवित्र करो पूर्णआयु को प्राप्त करो ॥३६॥ और भी लिखा है कि —येचजीवायेचमृताये जाताये च यज्ञियाः । तेभ्योघृतस्य कुल्यै तुमधुधाराव्युन्दती ॥ अथर्व कां० १८ अ० ४ मं० ५७॥ और जो जीवित हैं और जो मर गये, जो जन्मे हैं और जो यज्ञ के करानेवाले हैं उन सबके निमित्त घो की टपकती मधुरधारा की नदी प्राप्त हो ॥५७॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येनाते पूर्वे पितरः परेताः । उभाराजानौ स्वधयामदन्तौ यमं पश्यसि वरुणं च देवम् ॥ अथर्व० कां० १८ अ० १ मं० ५४ ॥ जिस रास्ते से तेरे पूर्व पितर मर कर गये हैं, उस यमनिर्मित शरीर यान रूप, मार्गों से जाओ वहाँ स्वधा के अन्न से प्रसन्न होते दोनों प्रकाशमान राजा देव यमराज को और वरुण को देखोगे ॥५४॥ ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः । सर्वां स्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ अथव० कां० १८ अ० २ मं० ३४॥ ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधयामादयन्ते । त्वं तान्वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥३५॥ जो गाड़े गये जो वन में छोड़ दिये गये जो जला दिये गये और जो स्वर्ग को गये, हे अग्नि देव उन सबको हविष्य भोजन करने के लिये पितृ-कर्म में बुलाओ ॥३४ जो अग्नि में दग्ध हुए हैं जो अग्नि में दग्ध नहीं हुए हैं, द्युलोक के मध्य में स्वधा अन्न से प्रसन्न हैं, हे अग्निदेव तू जो तीनों को जानते हो वे तेरे द्वारा स्वधा से पितृसम्बन्धी यज्ञ को सेवन करें ॥३५॥

येनः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् । य आक्षियन्ति पृथिवीमुतद्यांतेभ्यः पितृभ्योनमसा विधेम ॥ अथर्व० कां० १८ अ० २ मं० ४६ ॥ जो हमारे पिता के पितर हैं, जो हमरे पितामह हैं जो बड़े पितृ लोक में प्रवेश कर गये हैं जो पृथ्वी को और द्युलोक को व्याप्त कर रहे हैं उन पितरों के लिये नमस्कार विधान करते हैं । ४६॥ यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ अथर्व० कां० १८ अ० ३ मं० १ जो मनुष्यों में पहले मरा है इस लोक को पहले ले जाता है इस सुख के लिये जनों के संगमन करनेवाले सूर्य पुत्र यमराज को हविष्य से सत्कार किया जाता है ॥ १ ॥ अपूपपिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् । ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्च्युताः ॥ अथर्व० कां० १० अ० ३मं० ६ ८ ॥ हे प्रेत तेरे लिये पूओं से अच्छादित जिन घो, मधु आदि से पूर्ण घड़ों को देवता ने तेरे भोग के लिये धारण किया वे घड़े स्वधा अन्नवाले मधु से युक्त घी के टपकानेवाले तेरे निमित्त हों ॥६८॥ यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः । तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्तेयमो राजानुमन्यताम् ॥ अथर्व० कां० १८ अ० ३ मं० ६६॥ आरभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तुते । शरीरमस्य संदहाथैनं धेहि-सुकृतामु लोके ॥७१॥

हे प्रेत तिल मिला हुआ स्वधायुक्त जो अन्न तेरे लिये छोड़ता हूँ वे अधिकता से युक्त तथा प्रभाव युक्त तेरे लिये हो, उन्हें तेरे निमित्त यमराजा स्वीकार करें ॥६६॥ हे अग्निदेव ! प्रारम्भ कर, तेरी ज्वाला तेजस्वी हो, इस जीव के शरीर को भस्म करो और इसको पुण्यात्माओं के ही लोक में धारण करो ॥७१॥ येतेपूर्वे परागता अरे पितरश्चये । तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतुशतधारा व्युन्दती ॥ अथर्व० १८ अ० ३ मं० ७२॥ हे जीव जो तेरे पहले के पितर और अन्य बान्धवादि जो मर गये हैं उनके लिये घो की नदी टपकती हुई सौ धाराएँ प्राप्त हों ॥७२॥ और भी लिखा है कि— यौते श्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ । ताभ्यामेनं परिधेहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवंच धेहि ॥ ऋ० मं० १० अ० १ सू० १५ मं० ११ ॥ हे यमराज जो दो तेरे कुत्ते तुम्हारे घर

की रक्षा करनेवाले चार नेत्रवाले तुम्हारे मार्ग के रक्षक मनुष्यों से ख्याति पाये हुए हैं, हे यमराज उन दोनों कुत्तों से इस प्रेत की रक्षा में नियुक्त कीजिये और उसके लिये आरोग्यता को तथा कल्याण को धारण करो ॥११॥ वैवस्तंसंगमनं जनानां यमं राजान हविषा दुवस्य ॥ ऋ० मं० १० अ० १ सू० १४ मंत्र १ ॥ प्राणी मात्र के गन्तव्य स्थान भूत सूर्य के पुत्र यमराज को हविष्य से परिचरण कर ॥१॥ यमग्ने कव्यवाहन त्वञ्चिन्मन्यसेरयिम् । तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यंदेवत्रापनयायुजम् ॥ यजु० अ० १९ मं०६४ ॥ यो अग्निःकव्यवाहनः पितृन्यक्षदृतावृधः । प्रेदु हव्याच निवोचतिदेवेभ्यश्च पितृभ्यआ ॥६५॥ त्वमग्न ईडितः कव्यवाहना वाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी । प्रादाः पितृभ्यः स्वधयाते अक्षन्नद्धित्वन्देव प्रयताहवींषि ॥६६॥ पितरों के अन्न प्राप्त करनेवाले हे अग्निदेव तुम भी जिस हविरूप धन को उत्तम जानते हो हमारे उन वचनों से श्रवण योग्य हविरूप धनको देवताओं के मध्य सब ओर से दो ॥६४॥ जिस पितरों के अन्न प्राप्त करनेवाले अग्निदेव ने सत्य या यज्ञ के लिये वृद्धि देनेवाले पितरों को यजन किया वही अग्नि देवता और पितरों के लिये हविष्यों को सब ओर से बतलाता है ॥६५॥ हे पितरों के लिये अन्न प्राप्त करनेवाले अग्निदेव ऋत्विजों से स्तुति किये तुम हविष्यों को सुगन्धि युक्त करके वहन करते हो स्वधा के द्वारा पितरों के लिये तू ने दिया है और उन पितरों ने भक्षण किया है। हे अग्निदेव तुम भी शुद्ध हविष्यों को भक्षण करो ॥६६॥ इदंपितृभ्योनमोऽस्त्वद्य ये पूर्वासो उपरासईयुः । ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वानूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ यजु० अ० १९ मं ६८ ॥ अध्यायथानः पितरः परासः प्रत्नासो अग्नऋतमाशुषाणाः । शुचीदयन्दीधिति मुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥६९॥ उशन्तस्त्वानिधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितृन्हविषे अत्तवे ॥७०॥ अब यह अन्न पितरों के लिये हो जो पूर्व ऋषि हैं जो कृतकृत्यईश्वरको प्राप्त हुए जो पृथ्वी की धूलि में विराजमान हैं अथवा जो निश्चय करके धर्मरूप बल से युक्त मनुष्य लोक में देह धारण करके वर्त्तमान हैं ॥६८॥ हे अग्निदेव ! हमारे उत्कृष्ट सनातन यज्ञ को प्राप्त करनेवाले पितरों ने जैसे अधोलोक से पवित्र

सूर्यमण्डल को ही प्राप्त किया उसी प्रकार उक्थशास नाम के स्तोत्रों को पढ़ते हैं। वेदी आदि खोदने से भूमि को भेदते हम सूर्य ज्योति को प्राप्त होवें ॥६९॥ हे अग्निदेव कामार्थी हम तुमको स्थापन करते हैं, कामार्थी हम तुमको प्रज्वलित करते हैं। हविष्य चाहनेवाले पितरों को हविष्य भक्षण करने के लिये लाओ ॥७॥ यमाय सोमः पवते यमायक्रियते हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ अथर्व० कां० १८ अ० २ मं० १॥ यम के लिये सोमलतापवित्र की जाती है और यम के वास्ते हविष्य किया जाता है तथा मंत्र द्वारा अलंकृत अग्निदूत यज्ञ से यमराज के प्रति हविष्य को ले जाते हैं॥ अथ पुरस्तादुल्मुकं निदधाति सयदनिधायोल्मुक मथै तत्पितृभ्यो दद्यात् असुर रक्षसानिह्यैषामेतद्विमथीरंस्तथोहैतत्पितृणामसुर रक्षसानि न विमथ्नते तस्मात्पुरस्तादुल्मुकं निदधाति ॥२।४ २।१४ शतप०॥ पितरों के पिण्डदान करने की वेदी के आगे जलता हुआ लुआठ धरे। यदि जलता लुआठ न धरकर पितरों के लिये पिण्डदान दे तो असुर राक्षस इनके भाग को गड़बड़ कर देते हैं। इसलिये जलता हुआ लुआठ वहाँ पर आगे धर दे ॥१४॥ और पाणिनि महर्षि ने कहा है कि — श्राद्धे शरदः॥ व्याक० ४ पा० ३ सू० १२॥ श्राद्ध में शरद् से ढञ् प्रत्यय होता है, जैसे उदाहरण 'शारदिकं श्राद्धम्'। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट मरे हुए पितरों का श्राद्ध सिद्ध होने पर तो जिनके हृदय में कुछ भी वेद का गौरव नहीं है वे हुज्जती-लोग कहते हैं कि यदि दलीलों से मरे पितरों का श्राद्ध साबित कर दीजिये तो हम सब उसको मान जायेंगे। पहला प्रश्नपिण्डा तो जैसे के तैसे रह जाता है तो कैसे माना जाय कि पितरों ने उसको ग्रहण किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे मधुमक्खियाँ और भ्रमर प्रति फूल से रस को लेकर मधु तैयार करते हैं तो भी जिस फूल पर वे बैठते हैं वे फूल जैसे के तैसे बने रहते हैं। वैसे ही वेद से मालूम होता है कि अदृश्य-रूप से वहाँ पर पितर लोग आते हैं और पिण्डा के रस को ग्रहण करते हैं तो भी पिण्डा जैसे के तैसा बना रहता है। इस प्रकार से पहले प्रश्न का उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि आप लोग सबके लिये हविष्य के पिण्डा बना कर देते हैं, तो यदि पितर बाघ सिंह या बिच्छू

हुये हों तो उनकी संतुष्टि कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो जहाँ पर रहता उसी राज्य के रुपया को यदि अन्य राज्य में भेजना होता है तो भेजता है। तो भी जिसके पास भेजा जाता है वह जिस राज्य में रहता है उस राज्य के उतने द्रव्य का रूपया उसको मिलता है, जैसे-तैसे हो जिस योनि में पितर जन्म लिये रहते हैं उस योनि का खाद्य पदार्थ जितना दिया जाता है उतना का तैयार होकर मिलता है और उसी से संतुष्टि होती है। इस प्रकार के दूसरे प्रश्न का उत्तर होने पर तो तीसरा प्रश्न होता है कि क्या कोई तार के द्वारा दूत वहाँ पहुँचानेवाला है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आज कल सब लोग यह जानते हैं कि बिना तार के भी खबर प्रयागादिक के किला में जो स्तंभयंत्र है उससे मालूम होता है। परन्तु यदि आप लोगों का तार ही में आग्रह है तो सुनिये सूर्य भगवान् की जो किरण है वही तार है। इसीसे दिन ही में श्राद्ध किया जाता है और पृथ्वी लेटरबक्स है तथा अग्नि दूत है जो कि सर्वदा साथ रहता है वही अग्निदूत पितरों के पास पहुँचाता है। इस प्रकार तीसरे प्रश्न का उत्तर होने पर तो चौथा प्रश्न होता है कि जो कुछ दिया जाता है वह तो यहाँ ही रह जाता है तो कैसे माना जाय कि पितरों को मिलता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है— पोस्ट आफिस में जाकर आप जाँच कर लीजिये जो रुपया मनिआर्डर किया जाता है वह वहाँ ही रह जाता है। तो भी जिसके पास पूरा ठीक-ठीक पता से भेजा जाता है उसको मिल जाता है। वैसे ही यद्यपि जो दिया जाता है वह यहाँ ही रह जाता है। तो भी वेदोक्त विधि से जो कुछ पितरों के लिये दिया जाता है वह अवश्य पितरों को मिलता है। इससे वैदिक मतवालों को मरे पितरों का ब्रह्ममेध संस्कार जरूर करना चाहिये। ग्रन्थ विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूँ। जिसको अधिक जानना हो वह मेरा बनाया हुआ जो "वैदिक श्राद्ध दर्पण" नामक ग्रन्थ है उसको देख लें। इसीसे कहते हैं कि--महाराज श्रीजटायु के स्वामी श्री रामजी ने ब्रह्ममेध संस्कार किया है ॥२४४॥

अब श्रीवचनभूषणकार भागवतवैभव के विषय में युधिष्ठिर के अनुष्ठान को कहते हैं कि—

धर्मपुत्रोऽशरीरिवाक्यं ज्ञानाधिक्यंचादाय श्रीविदुरं ब्रह्ममेधेन संचस्कार ॥२४५॥

अर्थ — (धर्मपुत्रः) धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने (अशरीरिवाक्यम्) आकाशवाणी को (च) और (ज्ञानाधिक्यम्) ज्ञान की अधिकता को (आदाय) लेकर (श्रीविदुरम्) श्रीविदुर को (ब्रह्ममेधेन) अन्तिम ब्रह्ममेध से (संचस्कार) संस्कार किया है। अब यहाँ पर पहला प्रश्न यह होता है कि कहाँ पर लिखा है कि धर्म से युधिष्ठिर उत्पन्न हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में लिखा है कि— धर्माद्युधिष्ठिरो यज्ञे ॥ महाभा० आदिप० १ अ० ६३ श्लोक ११६ ॥ धर्म से युधिष्ठिर उत्पन्न हुए ॥११६॥ इस प्रकार के पहले प्रश्न के उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि आकाशवाणी को सुनकर युधिष्ठिर ने ब्रह्ममेध संस्कार किया है? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में लिखा है कि— धर्मराजश्च तत्रैव सचस्कारयिषुस्तदा। दग्धुकामोऽभवद्विद्वानथाकाशे वचोऽब्रवीत् ॥ महाभा० आश्रमवासिकपं० १५ अ० २६ श्लोक ३१ ॥ भो राजन्नदग्धव्यमेतद्विदुरसंज्ञकम्। कलेवरमिहैवंते धर्म एष सनातनः ॥३२॥ लोकाः सान्तानिकामभविष्यन्त्यस्य भारत। यत्तिधर्मम वाप्तोऽसौ नैष शोच्यः परन्तप ॥३३॥

विद्वान धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने तब वहाँ पर विदुरजी के अन्तिम संस्कार करने की इच्छा से उनके देह को भस्म करने की इच्छा की। उसी समय में आकाशवाणी हुई ॥३१॥ राजन! विदुरनामवाला इस शरीर को इस प्रकार के सर्वसाधारण के समान मत भस्म करो यह सनातनधर्म है ॥३२॥ हे भारत युधिष्ठिर इस विदुर को जन्ममरण वाले लोक नहीं प्राप्त होंगे क्योंकि यह विदुर संन्यासी के धर्म को प्राप्त हुआ है, हे परन्तप यह शोक करने के योग्य नहीं है ॥३३॥ यह संन्यासी के समान ब्रह्ममेध संस्कार करने योग्य है ऐसी वाणी को सुन कर संदेह रहित युधिष्ठिर ने ब्रह्ममेध संस्कार किया है। इसी से कहा है कि— धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने अशरीरि वाक्य को और ज्ञानाधिक्य को भी लेकर श्रीविदुरजी को ब्रह्ममेध से संस्कार किया है ॥२४५॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि जन्मादियों से उत्कृष्ट ऋषि लोगों ने जन्मादियों से निकृष्ट धर्मव्याध की सन्निधि में धर्म श्रवण किया है।

ऋषयो गत्वा धर्मव्याधगृहद्वारे श्रान्ता धर्मसन्देहान् प्राशमयन्त ॥२४६॥

अर्थ—(ऋषयः) मंत्रद्रष्टा सर्वोत्कृष्ट ऋषि लोग (धर्मव्याधागृहद्वारे) वेद सुनने की योग्यता जिसको नहीं है ऐसा जन्मवाला जो धर्मव्याध है उसके घरके द्वार पर (गत्वा) जाकर (श्रान्ताः) श्रान्त हो (धर्मसन्देहान्) अपने धर्मों में सन्देहोंको प्राशमयन्त) पूछके निवृत्त कर लिये हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि ऋषियों ने धर्मव्याध के द्वार पर अपने धर्म के सदेहों को पूछ कर निवृत्त कर लिया है ? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में लिखा है कि— कश्चिद्द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः। तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥ महाभा० वनपर्व अ० २०६ श्लोक १ ॥ सांगोपनिषदोवेदानधीते द्विजसत्तमः। सः वृक्षमूले कस्मिंश्चिद्वेदानुच्चारयन् स्थितः ॥२॥ उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका सन्यलीयत। तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्यतदोपरि ॥३॥ तामवेक्ष्यततः क्रुद्धः समपध्यायतद्विजः। भृशंक्रोधाभिभूतेनबलाका सा निरीक्षिता ॥४॥ अपध्याता च विप्रेण न्यपतद्धरणितले ॥५॥ कोई ब्राह्मणों में श्रेष्ठ वेद पढ़नेवाले तपोधन सपस्वी धर्मशील कौशिक नाम का ब्राह्मण ॥१॥ अंग और उपनिषदों के साथ वेदों को पढ़ते रहे कि वह ब्राह्मण किसी एक पेड़ के मूल वेदों को उच्चारण करते हुए ठहर गये ॥२॥ उस पेड़ पर एक बकुली चिड़िया छिपी थी। उस बकुली ने ब्राह्मण के ऊपर मल त्याग कर दिया ॥३॥ इसके बाद उस ब्राह्मण ने वेद पाठको छोड़ कर उस पक्षी को अत्यन्त क्रोध से देखा ॥४॥ और उसकी बुराई चिन्तन किया कि वह पक्षी पृथ्वी पर मरकर गिर गया ॥५॥ उसको मरा हुआ देख कर पीछे से तापयुक्त वह ब्राह्मण रोष और राग के बल से मैंने नहीं करने योग्य इस हिंसा को किया ऐसा बारम्बार सोचता हुआ समीपस्थ एक गाँव में भिक्षा के लिये गया। और पहले एक घर में जाकर भिक्षा दो ऐसी याचना की कि उस घर की स्त्री ने कहा कि ठहरो भिक्षा लाती हूँ। ऐसा कहकर जब तक वह पात्र धोती है तब तक भूखा हुआ उसका पति आ गया। उसनेपतिव्रता होने से भिक्षा लाना छोड़कर पाद्य आचमनीय आसन और मीठा मीठा सुन्दर भोजन आदिक पति की शुश्रूषा में आसक्त होकर बहुत समय बिताया। इसके बाद वह ब्राह्मण को देख कर कंपित हो भिक्षा लाई। तब ब्राह्मण ने कहा कि हमको खड़ा कर इतनी देर तक तू भीतर क्यों रह गयी। ऐसी बात को सुनकर

उस स्त्री ने कहा कि इस अपराध को क्षमा कीजिये। मैं पति को देवता समझनेवाली हूँ। इससे भूखे पति की सेवा में इतनी देर होगयी है। इस बात को सुन कर फिर से ब्राह्मण ने कहा है कि गृहस्थ धर्म में रहती हुई तुम ब्राह्मणों को अपमान करती हो। बड़ों से यह नहीं जानती हो कि अग्नि के समान ब्राह्मण पृथ्वी को भी भस्म कर सकते हैं। इस बात को सुनकर उस स्त्री ने कहाकि हमारेअपराध को क्षमा कीजिये। मैं ब्राह्मणों के प्रभाव को जानती हूँ कि अपेयसमुद्र पिया गया और लवणादिक किया गया तथावतापि दुष्ट पेट में पच गया और पति की शुश्रुषा से यह भी मैं जानती हूँ कि **बलाका हि त्वया दग्धा रोषात्तद्विदितं मया क्रोध शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ॥ महाभा० अ० २०६ वनप० श्लोक ३२ ॥ यः क्रोधमोहौत्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः। यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ॥३॥ हिंसितञ्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३४॥** जो तुम्हारी क्रोध दृष्टि से बकुली चिड़िया भस्म हो गयी है वह मैं जानती हूँ। हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ मनुष्यों का क्रोध ही शरीर के भीतर रहनेवाला शत्रु है ॥३२॥ जो मनुष्य क्रोध और मोह को छोड़ता है उसको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं और जो मनुष्य सच्चा बोलता है तथा गुरु को संतुष्ट रखता है ॥३३॥ और मारने पर भी नहीं मारता है उसको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥३४॥ इस प्रकार से विस्तारपूर्वक कह कर उसने कहा है कि-**भवनापि च धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥ महाभा० वनप० अ० २०६ श्लोक ॥४२॥ न तु तत्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः। यदि विप्र न जानीसे धर्मं परमकं द्विज ॥४३॥ धर्मव्याधं ततःपृच्छ गत्वातु मिथिलां पुरीम्। मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥४४॥ मिथिलायां वसेद्व्याधः स ते धर्मान्प्रवक्ष्यति। तत्र गच्छस्व भद्रं ते तथाकामं द्विजोत्तम ॥४५॥** आप भी धर्म को जाननेवाले हैं तथा वेदाध्ययन में आसक्त और पवित्र है ॥४२॥ परन्तु

हे भगवन् धर्मो को यथार्थ रीति से आप नहीं जानते हैं ऐसा मैं समझती हूँ, हे ब्राह्मण यदि श्रेष्ठ धर्म को तुम नहीं जानते हो ॥४३॥ तो मिथिलापुरी में जाकर माँ बाप की सेवा में तत्पर, सच्चा बोलने वाले जितेन्द्रिय, धर्मव्याध से पूछ लो ॥४५॥ मिथिला में वह व्याध रहता है, वही तुम्हें धर्मोपदेश करेगा, वहाँ पर तुम जाओ, हे ब्राह्मण तेरा मंगल होगा ॥४५॥ ऐसी पतिव्रता के वाक्य को सुनकर वह कौशिक ब्राह्मण मिथिलापुरी में धर्मव्याध के पास गया और पूछा कि— **कर्मैतद्धि न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे। अनुतप्येभृशं तात तव घोरेणकर्मणा ॥ महाभा० वनप० अ० २०७ श्लोक १६ ॥** हे धर्मव्याध यह मांस बेचना रूप कर्म आपके योग्य नहीं है, ऐसा मुझको मालूम होता है और आपके घोर कर्म से मैं अत्यन्त दुखी हूँ ॥१६॥ इस बात को सुनकर धर्मव्याध ने कहा कि—

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम्।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वेमन्युं मा कृथा द्विज ॥२०॥

हे ब्राह्मण पिता और पितामह से किया हुआ यह मेरा कर्म कुलोचित है इससे इस विषय में आप ताप मत कीजिये ॥२०॥ यहाँ का राजा जनक है, जो कि दुष्ट आचरणवाले अपने पुत्र को भी दण्ड देते हैं, इससे यहाँ पर कोई भी दुराचारी नहीं है, इस बात को सुनकर उस ब्राह्मण ने पूछा कि—

पंचकानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा। एतन्महामते व्याध प्रब्रवीहियथातथम् ॥ महाभा० वनप० अ० २०७ श्लोक ६१

हे महामते धर्मव्याध शिष्टाचारों में सर्वदा पाँच पवित्र कहे गये हैं, उसका यथार्थ आप कहिये ? ॥६१॥ इस प्रश्न को सुनकर धर्मव्याध ने उत्तर दिया कि— **यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम। पचैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥६२॥** हे ब्राह्मण, श्रेष्ठ यज्ञ दान, तपस्या वेद और सत्य ये पाँच शिष्टाचारों में नित्य ही पवित्र

हैं ॥६२॥ इस प्रकार के बहुत उपदेश देने पर फिर से उस ब्राह्मण ने पूछा कि— कथं कर्मविदां श्रेष्ठ जीवोभवति शाश्वतः । एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्वेन वदतांवर ॥ महाभा० वनप० अ० २०९श्लोक २५॥ हे कर्म वेत्ताओं में श्रेष्ठ ! जीव नित्य कैसे होता है, हे कहनेवालों में श्रेष्ठ इसको जानना मैं चाहता हूँ ? ॥२५॥ इस प्रश्न को सुनकर धर्मव्याध ने उत्तर दिया है कि— न जीवनाशोऽस्तिहि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियती तिमूढाः । जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्यशरीरभेदः ॥२६॥ अन्योहि नाश्नाति कृतं हि कर्म मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चिद् । यत्तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्यनाशः ॥२७॥ देह के नाश होने से जीव का नाश नहीं होता है, जीव मरता है ऐसा झूठ मूढ़ लोग कहते हैं, जीव दूसरे शरीरके भीतर जाता है इसका शरीर भेद ही पंचत्व है ॥२६॥ मनुष्य लोक में दूसरे मनुष्य का किया कर्म दूसरा नहीं भोगता है, जो कर्म करता है निश्चय वही भोगता है, किये हुए कर्म का नाश नहीं होता है ॥२७॥ ऐसा उत्तर पाने पर फिर से वह ब्राह्मण पूछता है कि— कथं संभवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः । जाती पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छसि सत्तम ॥२९॥ हे धर्मव्याध ! योनि में जीव कैसे उत्पन्न होता है, तथा पुण्य कैसे होता है और पवित्र या अपवित्र जाति कैसे प्राप्त होती है ॥२९॥ इस प्रश्न को सुनकर धर्मव्याध ने उत्तर दिया है कि— गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेद सप्रदृश्यते । समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥३०॥ हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! गर्भाधान से युक्त यह कर्म देखा जाता है, संक्षेप में आपके प्रश्नों का उत्तर कहता हूँ ॥३॥ शुभ कर्म करने से पवित्र योनि में और बुरा कर्म करने से अपवित्र योनि में जीव उत्पन्न होता है, इसमें कारण कर्म ही है और हे ब्राह्मण इन्द्रियों के निरोध से सत्य से और दमन से ब्रह्म का स्थान प्राप्त होता है, इस प्रकार बहुत प्रश्न और उत्तर होने पर उस ब्राह्मण ने कहा है कि – ब्रवीषि सुनृतं धर्मं यस्यवक्ता न विद्यते । दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेवमतोऽसिमे ॥ महाभा० वनप० अ० २१० श्लोक १३ ॥ तुम प्रिय धर्म युक्त वचन कहते हो जिसका कहनेवाला कोई नहीं है, इससे दिव्य प्रभाववाला मन्त्रद्रष्टा तुम हो ऐसा मेरा मत है

॥१३॥ और भी उस ब्राह्मण ने कहा है कि यदेतदुक्तं भवतासर्वं सत्यमसंशयम् ॥ महाभा० वनप० अ० २१५ श्लो० ११ आपने जो धर्म के विषय में कहा सो सत्य है इसमें सन्देह नहीं है ॥११॥ और भी ऋषि लोगों ने इसी प्रकार से धर्मव्याध के द्वार पर जाकर धर्म के सन्देहों को दूर किया है। इसी से कहा है कि– ऋषि लोगों ने धर्मव्याध के घर के द्वार पर जाकर श्रान्त हो धर्म के सन्देहों को दूर किया है ॥२४६॥

अब जगदाचार्यजी भागवत के वैभव प्रकाश करने के लिये श्रीकृष्ण भगवान् के आचार को कहते हैं कि—

श्रीकृष्णो भीष्मद्रोणादीन् विहाय विदुरगृहे भुक्तवान्

॥२४७॥

अर्थ – (श्रीकृष्णः) जो श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने ही कहा है कि यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ भगवद्गी० अ० ३ श्लोक २१ ॥ श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उसके ही अनुसार वर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण करता है लोग भी उसके अनुसार वर्तते हैं ॥२१॥ और भी कहा है— धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ भगवद्गी० अ० ४ श्लोक ८ ॥ धर्म को अच्छी तरह से स्थापना के लिये युग युग में मैं प्रकट होता हूँ ॥८॥ ऐसे कहनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् जब समझाने के लिये हस्तिनापुर में गये हैं तब (भीष्मद्रोणादीन्) उत्कृष्ट वर्ण और आचारवाले भीष्माचार्य तथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और दुर्योधनादि को (विहाय) छोड़कर (विदुरगृहे) विदुर के घर में (भुक्तवान्) भोजन किया है। तब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि श्रीविदुर के घर में श्रीकृष्ण भगवान् ने भोजन किया है ? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में लिखा है कि— **निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामनाः। निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः ॥ महाभा० उद्योगप० अ० ९१ श्लोक ३४ ॥ तमभ्यगच्छद्द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथवाह्लिकः। कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहेस्थितम् ॥३५। त उचुर्माधवं**

वीरं कुरवो मधुसूदनम् । निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान्वयम् ।३६॥ तानुवाच महातेजाः कौरवान्मधुसूदनः । सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वमेऽपचितिः कृता ॥३७ या तेषु कुरुषु क्षत्ता दाशार्हमपराजितम् । अध्यर्चयामास सदा सर्वकामैः प्रयत्नवान् ॥३८। ततः क्षत ऽन्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च । उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥३९॥ तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान्मधुसूदनः । वेदविद्भ्यो ददौ कृष्ण परमद्रविणान्यपि ।४०॥ ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ॥ विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवंति च ॥४१। आजानु भुजावाले महामना श्री कृष्ण भगवान् दुर्योधन की सभा से बाहर निकल कर श्रीविदुर के मकान पर रहने के लिये चले गये ॥३४॥ श्रीविदुरके मकान में श्रीकृष्ण भगवान् के स्थित होने पर तो वहाँ पर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्मपितामह, बाहिलक और कौरव सब चारो तरफसे आये ॥३४॥ और दुष्टों के दलन करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् से कहा कि हे वार्ष्णेय ! रत्न जटित मकानों को हमसब आपके लिये निवेदन करते हैं ॥३६॥ इस बात को सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् ने उन कौरवों से कहा कि सब लोग जाइये क्योंकि यहाँ सबने हमारी पूजा की है ॥३७॥ इसके बाद कौरवों के चले जाने पर श्रीविदुरजी ने अपनी इच्छा के अनुसार अच्छे प्रकार से श्रीकृष्ण भगवान् की पूजा की ॥३८॥ और अनेक प्रकार के पवित्र और गुणवाले अन्न और जल को महात्मा श्रीकृष्ण भगवान् के लिये समर्पण किया ॥३९॥ तब श्रीकृष्ण भगवान् ने पहले उन पदार्थों से ब्राह्मणों को तृप्त करके वेदपाठियों के लिये धनों को दिया ॥४०॥ इसके बाद श्री कृष्ण भगवान् ने उनचास मरुतों के साथ इन्द्र के समान अपने अनुयायियों सहित पवित्र और गुणवाले श्रीविदुर के अन्नों को भोजन किया ॥४१॥ इसीसे कहा है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने भीष्म द्रोणादिकों को छोड़ कर श्रीविदुर के घर में भोजन किया है ॥२४७॥

अब श्रीवचनभूषणकार भागवत के वैभव को प्रकाश करने के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामजी के अनुष्ठान को कहते हैं कि —

स्वामी शबरीहस्तेन भुक्तवान् ॥२४८॥

अर्थ— (स्वामी) रघुकुल तिलक स्वामी श्रीरामजी ने (शबरी-हस्तेन) शबरी नामवाली भिल्लनी के हाथ से फलों को लेकर (भुक्तवान्) भोजन किया है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि शबरी के हाथ से भोजन किये हैं? इस प्रश्न का उत्तर वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि— सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः। शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ॥ वाल्मीकिरा० बालकां० १ सर्ग० १ श्लोक ५७ ॥ महातेजस्वी शत्रु विनाशकारी, शबरी के पास गये और शबरी से दशरथनन्दन श्री रामजी अच्छी तरह से पूजित हुए हैं और लिखा है कि—तौदृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थायकृताञ्जलिः। पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ वाल्मीकिरा० अरण्यकां० ३ स० ७४ श्लोक ६ ॥ पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ॥७॥ सिद्धा शबरी ने राम और लक्ष्मण को देखकर आश्रम से उठ हाथ जोड़ कर श्रीमान् श्रीरामजी के और लक्ष्मणजी के चरणों को ग्रहण किया ॥६॥ और विधि के अनुसार पाद्य और आचमनीय आदिक सब कुछ दिया ॥७॥ और कहा कि— मया तु सञ्चितं वन्यं विविध पुरुषर्षभ ॥१७॥ तवार्थे पुरुषव्याघ्र पंपायास्तीरसंभवम् ॥१८॥ हे पुरुष श्रेष्ठ श्रीरामजी मैंने अनेक प्रकार के जंगली फलों को इकट्ठा किया है ॥१७॥ हे पुरुष सिंह! यह पंपा के तीर पर होनेवाला फल आपके लिये रखा है ॥१८॥ इस प्रकार कहने पर श्रीरामजी ने उसक हाथ से फलों को ग्रहण किया है क्योंकि अपने ही श्रीरामजी ने कहा है कि— अर्चितोऽहंत्वयाभद्रे गच्छकाम यथासुखम् ॥ बाल्मीकिरा० अरण्यकां० ३ स० ७४ श्लोक ३१ ॥ हे कल्याणकारिणी! तुमने मेरा पूरा सत्कार कर दिया अब अपने इच्छित लोक को सुखपूर्वक चली जा ॥३१॥ इसीसे कहते हैं कि— स्वामी श्रीरामजी ने शबरी के हाथ से भोजन किया।

अब लोकाचार्यस्वामीजी भागवत के वैभव के विषय में पूर्वाचार्य के वचन को स्मरण कराते हैं कि—

मारनेरीनंबिविषयतया भाष्यकारं प्रति महापूर्णोक्त-वार्ता स्मर्तव्या ॥२४६॥

अर्थ (मारनेरीनंबिविषयतया) अभिमान हेतु जन्मवृत्तादि रहित श्रीयामुनाचार्य स्वामीजी के चरण समाश्रित अध्यात्मज्ञान परिपूर्ण मारनेरीनंबि नामवाले विलक्षण भागवत के विषय में (भाष्यकारम्) श्री भाष्यकार शेषावतार रामानुजाचार्य स्वामीजी के (प्रति) प्रति (महा-पूर्णोक्ता) यामुनाचार्य स्वामीजी के कृपापात्र महापूर्णाचार्य स्वामीजी को कही हुई (वार्ता) वार्ता (स्मर्तव्या) स्मरण करने योग्य है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि मारनेरानंबि के विषय में महापूर्णाचार्य स्वामीजी ने रामानुजाचार्य स्वामीजी से कौन सी वार्ता कही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यामुनाचार्य स्वामीजी के शिष्य मारनेरीनंबि महात्मा अपनी अन्तिम दशा में ऐसा विचार करते थे कि यामुनाचार्य स्वामीजी के अभिमत इस देह को प्राकृतबंधु स्पर्श करेंगे तो क्या किया जायेगा कि इतने ही में महापूर्ण स्वामीजी वहाँ पर चले आये। तब उनको देख कर मारनेरीनंबि महात्मा ने कहा कि पुरोडाश को कुत्ते के लिये नहो देना। ऐसा कहने पर तुरन्त ही परमपद को चले गये। तब महापूर्ण स्वामीजी ने उनके वचनानुसार अपने ही उनका अन्तिम ब्रह्ममेध संस्कार किया। तब इस बात को सुन कर रामानुजाचार्य स्वामीजी महापूर्ण स्वामीजी की सन्निधि में आये और हाथ जोड़कर बोले कि हे स्वामिन् मर्यादा की रक्षा करते हुए कार्य करना उचित नहीं है क्या ? विलक्षण का ब्रह्ममेध संस्कार करना आप ही को आवश्यक था क्या ? ऐसा पूछने पर महापूर्ण स्वामीजी ने कहा कि मजूरी देकर सन्ध्या करना उचित है क्या ? मैं श्रीरामजी से उत्कृष्ठ हूँ क्या ? यह मारनेरीनंबि भागवत पक्षी गृध्रराज जटायु से नीच है क्या ? 'अभ्यस्यमान प्रभावत्तेजः' और "व्यामोहवतः" ये श्री गीति के दो दशक समुद्र घोष हैं। क्या श्रीशठकोप सूरि के कहे हुए अर्थ को किंचित् न्यूनतया भी नहीं आचरण करना चाहिये क्या ? यही मारनेरीनंबि के विषय मैं महापूर्णाचार्य स्वामीजी की कही वार्ता स्मरण करने योग्य है ॥२४६॥

अब प्रबन्धकर्ता भागवत जन्मादियों की श्लाध्यता कथन पूर्वक अभागवतों की स्थिति को चित्रित करते हैं कि —

"प्रादुर्भावैः" रित्यादि ॥२५०॥

अर्थ— (प्रादुर्भावैः) प्रादुर्भावों से (इत्यादि) इत्यादिक। इस दो सौ पचासवें सूत्र में "प्रादुर्भावैः" यह पद श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले संपूर्ण श्लोक को लिख कर इसके अर्थ को लिखता हूँ कि—

प्रादुर्भावैः सुरनरसमो देव देवस्तदीया जात्यावृत्तैरपि च गुणतस्तादृशो नात्र गर्हा। किन्तु श्रीमद्भुवनभवन त्राणतोऽन्येषु विद्या वृत्त प्रायोभवति विधवाकल्पकल्पप्रकर्षः॥ देवदेव अवतारों से देवता और मनुष्य के समान होते हैं तो जैसा निन्दनीय नहीं तैसा भागवत लोग जाति आचार और गुणों से नीच जाति के सदृश होने पर भी निन्दनीय नहीं होते किन्तु समस्त संसार को उत्पत्ति पालन और संहार कर्ता में भक्ति रहित लोगों में ज्ञान और आचार विधवा स्त्री के भूषण समान गिने जाते हैं॥ इसीसे कहते हैं कि — प्रादुर्भावों से इत्यादिक ॥२५०॥

अब श्रीवचनभूषणकार भागवत न होने पर उनके वेद विद्यादिक व्यर्थ हैं, इस विषय में प्रमाण कहते हैं कि—

भागवततत्वरहितः केवलवेदार्थज्ञानादिमान् कुंकुमभारवहगर्दभवदिति वदति हि ॥२५१॥

अर्थ— (भागवततत्वरहितः) भागवत के तत्व से रहित और (केवल वेदार्थज्ञानादिमान्) केवल वेदों के अर्थ का ज्ञानवाला हो तो उसको (हि) निश्चय करके (कुंकुमभारवहगर्दभवत्) केसर के भार ढोनेवाले गदहे के समान (इति) ऐसा वेदव्यास महर्षि (वदति) कहते हैं। क्योंकि लिखा है कि— चतुर्वेदधरोविप्रो वासुदेवं न विन्दति। वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मण गर्दभः॥ महाभारत०॥ चारों वेदों को पढ़ कर जो ब्राह्मण वासुदेव भगवान को नहीं प्राप्त करता है वह वेदरूप बोझ को ढोने वाला ब्राह्मण निश्चय करके गदहा है॥ अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि भागवत के बाहरी लक्षण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर लिखा है कि चिह्नितं शखचक्राद्यैःश्वेतमृत्पिण्डधारिणम्। तुलसीनलि

लिनाक्षाणां दधानामालिकाद्वयम्। तेवै भागवताः प्रोक्ता नान्ये वेद विदांवराः ।। जिनके बाहुमूल शंख और चक्र से चिह्नित हैं और द्वादश सफेद मिटी के ऊर्ध्वपुंड्र धारणकिये हैं तथा गले में तुलसी की और कमल के बीज की दो मालाओं को धारण किये हैं उन्हीं को भागवत कहते हैं और अन्य जो वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ भी हो तो भागवत नहीं है ।। इसीसे कहते हैं कि-भागवत तत्व से रहित केवल वेदार्थज्ञानवाला केसर के भार ढोनेवाले गदहे के समान है, ऐसा निश्चय करके महाभारत कहता है ।।२५१।।

अब जगद्गुरुजी भगवत्संबन्धवाले तिर्यगादिक का जन्म सत्पुरुषों से प्रार्थनीय है, इस अर्थ को कहते हैं कि—

राजा श्रीकुलशेखरस्वामी तिर्यक्स्थावरजन्मानि आशास्त ।।२५२।।

अर्थ— (राजा) राजा (श्रीकुलशेखरस्वामी) श्रीकुलशेखरस्वामी ने (तिर्यक्स्थावरजन्मानि) पक्षी और स्थावर जन्मों की (आशास्त) अपेक्षा की है, क्योंकि श्रीकुलशेखरस्वामीजी के बनाये हुए प्रबन्ध में लिखा है कि "वेङ्कटेशतटाके वर्द्धमानपक्षी जायेयम्" वेंकट गिरि के स्वामी की पुष्करिणी में वास करनेवाला बकुला का जन्म मुझको मिले। 'मत्स्य जन्मनः कारणभूत भाग्यवान् स्याम्' मछली जन्म लेने का भाग्यवाला मैं होऊँ "चंपक जन्मरूप श्रीमान् भवेयम्" चंपा के फूल जन्म लेने का श्रीवाला मैं होऊँ 'कदम्बजन्मन उपयुक्तो विशिष्टो भवेयम्' कदम्ब वृक्ष के जन्म लेन का भाग्यवाला होऊँ। इसीसे कहते हैं कि— राजा श्रीकुलशेखर स्वामीजी ने तिर्यक् और स्थावर जन्मों की अपेक्षा की है ।।२५२।।

अब प्रबन्धकर्ता नीच जन्मों का अपने में आरोप करनेवालों को कहते हैं कि—

ब्राह्मणोत्तमः श्रीविष्णुचित्तस्तनया च गोपजन्म आस्थानमकुरुताम् ।।२५३।।

अर्थ— (ब्राह्मणोत्तमः) सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेकर विद्या-माहात्म्य से ब्राह्मणों में श्रेष्ठ वेद के फल को पाये हुए (श्रीविष्णुचित्तः) श्रीरंगनाथ भगवान् के श्वसुर श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी (च)और (तनया)

उनकी वेद सारार्थ को जाननेवाली पुत्री श्री गोदादेवी ने भी अपने में (गोपजन्म) ज्ञान रहित अहीर जाति के जन्म को (आस्थानम्) यथार्थ रीति से आरोपण (अकुरुताम्) कर लिया है। क्योंकि श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी के और गोदादेवीजी के बनाये हुए प्रबन्धों में लिखा है कि "शक्त्यभावादहं दुःखिता" शक्ति के अभाव होने से दुःखी हो गई हूँ "मम पुत्रो गोविन्दः" हमारा लड़का गोविन्द "गोपकुले उत्पत्त्युपयुक्त पुण्ययुक्तावयम्" अहीर कुल में उत्पन्न होने के योग्यवाले हम सब 'वयं चास्य व्रतस्य' इस व्रत के। इत्यादिक। इसीसे कहा है कि—ब्राह्मणोत्तम श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी और उनकी पुत्री श्रीगोदादेवीजी ने अपने में अहीर जाति के जन्म को आरोपण कर लिया है ॥२५३॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि — अविद्यादिक दोषों के निवृत होने पर लक्ष्मीजी के सदृश चेतन होते हैं।

मालिन्ये निवृत्ते सर्वेषामपि नारीणामुत्तमाया अवस्था आगच्छेत् ॥२५४॥

अर्थ— (सर्वेषाम्) सब जीवों के (अपि) भी (मालिन्ये) आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप से प्रकाशने नहीं देनेवाले अनादि काल से आये हुए अविद्यादिक दोष रूप मालिन्य के (निवृत्ते) भगवदनुग्रह द्वारा पुनरावृत्ति रहित वासना सहित निवृत्त होने पर (नारीणाम्) स्त्रियों में (उत्तमायाः) उत्तम महालक्ष्मीजी के (अवस्था) सदृश (आगच्छेत्) प्राप्त होते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि सब स्त्रियों में लक्ष्मीजी उत्तम हैं ? इस प्रश्न का उत्तर वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

जनकस्य कुलेजाता देवमायेव निर्मिता। सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ॥ वाल्मीकिरा० बालकां० १ सर्ग० १ श्लोक २६ ॥

देवमाया के समान निर्मित जनक राजा के कुल में प्रकट हुई जो सीता रूपधारिणी लक्ष्मीजी सब लक्षणों से सम्पन्न स्त्रियों में उत्तम वधू हैं ॥२७॥ इसीसे कहा है कि— सब जीवों के अविद्यादिक मालिन्य दूर होने पर स्त्रियों में उत्तम लक्ष्मीजी के सदृश होते हैं ॥२५४॥

अब जगद्गुरुजी परिशुद्ध आत्मस्वरूप को छः प्रकार से लक्ष्मीजी की समता है इस अर्थ को कहते हैं कि —

षड्भिः प्रकारैः परिशुद्धात्मस्वरूपस्य तत्साम्यमस्ति

॥२५५॥

अर्थ—(परिशुद्धात्मस्वरूपस्य) अविद्यादिक दोष रहित परिशुद्ध आत्मस्वरूप के (षड्भिः) अनन्यार्ह शेषत्व १ अनन्य शरणत्व २ अनन्य भोग्यत्व ३ संश्लेष धारणा ४ विश्लेष में धारणाभाव ५ और तदेक निर्वाह्यत्व ६ इन छ (प्रकारैः) प्रकारों से (तत्साम्यम्) महालक्ष्मीजी की समता (अस्ति) है। इसीसे कहा है कि छ प्रकारों से परिशुद्ध आत्मा-स्वरूप को श्रीलक्ष्मीजी की समता है ॥२५५॥

अब प्रबन्धकर्ता दृष्ट और अदृष्ट पुरुषार्थ में उत्कृष्टता किस किससे होती है इसको कहते हैं कि —

दृष्ट उत्कर्षोऽहंकारेणादृष्ट उत्कर्षोऽहंकारराहित्येन

॥२५६॥

अर्थ :—(दृष्टे) स्त्री, पुत्र, धन, रूपवर्ण, आश्रम आदिक देखे हुए पुरुषार्थ में (उत्कर्षः) उत्कृष्टता (अहंकारेण) अहंकार से होती है और (अदृष्टे) शेषत्वादिक अदृष्ट पुरुषार्थ में (उत्कर्षः) उत्कृष्टता (अहंकारराहित्येन) अहंकार के अभाव होने से होती है। इसीसे कहा है कि—दृष्ट में उत्कर्ष अहंकार से होता है और अदृष्ट में उत्कर्ष अहंकार के अभाव से होता है ॥२५६॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि भगवत् को अप्राप्ति में हेतु अहंकार है और भगवत् की प्राप्ति में हेतु अहंकार का अभाव है।

ब्रह्मा हीनो गोपिका प्राप्तवतीत्येवं कर्तुं योग्यः

॥२५७॥

अर्थ—(ब्रह्मा) अहंकार से दृष्ट पुरुषार्थ में उत्कर्ष करनेवाले ब्रह्मा (हीनः) भगवत् प्राप्ति से रहित हो गये। क्योंकि यह भगवद्वाक्य है कि —

द्विपरार्धावसाने मां प्राप्तुमर्हसि पद्मज ॥

हे कमलोद्भव द्विपरार्ध के अन्त में मुझको प्राप्त करने के योग्य होगा ॥ और (गोपिका) अहंकार रहित होने से अदृष्ट पुरुषार्थ में

उत्कर्ष करनेवाली चिन्तयन्ती गोपीने (प्राप्तवती) भगवत् को प्राप्त किया है। क्योंकि यह लिखा है कि –

मुक्तिं गताऽन्यागोपकन्यका ॥

अन्य गोपकन्या ने मुक्ति को प्राप्त किया ॥ (इति) इस कारण से (एवम्) इस प्रकार के अहंकाराभाव (कर्तुम्) करने के लिये (योग्यः) योग्य है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ब्रह्मा कौन हैं और कैसे उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हतिब्रह्मणास्पर्धितुंकः ॥

अथर्व० कां० १९ अ० २३ मं० ३० ॥

सब जीवों में ब्रह्मा पहले उत्पन्न हुए उन ब्रह्मा से स्पर्धा करने के लिये कौन समर्थ हैं ॥३०॥

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

मुण्डकोपनि० मुं० १ खं० १ मं० १ ॥

ब्रह्मा सब देवताओं से पहले उत्पन्न हुए जो संसार का गोप्ता और बनानेवाले हैं ॥१॥

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ मनु० अ० १ श्लो० ८॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥

परमात्मा ने आदि में जल को उत्पन्न किया और उस जल में अपने शक्तिरूप बीज को स्थापित किया ॥८॥ वह बीज सूर्य के सामान प्रभावाले सोने का अण्डा हो गया। उस अण्डे में सब लोकके पितामह ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुए ॥९॥ और भी लिखा है कि—

यस्यांभसि शयानस्य योगनिद्रांवितन्वतः नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ श्रीमद्भा० स्कं० १ अ० ३ श्लो० २॥

जल में सोनेवाले और योगनिद्रा को फैलानेवाले जिस नारायण के नाभिह्रदके कमल से संसार को रचनेवाले ब्रह्मा हुए ॥२॥ इसीसे कहते हैं कि –ब्रह्मा भगवत्-प्राप्ति से रहित हुए और चिन्तयन्ती गोपी ने भगवत् को प्राप्त किया इससे इस प्रकार करना योग्य है ॥२५७॥

इति श्रीवचनभूषणे अधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणे सिद्धोपायनिष्ठवैभव. समाप्तः।

॥अथ अधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणे प्रपन्नदिनचर्या ॥

अबलोकाचार्य स्वामीजी प्राप्य और प्रापक दोनों परमात्मा ही हैं ऐसा माननेवाले प्रपन्न अधिकारियों की दिनचर्या को कहते हैं कि—

एवं सर्वप्रकारेणापि नाशहेतोरहंकारस्य तत्कार्यस्य विषयप्रावण्यस्य च स्वस्यैवोत्पत्तिस्थानभूतत्वात् स्वं पश्यतिचेच्छत्रुमिव, तस्यवर्धकान् संसारिणः पश्यति चेत् सर्पमिव, तस्य निवर्तकान् श्रीवैष्णवान् पश्यति चेद्बन्धूनिव, ईश्वरं पश्यति चेत् पितरमिव, आचार्यं पश्यति चेत् क्षुधित ओदनमिव, शिष्यं पश्यति चेदभिमतविषयमिव स्मृत्वाऽहंकारार्थकामास्त्रयोऽनुकूलविषयेऽनादरं प्रतिकूलविषये प्रावण्यमुपेक्षणीयविषयेऽपेक्षां चोत्पादयन्तीतिभीतः, आत्मगुणा अस्माभिरितरैश्च नोत्पादयितुं शक्याः सदाचार्यप्रसादहेतुना जातेन भगवत्प्रसादेन जायन्ते इत्यध्यवस्यदेहयात्रायामुपेक्षा, आत्मयात्रायामपेक्षा, प्राकृतवस्तुषु भोग्यताबुद्धिनिवृत्तिः देहधारणं परमात्मसमाराधनसमाप्तिप्रसादप्रतिपत्तिरिति बुद्धिविशेषः, स्वस्यकस्मिंश्चित्क्लेशे सति कर्मफलमिति वा कृपाफलमिति वा जायमाना प्रीतिः, स्वानुष्ठाने साधनबुद्धिनिवृत्तिः, विलक्षणानां ज्ञानानुष्ठानयोर्वाञ्छा, अभिमतस्थलेष्वादरातिशयः, मंगलाशासनम्, इतरविषयेष्वरुचिः, आर्तिः अनुवर्तनानियतिः, आहारनियतिः, अनुकूलसहवासः, प्रतिकूलसहवासनिवृत्तिश्च सदाचार्यप्रसादेन यथा वर्धेरन् तथा कुर्वन् वर्तेत ॥२५८॥

अर्थ :— (एवम्) पूर्वोक्त प्रकार करके (सर्वप्रकारेण) सब प्रकार से (अपि) भी (नाशहेतोः) स्वरूप से नाश कर भागवत विरोध को उत्पन्न कर नाश करने वाले (अहंकारस्य) देहात्माभिमानरूप और देहातिरिक्त आत्मविषय में स्वातंत्र्य अभिमानरूप इन दोनों अहंकारों के च) और (तत्कार्यस्य) अहंकार के कार्य (विषयप्रावण्यस्य) विहित और निषिद्ध विषयोंके प्रावण्यका (स्वस्य) यह चेतन (एव) ही निश्चय करके (उत्पत्ति स्थानभूतत्वात्) उत्पन्न होने की जगह होने से (स्वम्) अनादिकाल से पापाचरण करते हुए भविष्यकाल में भी पापाचरण के योग्य शरीर विशिष्ट अपने को (पश्यति) देखे चेत्) तो (शत्रुम्) मारे बिना नहीं छोड़ूँगा ऐसा हथियार सहित दाँत पीसता हुआ शत्रु को देखने के (इव) समान अपने को नाशक समझना और (तस्य) अहंकारादिकों के (वर्धकान्) बढ़ाने वाले अभिमानी (संसारिणः) संसारी जीवों को (पश्यति) देखे (चेत्) तो (सर्पम्) समीप जाने पर ऊपर गिरकर काटनेवाले अति क्रूर साँपको देखने के (इव) सदृश डर से पीछे हट कर अपना बाधक समझना और (तस्य) अहंकार और विषयप्रावण्य के (निवर्तकान्) अपने उपदेश और अनुष्ठान से दूर करनेवाले श्रीवैष्णवान्) श्रीवैष्णवों को (पश्यति देखे (चेत्) तो (बन्धून्) असद्गुणों को उत्पन्न कर रक्षा करने वाले अपने बन्धुओं को देखने ही (इव) तरह अत्यन्त आंदर कर हमको अच्छे सहायक हैं ऐसा समझना और (ईश्वरम्) पहले करणकलेवर दे उनसे दुर्मार्ग में नहीं जा सन्मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये शास्त्रों को दिखा अकृत्य करने में शिक्षा कर सर्वावस्था में अपने हित ही को देखनेवाले ईश्वर को (पश्यति) अर्चास्थलों में देखे (चेत्) तो (पितरम्) उत्पादक विद्याप्रद कुमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये नियमन कर चलानेवाले हितेच्छु पिता को देखने के (इव) समान स्नेह भय और विनय विशिष्ट हो हितकर समझना और (आचार्यम्) अनादिकाल से असत्स्थित अपने को भगवत्संबन्धको जना कर सत्तावान बना ऊपर ऊपर अपने उपदेश से ज्ञान वैराज्ञ भक्तियों को उत्पादन कर हस्तामलकवत् भगवद्विषय को दिखानेवाले महोपकारक आपके गुण ही हमारे प्राण का प्राण ऐसा आपके दिव्य विग्रह के गुणों को छोड़ मैं अन्य को नहीं चाहता हूँ, ऐसा भी कहे प्रकार गुण और विग्रह से अपने धारकभूत आचार्य को (पश्यति, देखे (चेत्) तो (क्षुधितः) नेत्र को घुमानेवाला भूखा हुआ पुरुष (ओदनम्)

धारक और भोग्य ओदन को देखने के (इव) समान अति प्रेम से अनुभव कर हमारा धारक और भोग्य विषय यह है कि ऐसा समझना और (शिष्यम्) उपायान्तर निवृत्ति आदि सर्वगुण संपन्न सम्यक् ज्ञान और प्रेमवाले शिष्य को (पश्यति) देखे (चेत्) तो (अभिमतविषयम्) अपने को आनन्द देनेवाली अभिमत वस्तु को देखने के (इव) सदृश अपने को आनन्द देनेवाला समझना और ऐसा (स्मृत्वा) समझकर (अहंकारार्थ-कामाः) अहंकार तथा अर्थ और काम ये (त्रयः) तीनों (अनुकूलविषये) अनुकूल विषय में (अनादरम्) अनादर को (च) और (प्रतिकूलविषये) प्रतिकूल विषय में (प्रावण्यम्) प्रेम और (उपेक्षणीयविषये) उपेक्षा करने वाले विषय में (अपेक्षाम्) अपेक्षा को (उत्पादयन्ति) उत्पन्न करते हैं। अर्थात् अहंकार 'स्वरूपवर्द्धक अनुकूल विषय श्री वैष्णवों को देख कर अपना स्वामी समझ कंपित हो उठ प्रणामादिक पूर्वक अनुवर्तन कर अपने को उनसे अधिक या सदृश समझ अनादर कराता है ऐसा समझना और अर्थ प्रतिकूल विषय में आदर कराता है। अर्थात् किसी प्रकार के अनुवर्तन करके द्रव्य पाना चाहिये ऐसा द्रव्य में आशा को बढ़ाता है। इस लिये वह स्वरूपनाशक संसारियों को देखकर भागना, प्राप्त होने पर भी अर्थ की आशा से उनके साथ सम्बन्ध कर उनके वासस्थान में बहुत बार जो उनको बुला भोजन करा गुण का कीर्तन करानेवाला विषय है, ऐसा समझना और काम उपेक्षक विषय में उपेक्षा कराता है। अर्थात् विषय संभोग भोग सुख की आशा दारिद्र्य वार्द्धक्य आदि कारण से अपना मुख न देख बाहर निकाल किबाड़ बन्द कर उपेक्षा करने वाले, स्त्रियों के विषय में उनकी उपेक्षा को उद्देश्य मान रहने के योग्य शिष्टों के हास्यास्पद कराता है, ऐसा समझना। (इति) ऐसा (भीतः) डरा हुआ आत्मगुणों को (अस्माभिः) हम सब (च) और (इतरैः) दूसरे सब भी (उत्पादयितुम) उत्पन्न करने के लिये (न) नहीं (शक्याः) समर्थ हैं (सदा-चार्यप्रसादहेतुना) सदाचार्य की प्रसन्नता के कारण से (जातेन) उत्पन्न होने वाले (भगवत्प्रसादेन) भगवत् के प्रसाद से (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं (इति) ऐसा (अध्यवस्य) विश्वास कर (देहयात्रायाम्) शरीर रक्षा के लिये व्यापार में उपेक्षा अनादर करना और (आत्मयात्रायाम्) शेषत्वरूप वाली आत्मा के धारकादिरूप गुणानुभव कैंकर्य प्रवृत्ति में (अपेक्षा प्राप्त से तृप्त न हो ऊपर ऊपरकी अपेक्षा करना और (प्राकृतवस्तुषु) अन्न वस्त्रा-

दिक प्राकृत वस्तुओं में (भोग्यताबुद्धिनिवृत्तिः) आदर के कारण भोग्यताबुद्धि निवृत्त होना और (देहधारणम्) प्राकृत वस्तुओं में देह धारण मात्र भोजन करना तथा (परमात्मसमाराधनसमाप्तिप्रसाद-प्रतिपत्तिः) परमात्मा सर्वेश्वर के समाराधन की समाप्तिरूप प्रसाद को प्रतिपत्ति (इति) ऐसा (बुद्धिविशेषः) बुद्धि विशेष होना और (स्वस्य) अपने को (कस्मिन्) कोई (चित्) भी (क्लेशे) क्लेश (सति) हो तो (कर्म) फलम्) प्रारब्ध कर्म के फल (इति) ऐसा समझना (वा) अथवा (कृपाफलम्) भगवत् की कृपा का फल (इति) ऐसा (वा) समझना और इससे (जाय-माना) उत्पन्न होनेवाली (प्रीतिः) प्रीति होना तथा (स्वानुष्ठाने) प्रपन्न-भूत अपने अधिकारानुगुण अनुष्ठान किये हुये सत्कर्मों में (साधनबुद्धि-निवृत्तिः) उपायबुद्धिपरित्याग करना और (विलक्षणानाम्) लोगों के स्वभाव छोड़ नारायण का आश्रयण करने से निर्मल ज्ञान और भक्तिवाले विलक्षण भागवतों के (ज्ञानानुष्ठानयोः) विलक्षण ज्ञान और अनुष्ठान की (वाञ्छा) इच्छा करना और (अभिमतस्थानेषु) भगवत् के अभिमत श्रीरंग आदिक दिव्य देशों में (आदरातिशयः) अधिक आदर करना तथा (मंगलाशासनम्) उन दिव्य देशों में आदरपूर्वक वास करनेवाले स्वामी के सौंदर्य सौकुमार्य के उचित रक्षक नहीं हैं, प्रतिकूल अधिक हैं, एसा समझकर क्या होगा ऐसा हृदय दाह से रात दिन मंगल को चाहना और (इतरविषयेषु) भगवद्व्यतिरिक्त हेयविषयों में (अरुचिः) दोष देखने से रुचि नहीं करना तथा (आर्तिः) इतर विषय प्रावण्यहेतु इस शरीरके साथ अज्ञानप्रद पृथ्वी में पाददाह से प्राप्य वैलक्षण्य दर्शन से प्राप्ति के बिलम्ब को न सहने से होनेवाले क्लेश और (अनुवर्तननियतिः) भगवद् भागवता-चार्य के विषयों में अपने शेषत्वानुगुण नीचोक्ति तथा नीच वृत्तियों से क्रियमाण अनुवर्तन को संसारी विषयों में भूलकर भी नहीं करना और (आहारनियतिः) जात्याश्रयनिमित्त रूप दोष रहित भगवद्भागवताचार्यों के प्रसाद भूत पदार्थों को ही भोजन करने के लिये स्वीकार करना, अन्य वस्तुओं को नहीं स्वीकार करना तथा (अनुकूलसहवासः) अपने सम्बन्ध से ज्ञानानुष्ठानों को बढ़ानेवाले अनुकूलों के साथ क्षणकाल विश्लेष बिना वास करना (च) और (प्रतिकूलसहवासनिवृत्तिः) अपने सम्बन्ध से ज्ञानानुष्ठानों को नाश करनेवाले प्रतिकूलों के साथ क्षणकाल भी वास नही करना। ये पूर्वोक्त सब (सदाचार्यप्रसादेन) सदाचार्य की प्रसन्नता से (यथा) जैसे (वर्द्धेरन्) बढ़ें (तथा) तैसे (कुर्वन्) करता हुआ

(वर्तेत) रहना चाहिये। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि वैष्णव किसको कहते हैं और वे कितने प्रकार के होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर पद्मपुराण में लिखा है कि —ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षामाला ये बाहु-मूलपरिचिह्नितशंखचक्राः। ये वा ललाटफलके लसदुर्ध्वपुंड्रास्तेवैष्णवा भुवनमाशुपवित्रयन्ति ॥ पद्मपु० ॥

जिनके गले में तुलसी के काठ की और कमल के बीज की माला लटकी रहती है तथा जिनके बाहुमूल शंख और चक्र से चिह्नित हैं और जिनके ललाट पर ऊर्ध्वपुंड्र विराजमान रहता है वे वैष्णव हैं, वे शीघ्र ही भुवन को पवित्र कर देते हैं ॥

वैष्णवा द्विविधाः प्रोक्ता वाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।

बाह्यास्तु शंखचक्राभ्यामन्तरावीतरागतः ॥

वैष्णव दो प्रकार के होते हैं, एक वाह्य वैष्णव और दूसरा अभ्यन्तर वैष्णव, उसमें वाह्य वैष्णव शंखचक्र धारण करने से होता है और अभ्यन्तर वैष्णव राग के परित्याग करने से होता है। इसीसे कहा है कि—एवं सव प्रकार से नाश का हेतु अहंकार और अहंकार का कार्य विषय-प्रावण्य इन दोनों की उत्पत्ति स्थान आप होने से अपने को देखे तो शत्रु को देखने के समान, अहंकार और विषय प्रावण्य को बढ़ाने-वाले संसारियों को देखे तो साँप को देखने के सदृश, ईश्वर को देखे तो पिता को देखने की तरह, आचार्य को देखे तो भूखों द्वारा अन्न को देखने के समान, चेले को देखे तो अभिमत विषय को देखने की तरह समझ कर अहंकार, अर्थ और काम ये तीनों क्रम से अनुकूल विषय में अनादर प्रतिकूल विषय में प्रीति और उपेक्षा करनेवाले विषय में अपेक्षा को उत्पन्न करते हैं ऐसा समझकर डरा हुआ आत्मगुणों को हम और दूसरे उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, सदाचार्य के अनुग्रह द्वारा होनेवाले भगवदनुग्रह से उत्पन्न होते हैं, ऐसा विश्वास कर देह यात्रा में उपेक्षा, आत्मयात्रा में अपेक्षा, प्राकृत वस्तुओं में भोग्यता बुद्धि-निवृत्ति, देह धारण परमेश्वर के समाराधन की समाप्ति के प्रसाद प्रतिपत्ति ऐसा समझना। अपने को कोई क्लेश हो तो कर्मफल या कृपाफल समझकर प्रीति होना, अपने अनुष्ठान में साधनत्व बुद्धि निवृत्ति, विलक्षण भाग-

वतों के ज्ञानानुष्ठानों में वाञ्छा, दिव्य देशों में अधिक आदर मंगलाशासन, इतर विषयों में अरुचि, आर्ति, अनुवर्तन नियति, आहारनियति, अनुकूल सहवास, प्रतिकूल सहवास निवृत्ति ये सब गुण सदाचार्य के अनुग्रह से जैसे बढ़ें वैसा वर्तन करना चाहिते ॥२५८॥

अब प्रबन्धकर्ता दिनचर्या में कहे हुए मंगलाशासन का विवरण करते हैं कि—

मंगलाशासनं स्वरूपविरूद्धं न भवति किमिति चेत्

॥२५९॥

अर्थ —(मंगलाशासनम्) हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतानस्वेतर सकल रक्षक सर्वेश्वर श्रीमन्नारायण भगवान् का मंगलाशासन करना (स्वरूप विरूद्धम्) तदेकरक्ष्यत्वरूप स्वस्वरूपसे विरूद्ध (न) नहीं (भवति) है (किम्) क्या (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर आगे के सूत्र में लिखा है। इससे कहते हैं कि मंगलाशासन स्वरूप विरूद्ध नहीं है क्या ऐसा यदि हो तो २५९॥

अब जगदाचार्य जी दो सौ उनसठवें सूत्र में किए हुए प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि—

ज्ञानदशायां रक्ष्यरक्षकभावः स्वस्थाने तिष्ठति प्रेमदशायां वैपरीत्येन तिष्ठति ॥२६०॥

अर्थ :—(ज्ञानदशायाम्) सर्वेश्वर रक्षक हैं और मैं रक्ष्य हूँ इत्याकारक ज्ञान अनुसन्धान करने की दशा में (रक्ष्यरक्षकभावः) रक्ष्य और रक्षक भाव (स्वस्थाने) अपने स्थान पर (तिष्ठति) रहता है और (प्रेमदशायाम्) सर्वेश्वर के सौन्दर्य, सौकुमार्य को अनुसंधान कर इस विषय का क्या होगा ऐसा अस्थान में भय शंका कर उनकी सर्वशक्ति आदि स्वरूप के अनुसंधान करने को असमर्थ हो मंगलकामना रूप प्रेम दशा में (वैपरीत्येन) ईश्वर की रक्षा करने के लिए व्याकुल होने से ईश्वर के विषय में रक्ष्य भाव और अपने विषय में रक्षक भाव विपरीत रूप से (तिष्ठति) रहता है। इसीसे कहते हैं कि—ज्ञानदशा में रक्ष्य

रक्षक भाव अपने स्थान पर रहता है और प्रेम दशा में विपरीत रहना है ॥२६०॥

अब जगद्गुरुजी दो सौ साठवें सूत्र में कहे हुए अर्थ को स्पष्ट कहते हैं कि—

तत्स्वरूपमनुसंदधाति चेत् तं रक्षकत्वेन स्वीकृत्य स्वात्मानं रक्षति, तत्सौकुमार्यमनुसंदधाति चेत् स्वरक्षकत्वेन स्वीकृत्य तं रक्षति ।२६१।

अर्थ :— (तत्स्वरूपम्) सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वरक्षक उस परमात्मा के स्वरूप को (अनुसंदधाति) अनुसंधान करता है (चेत्) तो (तम्) उस परमात्मा को (रक्षकत्वेन) रक्षक (स्वीकृत्य) समझकर (स्वात्मानम्) अज्ञ, अशक्त, अपनी आत्मा को (रक्षति) रक्षा करता है और (तत्सौकुमार्यम्) कहने से मुरझा जाने वाले भगवत् के सौकुमार्य का (अनुसंदधाति) अनुसंधान करता है (चेत्) तो भगवत् के सर्वशक्तित्वादि गुणों को भूल रक्ष्य समझ (स्वम्) अपने को (रक्षकत्वेन) रक्षक (स्वीकृत्य) समझ कर मंगलाशासन से (तम्) उस परमात्मा को (रक्षति) रक्षा करता है। इसीसे कहते हैं कि— भगवत् के स्वरूप को अनुसंधान करता है तो उसको रक्षक समझकर अपनी आत्मा को रक्षा करता है और भगवत् के सौकुमार्य को अनुसंधान करता है तो अपने को रक्षक समझकर उस परमात्मा को रक्षा करता है ॥२६१॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी परमात्मा का मंगलाशासन करना शिष्टाचार सिद्ध है, ऐसा दिखाते हैं कि—

अयमर्थश्चक्रवर्ती श्रीजनकराजतनया विश्वामित्रो दण्डकारण्यवासिन ऋषयो मारुतिर्महाराजः श्रीनन्दगोपः श्रीविदुरः श्रीधनुर्दास इत्येतत्प्रभृतिषु द्रष्टव्यः ।२६२।

अर्थः— (अयम्) यह (अर्थः) अर्थ (चक्रवर्ती) चक्रवर्ती श्रीदशरथ महाराज और (श्रीजनकराजतनया) जनक राजा की कन्या श्रीसीताजी तथा (विश्वामित्रः) विश्वामित्र महर्षि और (दण्डकारण्यवासिनः) दण्डकवन में रहनेवाले (ऋषयः) ऋषि सब तथा (मारुतिः) हनुमानजी (महाराजः) महाराज श्रीजटायु तथा (श्रीनन्दगोपः) श्रीनन्दगोप और (श्रीविदुरः) श्रीविदुरजी तथा (श्रीधनुर्दासः) भागवत श्रीधनुर्दासजी (इति) ये (एतत्) सब और (प्रभृतिषु) प्रभृतिग्रहण से अयोध्यावासीजन तथा कौशल्यादेवी और श्रीवासुदेव तथा देवकी देवी आदिक का भी ग्रहण होता है। इससे पूर्वोक्त सब में (द्रष्टव्यः) देखने योग्य है। चक्रवर्ती श्रीदशरथ जी महाराज के विषय में यह देखने योग्य है। क्योंकि वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि ताड़का सुबाहु आदि को मारने से और जनकपुर में धनुष तोड़ने से श्रीरामजी के शक्ति-वैभव को स्पष्ट जानते हुए भी श्रीदशरथजी ने श्रीरामजी के बाल्य और सौकुमार्य को देख कर डरे हुए श्रीपरशुरामजी के सामने हाथ जोड़ कर कहा कि—

क्षत्ररोषात्प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः। बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि ॥ बाल्मीकिरा० बालकां० १ सर्ग ७५ श्लो० ६ ॥

क्षत्रियरोष से शान्त हुए महातपस्वी ब्राह्मण तुम हमारे बालपुत्रों को अभय देने योग्य हो ॥६॥ ऐसी शरणागति करने पर भी परशुरामजीने जब कहा है कि—

यदिशक्तोऽसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥२८॥

हे काकुत्स्थ राम यदि वैष्णव धनुष को तुम चढ़ा दोगे तो तेरे लिए द्वन्द्वयुद्ध मैं दूँगा ॥२८॥ इस वचन को सुन कर तब श्रीदशरथजी मूर्छित हो गये। इसके बाद परशुरामजी के पराजित होकर चले जाने पर—

गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः। पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मनमेव च ॥ बाल्मीकिरा० बालकां० १ स० ७७ श्लो० ५ ॥

परशुरामजी चले गये ऐसा सुनकर हृष्ट यानी प्रसन्न हो चक्रवर्ती दशरथ जी ने अपने को और अपने पुत्र श्रीरामजी को फिर से जन्म हुआ है, ऐसा समझा ॥५॥ यहाँ पर श्रीरामजी के रक्षकत्व को चक्रवर्ती भूल गये। श्री जनकराज की पुत्री श्रीसीताजी के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है। क्योंकि लिखा है कि सीताजी धनुष तोड़न से और परशुराम जी को पराजित करने से श्रीरामजी के संपूर्ण शक्ति-वैभव को जानती हुई भी यौवराज्याभिषेक के लिये अलंकृत हो सुमंत के कहने से चक्रवर्ती महाराज के घर जाने के समय श्रीरामजी के सौन्दर्य को देखकर मोहित हो यह कैसे सुरक्षित रहेंगे ऐसा प्रेम से व्याकुल हो—

पति संमानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा। आद्वारमनुवव्राज मंगलानभिदध्युषी॥ वाल्मीकिरा० अयोध्याकां० २ सर्ग० १६ श्लो० २१॥

काली आँखवाली श्रीसीताजी श्रीरामजी से सम्मानित हो मंगलाशासन करती हुई श्रीराम जी के पीछे-पीछे द्वार पर्यन्त गईं ॥२१॥ और उन्होंने कहा कि—

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः। वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥२४॥

पूर्व दिशा में इन्द्र और दक्षिण दिशा में यमराज तथा पश्चिम दिशा में वरुण और उत्तर दिशा में कुबेर आपकी रक्षा करें॥२४॥ यहाँ पर श्रीरामजी के रक्षकत्व को प्रेम से श्रीसीताजी भूल गयी हैं। विश्वामित्र महर्षि जी के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है, क्योंकि लिखा है कि श्रीविश्वामित्रजी अपने यज्ञ की रक्षा कराने के लिये श्रीरामजी को अपने साथ लेकर जब चले तब बीच में ही ताटका को शूरता से आक्रमण करते देखकर —

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्॥ वाल्मीकिरा० बालकां० १ स० १६ श्लो० १४

मैं महात्मा श्रीराम जी के सत्य पराक्रम को जानता हूँ॥१४॥ ऐसा श्रीराम जी के वैभव को जानते हुए भी विश्वामित्र जी श्रीरामजी के सौकुमार्य को देख कर व्याकुल हो—

विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिर्हुंकारेणाभिभर्त्स्यताम्। स्वस्तिराघवयोरस्तु जयं चैवाभ्यभाषत ॥ वाल्मीकिरा० बालकां० १ स० २६ श्लोक १४।

ब्रह्मर्षि श्री विश्वामित्रजी ने हुंकार से उस ताटका राक्षसी को हटा कर श्रीरामजी का और लक्ष्मणजी का मंगल हो तथा जय हो ऐसा कहा ॥१४॥ यहाँ पर प्रेम से विश्वामित्रजी श्रीरामजी की शक्ति को भूल गये हैं। दण्डकवन में रहनेवाले ऋषियों के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है, क्योंकि लिखा है कि श्रीरामजी के संपूर्ण वैभव को जानते हुए भी दण्डकारण्यवासी ऋषिलोग

ते तु सोममिवोद्यन्तं दृष्ट्वा वै धर्मचारिणम् ॥ वाल्मीकिरा० अरण्यकां० ३ स० १ श्लोक ११ ।

वे सब उदय होनेवाले चन्द्रमा के समान निश्चय करके धर्मानुष्ठाता श्रीरामजी को देख कर ॥११॥ सौन्दर्य से मोहित हो—

मंगलानि प्रयुंजानाः प्रत्यगृह्णन्दृढव्रताः ॥१२॥ संरूपहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ॥ ददृशुर्विस्मिताकारारामस्यवनवासिनः ।।१३॥

मंगलाशासन करते हुए दृढ़व्रत लोगों ने स्वागत किया ॥१२॥ और दण्डकारण्यवासी लोग अपने आकार को भूले हुए श्रीरामजी के स्वरूप को तथा शोभा को और सौकुमार्य को तथा सून्दर वेष को देखते हैं ॥१३॥ और—

मंगलानि प्रयुंजाना मुदा परमया युताः ॥१७॥

अत्यन्त आनन्द से युक्त हो मंगलाशासन किया ॥१७॥ यहाँ पर ऋषि लोग सौन्दर्य से श्रीरामजी के रक्षकत्व को भूल गये हैं। पवनसुत श्रीहनुमानजी के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है। क्योंकि लिखा है कि मारुति श्रीरामजी के पहले दर्शन के समय में—

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवो परिघोपमाः । वाल्मीकिरा० किष्किन्धा कां० ४ स०३श्लो० १४॥ सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः । उभौयोग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ।।१५॥

सिंह के कंधे के समान कन्धेवाले या मदयुक्त सांढ़के समान कंधेवाले अत्यन्त उत्साहयुक्त हैं और लम्बे गोल परिघ के सदृश ये भुजायें ॥१४॥ सब भूषण से अलंकार करने योग्य हैं सो क्यों नहीं विभूषित हैं। दोनों भुजाओं को इस पृथ्वी की रक्षा करने के लिए योग्य मैं समझता हूँ ॥१५॥ ऐसा सर्वरक्षक समझने पर भी श्रीरामजी के सौन्दर्य से मुग्ध हो श्रीहनुमानजी ने इनको क्या होगा ऐसा भयभीत हो सर्वदा साथ में रहकर रक्षा की है। और कहा है कि—

जयत्यतिबलोरामः ॥

वाल्मीकिरा० सुन्दरकां० ५ स० ४२ श्लोक ३३ ॥

अतिबल श्रीरामजी की जय हो ॥३३॥ यहाँ पर श्रीरामजी के रक्षकत्व को भूलकर अपने ही मारुति जी रक्षक हो गये हैं। इस श्रीवचन-भूषण प्रबन्ध के पचासी सूत्र में तथा नवासी सूत्र में और दो सौ चौवालिसवें सूत्र में जैसे महाराज शब्द से गृध्रराज जटायु का ग्रहण होता है वैसे ही दो सौ बासठवें सूत्र में भी महाराज शब्द से श्रीजटायु का ही ग्रहण करना उचित है। तो महाराज श्रीजटायु के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है, क्योंकि लिखा है कि श्रीजटायु ने जनस्थान में खरदूषणादिक चौदह हजार राक्षसों को अकेले ही मारने से श्रीरामजी के भुजबल को जानते हुये सीताजी के लिए रावण के साथ युद्ध कर प्राणावशिष्ट दशा में श्रीरामजी को देखकर कहा है कि—

यामोषधिमिवायुष्मन्न्वेषसि महावने।

सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥ वा० रा० ३।६७।१५

हे आयुष्मान् जिसको औषधि की तरह महावन में ढूँढ़ते हो उस श्रीसीतादेवी को और हमारे प्राणों को रावण ने हरण किया है ॥१५॥ ऐसा कहने के समय में विश्लेषक्लेश से आयी हुई शिथिलता सौकुमार्य और राक्षसों के साथ विरोध को भी विचार कर क्या होनेवाला है। ऐसा भीत हो आयुष्मान् इस पद से श्रीजटायु ने श्रीरामजी की आयु की प्रार्थना की है। श्रीनन्दगोप के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है। क्योंकि लिखा है कि श्रीनन्दगोप ने पूतना संहार से श्रीं कृष्ण की दिव्य शक्ति को जानते हुए भी शिशुत्व प्रयुक्त सौकुमार्य को देख कर व्याकुल हो कहा है कि—रक्षतुत्वामशेषाणां भूतानां प्रभवो हरिः। यस्य नाभिसमुद्भूतपंक-

जादभवज्जगद् ॥ जिसके नाभिकमल से सम्पूर्ण संसार हुआ है सब प्राणियों के सृष्टिकर्ता वे श्री हरिजी तुम्हारी रक्षा करें ॥ यहाँ पर प्रेम से श्रीनन्दगोप श्रीकृष्णजीं के रक्षकत्व को भूल गये हैं। श्रीविदुर के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है। क्योंकि लिखा है कि—श्रीविदुरजी श्रीकृष्ण भगवान् के सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्वादि को जानते हुये भी दुर्योधन की सभा में जाने के समय में असत्य आसन स्थापन को देखकर भयभीत हो

खंस्पृशन्नासनं शौरेर्विदुरः स महामतिः ॥

महामति वह श्रीविदुरजी श्रीकृष्ण भगवान् के आसन को टटोलते हुये ॥ ऐसा अपने घर में आपसे समर्पित आसन को भी अतिशंका से अपने हाथ से दबा कर देखा है। श्रीधनुर्दासजी के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है। क्योंकि लिखा है कि श्रीधनुर्दासजी परमात्मा की ज्ञानशक्ति आदियों को जानते हुये श्रीरङ्गनाथ भगवान् हमारे रक्षक हैं ऐसा समझने पर भी प्रेम के परवश होने से श्रीरङ्गनाथ भगवान् के बाहर पधारने के समय विमान के थोड़ा चलने पर मैं प्राणों को छोड़ दूँगा ऐसी प्रतिज्ञा कर नंगी तलवार को लेकर आगे जाते हुये यह प्रसिद्ध है। अयोध्यावासियों के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है क्योंकि लिखा है कि—

स्त्रियोवृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ।
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे यशस्विनः ॥

स्त्री, वृद्ध, तरुणी ये सब साँझ सुबह समाहित हो यशस्वी श्रीरामजी के लिए संपूर्ण देवताओं को नमस्कार करती हुई ॥ कौशल्या जी के विषय में यह अर्थ देखने योग्य है, क्योंकि लिखा है कि श्रीरामजी की शक्ति को जानती हुई भी दण्डकारण्य में जाने के समय में प्रेम से व्याकुल हो कौशल्या कहती हैं कि—

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च ।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥वा० रा० २।२५।३

हे राघव शार्दूल रामभद्र तुम प्रीति से और नियम से जिस धर्म की रक्षा करते हो निश्चय करके वह धर्म तुमको रक्षा करे ॥ इस प्रकार बहुत रक्षा करके तो मंगलशासन किया है कि—

यन्मंगलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।। वाल्मीकिरा० अयोध्या कां० २ स० २५ श्लोक ३२ ।। वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतुमंगलम् । यन्मंगलं सुपर्णस्य विनताऽकल्पयत्पुरा ।३३।। अमृतं प्रार्थमानस्य तत्तेभवतु मंगलम् । अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।।३४।। अदितिर्मंगलम् प्रादात्तत्ते भवतुमंगलम् । त्रिविक्रमान्क्रमतोविष्णोरतुलतेजसः ।।३५।। यदासीन्मंगलं राम तत्ते भवतु मंगलम् । ऋषयः सागराद्वीपा वेदा लोका दिशश्च ताः ।।३६।। मंगलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमंगलम् ।।३७।।

सब देवताओं से नमस्कृत हजार आँखवाले इन्द्र में जो मंगल हुआ ।।३२।।वृत्रासुर को मारनेपर, वह मंगल तुमको हो। पहले गरुड़जी को विनताने जिस मंगलको किया है ।।३३।। अमृत लानेके समय, वह मंगल तुमको हो। और अमृत उत्पादन समयमें दैत्योंको मारनेवाले इन्द्रको जो ।।३४।। मंगल अदितिने दिया वह मंगल तुमको हो तथा अतुल तेजवाले वामनावतारधारी विष्णु भगवान्के तीन पैर फैलाने समयमें ।।३५।। हे राम जो मंगल हुआ था, वह मंगल तुमको हो। ऋषि सब, समुद्र सब, द्वीप सब, वेद सब, लोक सब और दिशा सब ये सम्पूर्ण लोग ।।३६।। हे महाबाहो रामभद्र तुमको मंगल दें और तेरा शुभ मंगल हो ।।३७।। यहाँ पर माता कौशल्याजी श्रीरामजी के रक्षकत्व को अति प्रीतिसे भूल गयी हैं। श्रीवसुदेव के विषयमें अर्थ देखने योग्य है क्योंकि लिखा है कि श्रीवसुदेव जी ने श्रीकृष्णजी को परमात्मा जानते हुए भी सौन्दर्य से मोहित हो कहा है कि—

अयं त्वसभ्यस्तव जन्मनो गृहे श्रुत्वाग्रजांस्तेन्यवधीत्सुरेश्वर । स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितम् श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥ श्रीमद्भागवद् स्कं० १० अ० ३ श्लो० २२ ॥

हे सुरेश्वर इस असभ्य कंस ने आपका जन्म हमारे घर में सुनकर आपके बड़ भाइयों को मारा है, तो आपके अवतार को पहरा देनेवाले पुरुषोंसे सुनकर आयुध लिये हुए इसी समय में वह चला आवेगा ।।२२।। इससे इस रूप को छिपा लो। श्रीदेवकीजी सब प्रकार से श्रीकृष्णचन्द्रजीको

परमात्मा जानती हुई भी प्रेमाधिक्य से व्याकुल हो कहती हैं कि—

जन्म ते मय्यसौ पापो मात्रविद्यान्मधुसूदन। समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥ श्रीमद्भा० स्कं १० अ० ३ श्लो० २६॥

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शंखचक्रगदापद्मश्रियाजुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥

हे मधुसूदन आपके इस जन्मको पापी कंस न जानने पावे इससे आपके लिये अधीर बुद्धिवाली मैं कंससे डरती हूँ ॥२६॥ हे विश्वात्मन् शंख, चक्र, गदा, पद्मको धारण करनेवाले इस अलौकिक चार भुजावाले रूप को छिपा लीजिये ॥३०॥ यहाँपर प्रेमाधिक्य से देवकीजी भगवत्को भूल गयी हैं। यशोदा आदि गोपियों में यह अर्थ देखने योग्य है, क्योंकि लिखा है कि गोपियाँ कहती हैं कि—

अव्यादजोऽङ्घ्रिमणिमांस्तव जान्वथोरु यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः। हृत्केशवस्त्वदुरईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥ श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० ६ श्लो० ॥२२॥

अज आपके चरण को, अणिमान जानुको, यज्ञ उरूको, अच्युत कटितटको, हयग्रीव पेटको, केशव हृदय को, ईश छाती को, इन कण्ठको, विष्णु भुजाको, उरुक्रम मुखको और ईश्वर मस्तक को सुरक्षित करें ॥२२॥ यहाँपर गोपियाँ प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजीके रक्षकत्वको भूल गयी हैं। इसीसे कहा है कि—यह अर्थ चक्रवर्ती श्रीदशरथजी जनकराजकी पुत्री सीताजी, विश्वामित्रजी, दण्डकारण्यवासी ऋषि सब, हनुमानजी, श्रीमहाराज जटायुजी श्रीनन्दगोपजी, श्रीविदुरजी और भागवत श्रीधनुर्दासजी आदि में स्पष्ट देख सकते हैं। ॥२६२॥

अब जगद्गुरुजी परमात्मा का वैलक्षण्य सबको मंगलाशासन में लगावेगा, इस विषय में एक और भी उदाहरण दिखाते हैं।

बालस्वामिनि श्रीगुहोऽतिशंकामकरोत्। उभयोरतिशंकां कृत्वा गुहपरिकराः स्वामिनमरक्षन् ॥२६३॥

अर्थ—(बालस्वामिनि) लड़कपनसे श्रीरामजीमें अति प्रीति करने वाले श्रीलक्ष्मणजीके विषय में (श्रीगुहः) निषादराज श्रीगुहदेवजीने अति-शंकाम्) एक भाईने माता द्वारा श्रीरामजी के राज्यको छिनवाकर जंगल में निकलवा दिया। यह लक्ष्मण भी उसीके समान भाई ही है। न मालूम सन्नद्ध यह एकान्तमें क्या करेंगे ऐसी अतिशंका (अकरोत्) की है और (उभयोः) श्रीलक्ष्मणजी और श्रीगुहदेवजी इन दोनों के विषय में (अतिशं-काम्) यह लक्ष्मण तो जातिका है और गुहदेव कुटिल जंगली हैं ये दोनों न मालूम क्या करने को देख रहे हैं। ऐसी अतिशंका को (कृत्वा) कर (गुहपरिकराः) श्रीगुहदेवजी के नौकरों ने हाथ में हथियार लेकर (स्वा-मिनम्) स्वामी श्रीरामजीं की (अरक्षन्) रक्षा की है। क्योंकि वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत्तत्तो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥वा० रा० २।५०।५०

सावधान धनुष धारण किये हुये श्रीगुहदेव सूत के साथ श्रीलक्ष्मण जी से बात करता हुआ श्रीरामजी की रक्षा करने के लिए जागा ॥५०॥ और भी लिखा है कि—

नियम्म पृष्ठे तु पलांगुलित्रवाञ्शरैः सुपूर्णाविषुधी परंतपः।
महद्धनुः सज्जमुपोह्यलक्ष्मणो निशामतिष्ठत्परितोऽस्य केवलम् ॥
वा० रा० २।८७।२३

ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापभृत्स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः।
अतंद्रितैर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकैः महेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ।२४।

श्रीभरतजी से श्रीगुहदेवजी ने कहा है कि अंगुलित्राण को बाँध, परंतप श्रीलक्ष्मणजी ने बाणों से भरे हुए तरकसों को पीठ पर बाँधकर महान् धनुष को चढ़ाकर श्रीरामजी की चारों तरफ रात भर केवल पहरा देते रहे ॥२३॥ इसके बाद मैं भी उत्तम धनुष और बाण को लेकर जहाँ श्रीलक्ष्मणजी थे वहां ठहरा था और हमारे भृत्यगण भी धनुष को लेकर तन्द्रा रहित हो महेन्द्र के समान श्रीरामजी की रक्षा करते रहे ॥२४॥ यहाँ पर श्रीलक्ष्मणजी तथा श्री गुहदेवजी और श्री गुहदेव के भृत्यगण

इन सबों ने ही श्रीरामजी के सौंदर्य से मोहित हो उनके रक्षकत्व को भूलकर रक्षा की है। इसीसे कहते हैं कि—श्रीलक्ष्मणजी के विषय में श्रीगुहदेवजी ने अतिशंका की है और श्रीगुहदेवजी के भृत्यगण ने श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीगुहदेवजी इन दोनों में अतिशंका कर श्रीरामचन्द्र जी की रक्षा की है ॥२६३॥

अब जगदाचार्य जी यह कहते हैं कि एक दिन भगवान् के सामने आने वालों को भी भगवत् का सौन्दर्य मोहित कर देता है।

एकस्मिन् दिने मुखं पश्यतां सौन्दर्येण क्रियमाण-प्रकारः सः ॥२६४॥

अर्थ :—(एकस्मिन्) बहुत दिन वासना न कर एक ही (दिने) दिन (मुखम्) भगवत् के मुखारविन्द को (पश्यताम्) देखनेवालों के (सौन्दर्येण) सौन्दर्य से (क्रियमाणप्रकारः) क्रियमाण प्रकार (सः) वह है। अर्थात् सदा देखनेवालों की तरह भगवत् का मुखारविन्द एक बार देखनेवालोंको भी प्रेमान्ध बना देता है। इसीसे कहते हैं कि—एक दिन भी मुख के सामने आनेवालों को भगवत् का सौन्दर्य विद्ध कर देता है ॥२६४॥

अब श्रीवचनभूषणकार और भी इस अर्थ को उदाहरण रूप से पूर्वोक्त से भिन्न दिव्यसूरियों के मंगलाशासन को निष्ठा को कहते हैं कि—

एतेऽस्मत्कोटाविति वक्तुं योग्या दिव्यसूरीणां स्थितिः ॥२६५॥

अर्थ :—(एते) ये सब दो सौ बासठवें में कहे हुए श्रीदशरथजी प्रभृति सब अधिकारी (अस्मत्कोटौ) हमारी कोटि में हैं (इति) ऐसा (वक्तुम्) कहने के लिये (योग्याः) योग्य है क्योंकि (दिव्यसूरीणाम्) दिव्यसूरियों की ऐसी ही (स्थितिः) देखी जाती है। इसीसे कहते हैं कि—ये श्रीदशरथ प्रभृति अधिकारी हमारी कोटि में कहने के लिये योग्य हैं क्योंकि दिव्य-सूरियों की ऐसी ही स्थिति देखी जाती है ॥२६५॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि मंगलाशासन के विषय में सब दिव्यसूरियों से श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी महान् हैं।

दिव्यसूरयः सर्व इव न भवति महान्सूरिः ॥२६६॥

अर्थ—(सर्वे) सब (दिव्यसूरयः) दिव्यसूरियों के (इव) बराबर मंगलाशासन के विषय में (महान्) बड़ा (सूरिः) दिव्यसूरि श्रीविष्णुचित्त स्वामी जी (न) नहीं (भवति) हैं। इसीसे कहते हैं कि—सब दिव्यसूरियों के बराबर की तरह श्री विष्णुचित्त स्वामीजी नहीं हैं ॥२६६॥

अबजगद्गुरुजी सब दिव्यसूरियों से श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी में क्या अधिकता है इसको दिखाते हैं कि—

तेषां तत्कादाचित्कमस्य नित्यम् ॥२६७॥

अर्थ—(तेषाम्) और उन दिव्यसूरियों का (तत्) वह मंगलाशासन (कादाचित्कम्) कहीं कहीं कभी कभी देखा जाता हैं और (अस्य) इस दिव्यसूरि श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी का वह मंगलाशासन (नित्यम्) सब काल में "बहुशरदः" इत्यादिक प्रकारों से देखा जाता है। इसीसे कहते हैं कि—दिव्यसूरियों का मंगलाशासनकादाचित्क है, और श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी का मंगलाशासन नित्य है ॥२६७॥

अब प्रबन्धकर्ता श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी के सर्वकालवर्त्ती मंगलाशासन के हेतु को कहते हैं कि—

तेषांनिमज्जनभेवास्योत्थानं भवति ॥२६८॥

अर्थ:—(तेषाम्) अनुभव पर उन दिव्यसूरियों के (निमज्जनम्) दृष्टि और चित्तको अपहार कर मग्न करनेवाले भगवत्त्व का सौन्दर्य (एव) ही निश्चय करके (अस्य) इस श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी के (उत्थानम्) ऊपर ऊपर मंगलाशासन का हेतु (भवति) होता है। इसीसे कहते हैं कि—दिव्यसूरियों का अथाह ही श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी के थाह में ॥२६८॥

अब जगदाचार्यजी दो सौ अरसठवें सूत्र में कहे हुए अर्थ को स्पष्ट दिखाते हैं—

तेषामुभयशेषत्वं विनाश्य स्वरूपं निमज्जयत्तदस्योभयवृद्धिहेतुः सत्स्वरूपमुत्तारयति ॥२६९॥

अर्थ—(तेषाम्) भगवदनुभवैकपर अनुभवालाभमें अतिक्लेश पानेवाले उन दिव्यसूरियों के (उभयशेषत्वम्) भगवत्शेषत्व और उसका

सीमाभूत भागवत शेषत्वरूप उभय शेषत्व को (विनाश्य) विनाश कर भगवत्सौन्दर्य (स्वरूपम्) स्वरूप को (निमज्जयत) निश्चय करके डुबा देता है (तत्) और वहीं भगवत् का सौन्दर्य (अस्य) श्रीविष्णुचित्त स्वामी जी के (उभयवृद्धिहेतुः) भगवत् शेषत्व और उसका सीमाभूत भागवत-शेषत्वरूप उभय शेषत्वकी वृद्धिका हेतु है। इससे (सत्स्वरूपम्) सत् स्वरूप को (उत्तारयति) उतार देता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि सत् किसको कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह लिखा है कि—

नाभावो विद्यते सतः ॥ भगवद्गी० अ० २ श्लो० १६ ॥

सत्का अभाव नहीं होता है ॥१६॥ इसीसे कहते हैं कि दिव्यसूरियों का उभयशेषत्व को नाश कर स्वरूप को डुबानेवाला यह भगवत् सौन्दर्य श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी के उभयशेषत्व को बढ़ाकर सत्स्वरूप को स्थिर करता है ॥६६॥

अबलोकाचार्य स्वामीजी श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी के नित्य मंगलाशासन के कारण को कहते हैं कि—

भयनिवर्तकानां भयोत्पत्तिः, प्रतिकूलानां चानुकूलकरणम् अतीतकालापदानामुत्तरकाले उदरज्वलनं, प्राप्तिफलमिदमेवेत्युक्तिः, अनिमिषान्प्रत्यपि "मा स्वपत मा स्वपत" इत्युक्तिरेवं प्रकारेणेदमेव यात्रा भवति ॥२७०॥

अर्थ—(भयनिवर्तकानाम्) भय को दूर करनेवाले को (भयोत्पत्तिः) भय उत्पन्न करना (च) और (प्रतिकूलानाम्) प्रतिकूलों के (अनुकूलकरणम्) अनुकूल कर लेना (अतीतकालापदानाम्) बीती हुई आपत्तियों के (उत्तरकाले) उत्तरकाल में (उदरज्वलनम्) पेट दाह से जलना (प्राप्तिफलम्) भगवत् प्राप्तिका फल (इदम्) यह मंगलाशासन (एव) ही निश्चय है (इति) ऐसा (उक्तिः कहना और (अनिमिषान्), पलक नहीं गिरनेवाले देवताओं के (प्रति) प्रति (अपि) भी (मा) मत (स्वपत) सोओ (मा) मत (स्वपत) सोओ (इति) ऐसा (उक्तिः) कहना (एवं प्रकारेण) इस पूर्वोक्त

प्रकार से (इदम्) यह मंगलाशासन (एव) ही निश्चय श्रीविष्णुचित्तस्वामी जीकी (यात्रा) निर्वाहकवृत्ति (भवति) है। इसीसे कहते हैं कि—भय को दूर करनेदालोंको भय करना और प्रतिकूलोंको भी अनुकूल बना लेना अतीतकाल के चेष्टितों को उत्तरकाल में दुःख भगवत् प्राप्ति का फल मंगलाशासन ही कहना, देवताओं को मत सोओ मत सोओ ऐसा कहना इस प्रकार से यह मंगलाशासन ही श्रीविष्णुचित्तस्वामजी की यात्रा है ॥२७०॥

अब प्रबन्धकर्त्ता श्रीविष्णुचित्त स्वामजीके बनाये हुए प्रबन्धमें अन्य दिव्यसूरियोंके बनाये हुए प्रबन्धोंसे जो विशेषता है, उसको कहते हैं कि—

इतरवच्छृण्वतामुपदिशतां चासहायतानिवृत्यर्थं न भवति "दासाश्च न सन्ति" इति तस्या सहायता निवृत्यर्थं भाष्यकारोऽयंचोपदिशतः ॥२७१॥

अर्थ—(इतरवत्) प्रबन्ध के विषय में अन्य दिव्यसूरि और आचार्यों की तरह (श्रृण्वताम्) सुननेवाले (च) और (उपदिशताम्) उपदेश देनेवालों के (असहायतानिवृत्यर्थम्) अनादि अज्ञान से सहायभूत भगवद् विषय को छोड़-संचार करनेसे आई हुई असहायता और वक्ता अपनेको भगवद्गुणानुसंधान दशामें परस्पर बोध न करने के लिये सहायरहित होनेसे आई हुई असहायता इन दोनों असहायताको दूर करनेके लिये (न) नहीं (भवति) है (च) और (दासाः) दास सब (न) (सन्ति) हैं (इति) ऐसा (तस्य) उस सर्वेश्वर की (असहायतानिवृत्यर्थम) असहायताको दूर करने के लिये (भाष्यकारः) श्रीभाष्यद्वारा वेदान्तके तात्पर्य को निर्णय कर करनेवाले शेषावतार यतिराज रामानुजाचार्य स्वामीजी ने (च) और (अयम्) यह दिव्यसूरि श्रीविष्णुचित्त स्वामीजीने (उपदिशतः) अपने बनाये हुए प्रबन्धों में उपदेश दिया है। इसीसे कहते हैं कि अन्यसूरियों की तरह सुननेवाले और कहनेवालेकी असहायताको दूर करने के लिये नहीं है, और दास नहीं है ऐसा उस स्वामीजीकी असहायताको दूर करने के लिये श्रीभाष्यकार और विष्णुचित्त श्रीस्वामीजीका उपदेश है।२७१।

अब जगदाचार्य जी यह कहते हैं कि श्रीविष्णुचित्तस्वामीजी की स्वसत्ता और समृद्धि मङ्गलाशासनसे ही है।

अन्येषां सत्तासमृद्धी दर्शनानुभवकैंकर्यैः अस्य मंगलाशासनेन ॥२७२॥

अर्थ :—(अन्येषाम्) भगवत् के दर्शन तथा अनुभव और कैंकर्यको चाहनेवाले अन्य दिव्यसूरियों की (सत्तासमृद्धी) आत्मधारणरूपसत्ता और ऊपर ऊपर आनन्द वृद्धि ये दोनों (दर्शनानुभवकैंकर्यैः) भगवत् के दर्शनसे तथा "किरीटज्योति" प्रभृति दशक में हुए अनुभव से और 'विच्छेदरहित काल' दशक में क्रियमाण कैंकर्यसे होते हैं। (अस्य) इस दिव्यसूरि श्री विष्णुचित्तस्वामीजी की आत्मधारणरूपसत्ता और ऊपर ऊपर आनन्दवृद्धि ये दोनों (मङ्गलाशासनेन) सर्वकालवर्ती मङ्गलाशासन से होते हैं। इसीसे कहते हैं कि अन्य दिव्यसूरियों की सत्ता और समृद्धि भगवत् के दर्शन तथा अनुभव और कैंकर्यों से है और इस श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी की सत्ता और समृद्धि दिव्यमंगलाशासनसे होती है ॥२७२॥

अब श्रीवचनभूषणकार दो सौ अण्ठावनवें सूत्रमें कहे हुए मंगलाशासन की अवश्यकर्त्तव्यता को कहते हैं कि—

अभिमतस्थलान्यनुसंहितानि चेदस्य यात्रैवास्माकं सर्वेषां यात्रा स्यात् ॥२७३॥

अर्थ— अभिमतस्थलानि) अर्चावतार भगवान् के अभिमत श्रीरङ्गम्, काञ्ची, वेंकटाद्रि प्रभृति दिव्य देशों को (अनुसंहितानि) अनुसन्धान करनेपर (चेत्) भोजन और निद्राओं में सम्बन्ध छोड़कर अधिक प्रेम से युक्त (अस्य) इस विष्णुचित्त स्वामीजी की (यात्रा) मङ्गलाशासन रूप यात्रा (एव) ही निश्चय (अस्माकम्) शेष भूत हम (सर्वेषाम्) सबोंकी भी सर्वदा (यात्रा) यात्रा (स्यात्) होगी। इसीसे कहा है कि—दिव्य देशोंको अनुसन्धान करने पर भोजन और निद्राको छोड़कर श्रीविष्णुचित्त स्वामीजी की यात्रा ही हम सबों की यात्रा होगी ॥२७३॥

अब जगद्गुरुजी पूर्वोक्त मङ्गलाशासन रूप अर्थको समाप्त करते हैं कि—

तस्मान्मंगलाशासनं स्वरूपानुरूपम् ॥२७४॥

अर्थ :- (तस्मात्) इस प्रकार शेषभूत सब जीवों के अवश्य कर्तव्य होने से (मंगलाशासनम्) भगवत् का मंगलाशासन करना (स्वरूपानुरूपम्) चेतन के स्वरूप के अनुरूप है। अर्थात् शेष वस्तु का स्वरूप शेषी के

अतिशय करने से ही प्रकाशता है इसलिए शेषीका मंगलाशासन करना स्वरूपानुरूप ही है। इसीसेकहा है कि—इसलिये मंगलाशासन स्वरूप के अनुरूप है ॥२७४॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी अनुकूलों के लक्षण को कहते हैं कि—

अनुकूला ज्ञानभक्तिवैराग्याणि प्रवेश्यनिष्कासिता इवाकारे ज्ञातुंयोग्याः परमार्ताः ॥२७५॥

अर्थ—(अनुकूलाः) अनुकूलके लक्षण क्या हैं कि जो (ज्ञानभक्तिवैराग्याणि) तत्वयाथात्मज्ञान तथा भगवत् के विषय भक्ति और इन दोनों से होनेवालीभगवदन्य विषय विरक्ति इन तीनों को (प्रवेश्य) प्रवेश कराकर (निष्कासिताः) पहले से स्थित कामादिकों को निकालनेवाले को (इव) तरह (आकारे) आकार से (ज्ञातुम्) जानने (योग्याः) योग्य है। अर्थात् त्याज्योपादेय विवेक पूर्वक चलने से ज्ञान जाना जाता है तथा आह्लादसे शीत नेत्र का जल पाँव स्तब्ध होता है। नेत्र का जल ठहरता नहीं इत्यादिसे भक्ति आकार से जानी जाती है। और विषयों की अपेक्षा करने से वैराग्य भी आकार ही से जाना जाता है (परमार्ताः) संसार में असह्यता और भगद्विषय की अप्राप्ति इन दोनोंसे अत्यन्त अधिक आर्तिवाले होते हैं। यही अनुकूलों का लक्षण है। अब यहाँपर यह प्रश्न होता है कि भक्ति कितने प्रकार की है और कौन कौन सी? इस प्रश्न का उत्तर हारीत स्मृति में लिखा है कि—

शंखचक्रोर्ध्वपुंड्रादिधारणं स्मरणं हरेः ॥
तन्नामकीर्तनं चैव तन्निवेदितभोजनम् ॥
तत्पादवन्दनं चैव तत्पादांबुनिषेवणम् ॥
एकादश्युपवासश्च तुलस्या अर्चनं हरेः ॥
तदीयानामर्चनं च भक्तिर्नवविधा स्मृता ॥ हारीतस्मृ०

शंख, चक्र और ऊर्ध्वपुंड्रादिक को धारण करना तथा विष्णु का चिन्तवन करना और विष्णु का नाम संकीर्तन करना तथा विष्णु का भोग लगाया हुआ हमेशा भोजन करना और विष्णु के चरणारविन्दों की वन्दना करना तथा विष्णु के चरणोदक को सेवन करना और एकादशी

को उपवास करना तथा तुलसी दल से विष्णु की मूर्ति की पूजा करना और भागवतों की पूजा करना यही नव प्रकार की भक्ति कही गई है। पद्मपुराण में तो सोलह प्रकार को भक्ति कहो गई है,

आद्यं तु वैष्णवं प्रोक्तं शंखचक्रांकनं हरेः। धारणं चोर्ध्व-पुड्राणां तन्मंत्राणांपरिग्रहः॥ कीर्तनं श्रवणंचैव वन्दनं पादसेवनम्॥ तत्पादोदकसेवा च तन्निवेदितभोजनम्॥ तदीयानां चसेवा च द्वादशीव्रतनिष्ठितम्॥ तुलसीरोपणं विष्णोर्देवस्य शार्ङ्गिणः॥ भक्तिः षोढशधाप्रोक्ता भवबन्धविमुक्तये। पद्मपुराण०॥

पहले वैष्णव होना तथा शंख, चक्र धारण करना और उर्ध्वपुंड्र धारण कारना तथा चकार से भगवत् सम्बन्धी नाम रखवाना और मूल मंत्र, द्वयमत्र तथा चरम श्लोक को ग्रहण करना तथा विष्णु का नाम संकीर्तन करना और विष्णु के चरित्रों को सुनना तथा चकार से विष्णु के दिव्य मंगल विग्रह को चिन्तवन करना और विष्णु की स्तुति करना तथा विष्णु का पाद सेवन करना और विश्णु का चरणोदक पान करना तथा विष्णु का भोग लगाया हुआ भोजन करना और चकार से आत्म निवेदन करना तथा भागवतों की सेवा करना और द्वादशी व्रतमें निष्ठा रखना तथा तुलसी रोपना, देवों के देवशार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले विष्णु भगवान की सोलह प्रकार की यह भक्ति संसार के बन्धन को छुड़ाने के लिए है॥ इस प्रकार के पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर होने पर तो फिर से प्रश्न होता है कि वैराग्य किसको कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

॥दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥

पातञ्जलयोग० अ० १ पा० १ सू० १५॥

तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥१६॥

देखे हुए सुत, वित, नारी आदि की तृष्णा नहीं करना और सुने हुए ब्रह्मादिक भोगों की भी तृष्णा नहीं करना इसीको वशीकार नाम का वैराग्य कहते हैं॥१५॥ इससे भी श्रेष्ठ पुरुष ख्याति से गुणों से रहित होना गुणवैतृष्ण्य नाम का वैराग्य है॥१६॥ इसीसे कहा है कि—

अनुकूल यानी ज्ञान भक्ति और वैराग्य को प्रवेश कराकर भीतर के कामादिक को बाहर निकाल देनेवाले की तरह आकार से जानने योग्य अत्यन्त आर्त ॥२७५॥

अब प्रबन्धकर्ता अनुकूल के सहवास फल को कहते हैं कि—

एकस्मिन् केदारे जलपूर्णे स्थिते समीपकेदारो यथा आर्द्रो भवति तथैतद्रहितानामप्येतेषां सम्बन्धेन ग्लानिनिवृत्तिर्जायेत ।२७६।

अर्थ— (एकस्मिन्) एक (केदारे) खेत में (जलपूर्णे) जलपूर्ण (स्थिते) होने पर तो (समीपकेदारः) सुखा हुआ पास का खेत उसके सम्बन्ध से (यथा) जैसे (आर्द्रः) गीला (भवति) हो जाता है (तथा) वैसे ही (एतद्रहितानाम्) ज्ञान तथा भक्ति और वैराग्य इन सबों के नहीं होने पर (अपि) भी (एतेषाम्) ज्ञान, भक्ति और वैराग्यवाले इन अनुकूलों के (सम्बन्धेन) सहवास रूप सम्बन्ध से (ग्लानिनिवृत्तिः) ज्ञान, भक्ति और वैराग्यवाले हो दुःख-निवृत्ति (जायेत) हो जाती है। इसी से कहा है कि— एक खेत जल से पूर्ण हो तो पास का खेत जैसे गीला हो जाता है वैसे ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के होने पर भी अनुकूलों के सहवास रूप सम्बन्ध से दुःख की निवृत्ति हो जाती है ॥२७६॥

अब जगद्गुरुजी इनके सहवास से आर्द्र होने मात्र बिना ये स्वभाव विशेष प्राप्ति के पहले पूर्णतया उत्पन्न होंगे ऐसा कहते हैं कि—

नदीजल आसन्ने यथा तदनुरूपलिंगानि जायन्ते तथा प्राप्तावासन्नायामेते स्वभावविशेषाः स्वत एव वर्द्धेरन् ॥२७७॥

अर्थ — (नदीजले) सूखी हुई नदी में जल का प्रवाह (आसन्ने) आने वाला हो तो (यथा) जैसे (तदनुरूपलिंगानि) जल के अनुरूप चिह्न रेती गीला होना आदिक (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं (तथा) वैसे ही (प्राप्तौ) भगवत् प्राप्ति के (आसन्नायाम्) समीप होने पर उसका सूचक (एते) ये ज्ञान, भक्ति और वैराग्य (स्वभावविशेषाः) स्वभावविशेष (स्वतः) अपने से (एव) ही निश्चय (वर्द्धेरन्) बढ़ते हैं। इसी से कहते हैं कि नदी में प्रवाह आनेवाला हो तो जैसे जल के सूचक चिह्न उत्पन्न होते हैं वैसे ही भगवत् प्राप्ति समीप होने पर ये ज्ञानादिक स्वभाव विशेष अपने से ही बढ़ते हैं ॥२७७॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि ज्ञानादिक के उत्पन्न होने पर अपने वर्तमान ही देह को अन्तिम देह है ऐसा निश्चय कर सकता है।

एतान्यादाय चरमशरीरमिति स्वेनैव निश्चेतुं शक्यम् ॥२७८॥

अर्थ— (एतानि) इस प्रकार ऊपर-ऊपर नवनवोन्वेष रूप से उत्पन्न होनेवाले इन ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को (आदाय) ग्रहण कर इसके बाद अब मुझको एक शरीर भी नहीं प्राप्त होगा। (चरम-शरीरम्) यही अन्तिम शरीर है (इति) ऐसा (स्वेन) अपने से (एव) ही (निश्चेतुम्) निश्चय कर (शक्यम्) सकता है। इसी से कहा है कि — इन ज्ञानादिकों को देखकर यही चरम शरीर है ऐसा अपने से ही निश्चय कर सकता है ॥२७८॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी प्रतिकूलों के लक्षण को कहते हैं कि—

प्रतिकूला भवन्ति देहात्माभिमानिनः स्वतंत्रा अन्य-शेषभूता उपायान्तरनिष्ठाः स्वप्रयोजनपराः एतेषा-मुद्देश्या उपायोपेयाश्च भिन्नभिन्नाः ॥२७९॥

अर्थ— (प्रतिकूलाः) प्रतिकूल किसको कहते हैं कि जो अधोलिखित प्रकार के (भवन्ति) हैं (देहात्माभिमानिनः) दीखनेवाले देह से अन्य आत्मा है ऐसा न जान देह में अहंबुद्धि कर देह ही को आत्मतया जानने वाले देहात्माभिमानी (स्वतंत्राः) देहातिरिक्त आत्मवस्तु को जानकर भी उस जीवात्मा को स्वतंत्र जान किसी का शेष नहीं माननेवाले स्वतंत्र (अन्यशेषभूताः) शेषत्व को मान कर भी उसे अन्य विषय में विनियोग करने वाले अन्य शेष भूत (उपायान्तरनिष्ठाः) प्राप्त शेषी सर्वेश्वर के शेषभूत होने पर भी उसकी प्राप्ति का उपाय उसके चरणारविन्द की शरणागति को न समझ कर कर्मादि उपायों को आश्रयण करने वाले उपायान्तरनिष्ठ (स्वप्रयोजनपराः) प्राप्तशेषी के चरणारविन्द को उपायतया स्वीकार करने पर भी शरणागति को उपाय मानकर उपेयभूत कैंकर्य को अपना भोग्य मानने वाले स्वप्रयोजन पर यही सब प्रतिकूल है (एतेषाम्) इन प्रतिकूल अधिकारियों के (उद्देश्याः) आदरणीय उद्देश्य (च) और (उपायोपेयाः) अपने अभिमत पुरुषार्थ का साधन तथा अपने अभिमत पुरुषार्थ उपेय (भिन्नभिन्नाः) अपनी रुचि के अनुगुण भिन्न-भिन्न हैं। इसी से कहते हैं कि— प्रतिकूल माने देहात्माभिमानी स्वतंत्र अन्यशेषभूत उपायान्तरनिष्ठ और स्वप्रयोजन पर हैं। इन प्रतिकूल अधिकारियों के उद्देश्य और उपाय तथा उपेय ये भिन्न-भिन्न हैं ॥२७९॥

अब प्रबन्धकर्त्ता देहात्माभिमानियों के विवरण करते हैं कि—

देहात्माभिमानिनामुद्देश्या देहवर्द्धका मनुष्याः ।
उपायोऽर्थः उपेयमैहिकभोगः ॥२८०॥

अर्थ — (देहात्माभिमानिनाम्) देह को आत्मा समझनेवालों का (उद्देश्याः) आदरणीय उद्देश्य (देहवर्द्धकाः) धारक, पोषक भोग्य पदार्थों से बढ़ाने वाले देह को (मनुष्याः) मनुष्य है तथा (उपायः) अभिमत सिद्धि का उपाय (अर्थः) धन है और (उपेयम्) अभिमत उपेय (ऐहिकभोगः) इस लोक का स्त्री अन्नपानादि विषयानुभव है। जिस ऐहिक भोग के विषय में लिखा है कि—

योसिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्माह्यु पभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥
॥ श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० ८ श्लो० ८ ॥

स्त्री, सोना, भूषण, वस्त्र, अन्नपानादिक, मायारचित द्रव्यों में उपभोगबुद्धि से लुभाया हुआ अन्तःकरणवाला नष्ट दृष्टि मूढ़ फतिङ्गा के समान नाश को प्राप्त करता है ॥८॥ इसी से कहते हैं कि— देहात्माभिमानियों का उद्देश्य देहवर्द्धक मनुष्य है तथा उपाय अर्थ है ओर उपेय ऐहिक भोग है ॥२८०॥

अब जगदाचार्यजी स्वतंत्रों का विवरण करते हैं कि—

स्वतंत्राणामुद्देश्याः स्वर्गादिभोगप्रदाः उपायः कर्मानुष्ठानम् उपेयं स्वर्गादिभोगः ॥२८१॥

अर्थ :— (स्वतंत्राणाम्) देह से अन्य आत्मा है वह ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व विशिष्ट है ऐसा शास्त्र द्वारा जानकर अपने को स्वतंत्र मानने वालों का (उद्देश्याः) आदरणीय उद्देश्य (स्वर्गादि-भोगप्रदाः) अनुष्ठितसधानुरूप स्वर्गादि भोगों को देनेवाले इन्द्रादि देवता हैं (उपायः) उपाय ॥

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत ॥

स्वर्ग चाहनेवाले ज्योतिष्टोमयज्ञ करें ॥ इत्यादि से कहे हुए (कर्मानुष्ठानम्) यागादिक कर्मनुष्ठान हैं (उपेयम्) उपेय (स्वर्गादिभोगः) ऐहिक भोग से विलक्षण स्वर्गादिक का भोगानुभव है। जिस स्वर्गादि भोग के विषय में लिखा है कि—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकंविशन्ति ॥
॥भगवद्गी० अ० ९ श्लो० २१ ॥

वे सब उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं ॥२१॥ और भी लिखा है।क—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः ॥
श्रीमद्भा० ११ अ० १० श्लो० २६ ॥

तबतक स्वर्ग में आनन्द करता है जबतक पुण्य समाप्त होता है।

पुण्य के क्षीण होने पर काल से चालित इच्छा नहीं भी करता हुआ नीचे गिरता है ॥२६॥ इसीसे कहते हैं कि— स्वतंत्रों का उद्देश्य स्वर्गादि भोग को देनेवाले इन्द्रादि देवता हैं तथा उपाय कर्मानुष्ठान है और उपेय स्वर्गादि भोग हैं ॥२८१॥

अब श्रीवचनभुषणकार अन्यशेष भूतों के विवरण को कहते हैं कि—

अन्यशेषभूतानामुद्देश्याः ब्रह्मरुद्रादयः उपायस्तत्समाश्रयणम् उपेयं तत्सायुज्यम् ।२८२।

अर्थ — (अन्यशेषभूतानाम्) शेषत्व को मानकर भी उसको परदेवता पर्यन्त न जाने दे आपात प्रतीति सिद्ध देवताओं में एक को आश्रयण कर रहनेवाले अन्य शेषभूतों का (उद्देश्याः) आदरणीय उद्देश्य (ब्रह्मरुद्रादयः) ब्रह्मा रुद्र आदिक हैं (उपायः) उपाय (तत्समाश्रयणम्) दुःख से आराधना करने योग्य उनके विषय में क्रियमाण आश्रयण है (उपेयम्) उपेय (तत्सायुज्यम्) उनके समान भोगरूप सायुज्य है। जिस ब्रह्मादिक के विषय में लिखा है कि—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥

श्रीमद्भगवद्गी० अ० ८ श्लो० १६ ॥

हे अर्जुन ब्रह्मा के लोक से लेकर सब लोग फिर से जन्म मरण लेने वाले हैं ॥१६॥ इससे कहते हैं कि— अन्य शेषभूतों का उद्देश्य ब्रह्मा रुद्र आदिक हैं तथा उपाय उनका आश्रयण है और उपेय उनका सायुज्य है ॥२८२॥

अब जगद्गुरुजी उपायान्तरनिष्ठों का विवरण करते हैं कि—

उपायांतरनिष्ठानामुद्देश्यो देवतांतर्यामीश्वरः उपायः कर्मज्ञानभक्तयः उपेयं भगवदनुभवः ॥२८३॥

अर्थ— (उपायान्तरनिष्ठानाम्) आत्मस्वरूप भगवदनन्यार्हशेषभूत है ऐसा वेदान्त द्वारा जान कर अभिमत लाभ के लिये ईश्वर को ही उपायतया स्वीकार न कर उपायान्तरों को करनेवालों का (उद्देश्यः) आदरणीय उद्देश्य (देवतान्तर्यामीश्वरः) अग्नि, इन्द्रादि देवताओं का अन्तर्यामी सर्वेश्वर हैं (उपायः) उपाय (कर्मज्ञानभक्तयः, कर्म, ज्ञानभक्ति हैं (उपेयम्) उपेय भगवदनुभव है। क्योंकि लिखा है कि—

सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥

॥ तैत्तिरीयोप० ब्रह्मानन्दवल्ली० २ अनुवा० १ ॥

सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ वह मुक्त पुरुष सब गुणों का अनुभव करता है ॥१॥ इसीसे कहते हैं कि— उपायान्तरनिष्ठों का उद्देश्य देवतान्तर्यामी सर्वेश्वर हैं तथा उपाय कर्मज्ञान भक्ति है और उपेय भगवदनुभव है ॥२८३॥

अब प्रबन्धकर्ता स्वप्रयोजन-परों का विवरण करते हैं कि—

स्वप्रयोजनपराणामुद्देश्योऽर्चावतार ईश्वरः उपायः स्वकृतमाश्रयणम् उपेयं स्वार्थकैंकर्यम् ॥२८४॥

अर्थ— (स्वप्रयोजनपराणाम्) कर्मादि उपायों में दुष्करत्वबुद्धि से उनको छोड़ सुलभ समझ प्रपत्ति में निष्ठावाले स्वप्रयोनजपरों का (उद्देश्यः) आदरणीय उद्देश्य (अर्चावतारः) आश्रित लोग जिस द्रव्य से ईश्वर की मूर्ति बनाते हैं उसी अर्चाविग्रह में अत्यादरपूर्वक सन्निधि करते हुए अत्यन्त सुलभ अर्चावतार (ईश्वरः) ईश्वर है (उपायः) उपाय (स्वकृतम्) स्वगत स्वीकाररूप (आश्रयणम्) अनिष्ट निवृत्ति और इष्ट प्राप्ति के लिए सर्वेश्वर ही को उपायतया आश्रयण करना है (उपेयम्) उपेय (स्वार्थकैंकर्यम्) स्वमुखोल्लासार्थ क्रियमाण कैंकर्य है। इसीसे कहते हैं कि स्वप्रयोजनपरों का उद्देश्य अर्चावतार ईश्वर हैं तथा उपाय स्वगत स्वीकाररूप आश्रयण है और उपेय स्वार्थ कैंकर्य है ॥२८४॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन अधिकारी भगवत्संबन्ध से रहित हैं और दो अधिकारी भगवत्संबन्ध से संयुक्त हैं।

पूर्वोक्तास्त्रयो निग्रहस्य विषयाः अन्यौ द्वावनुग्रहस्य विषयौ ॥२८५॥

अर्थ— (पूर्वोक्ताः) पहले कहे हुये देहात्माभिमानी तथा स्वतंत्र और अन्य शेषभूत ये (त्रयः) तीनों अधिकारी भगवत्संबन्ध होने से (निग्रहस्य) भगवन्निग्रह के (विषयौ) विषय हैं और (अन्यौ) अन्य उपायान्तरनिष्ठ तथा स्वप्रयोजनपर ये (द्वौ) दोनों अधिकारी भगवत्संबन्ध युक्त होने से

(अनुग्रहस्य) भगवदनुग्रह के (विषयौ) विषय हैं क्योंकि लिखा है कि—

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

॥ भगवद्गी० अ० १६ श्लो० १९ ॥

बारम्बार, भगवत्संबन्ध से रहित पापियों को शूकर, कूकर आदि आसुरी योनियों में ही उत्पन्न करता हूँ ॥१९॥ और—

सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि ॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लो० ६६ ॥

भगवत्संबन्ध के होने से संपूर्ण पापों से छुड़ा दूँगा ॥६६॥ इसीसे कहते हैं कि पहले कहे हुये, तीनों निग्रह के विषय हैं और अन्य दोनों अनुग्रह के विषय हैं ॥२८५॥

अब श्रीवचनभूषणकार इन सब अधिकारियों के कर्मनाश के हेतु भिन्न होने से होनेवाले तारतम्य को दिखाते हैं कि—

त्रयाणामपि कर्मानुभवविनाश्यं, चतुर्थाधिकारिणः प्रायश्चित्तविनाश्यं पञ्चमाधिकारिणः पुरुषकारविनाश्यम् ॥२८६॥

अर्थ—(त्रयाणाम्) भगवन्निग्रह विषयभूत देहात्माभिमानी तथा स्वतंत्र और अन्यशेषभूत इनतीनों का (अपि) भी(कर्म) अनादिकालार्जित सत् और असत् कर्म (अनुभवविनाश्यम्) भोगने से नष्ट होता है तथा (चतुर्थाधिकारिणः) भगवदनुग्रह विषयभूत उपायान्तर निष्ठ चौथे अधिकारी का अनादिकाल से इकट्ठा किया हुआ अच्छा और बुरा कर्म, (प्रायश्चित्तविनाश्यम्) कर्म, ज्ञान भक्तियों के अनुष्ठान रूप प्रायश्चित्त से नष्ट होता है और (पञ्चमाधिकारिण.) स्वप्रयोजनपर प्रपत्ति में निष्ठा करनेवाले पाँचवें अधिकारी का अनादि काल से इकट्ठा किया हुआ अच्छा औरबुरा कर्म (पुरुषकारविनाश्यम्)श्री महालक्ष्मीजी के पुरुषकार करने से नष्ट होता है। इसीसे कहा है कि तीन अधिकारियों का कर्म अनुभव से नष्ट होता है। चौथे अधिकारी का कर्म प्रायश्चित्त से नष्ट होता है पांचवें अधिकारी का कर्म पुरुषकार से नष्ट होता है॥२८६॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि शरणागति करने के समय में सिद्धोपाय चेतन और पुरुषकार इन दोनों की अपेक्षा करता है।

उपायः स्वीकारे पुरुषसापेक्षः पुरुषकार सापेक्षश्च भवेत् ।२८७।

अर्थ — (उपायः) दूसरे सहाय के सम्बन्ध को नहीं सहनेवाला सिद्धोपाय (स्वीकारे) भगवत् की शरणागति को स्वीकार करने के समय में (पुरुषसापेक्षः) स्वीकार करनेवाले चेतन की अपेक्षा (च) और (पुरुषकारसापेक्षः) स्वीकार करानेवाले पुरुषकार की अपेक्षा (भवेत्) करता है। इसीसे कहा जाता है कि— उपाय स्वीकार काल में चेतन और पुरुषकार की अपेक्षा करते हैं ॥२८७॥

अब जगदाचार्य जी यह कहते हैं कि कार्य करने के समय में चेतन और पुरुषकार इन दोनों की अपेक्षा नहीं होती है।

कार्यकाल उभयनिरपेक्षश्च भवेत् ॥२८८॥

अर्थ— (च) और शरणागति को स्वीकार करने पर परमेश्वर (कार्यकाले) अनिष्ट निवृत्ति पूर्वक इष्ट प्राप्ति रूपकार्य करने के समय में (उभयनिरपेक्षः) चेतन और पुरुषकार इन दोनों की अपेक्षा नहीं (भवेत्) करता है। इसी से कहा है कि— कार्य करने के समय में उभय निरपेक्ष होता है ॥२८८॥

अब प्रबन्धकर्ता स्वप्रयोजन पर सब प्रतिकूल हैं इस बात को कहते हैं कि—

स्वप्रयोजनपराः सर्वे प्रतिकूला इति कथमुच्यन्ते इति चेत् ॥२८९॥

अर्थ— (स्वप्रयोजनपराः) अनुभव कैंकर्य के आश्रयभूत चेतन का अविद्यादिदोष से होनेवाला स्वप्रयोजन उसमें लग्न (सर्वे) सब (प्रतिकूलाः) प्रतिकूल हैं (इति) ऐसा (कथम) कैसे (उच्यन्ते) कहते हैं (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो तो इसका उत्तर दो सौ नब्बे सूत्र में लिखा है। इसीसे कहा है कि स्वप्रयोजन पर सबको प्रतिकूल समझ सकते हैं क्या ॥२८९॥

अब जगद्गुरुजी दो सौ नवासी सूत्र में कहे हुए का परिहार करते हैं कि—

अत्र स्वप्रयोजनमित्याश्रयदोषजन्यमुच्यते ॥२९०॥

अर्थ—(अत्र) प्रतिकूलतया कहने के इस स्थल में (स्वप्रयोजनम्) अनुभव कैंकर्यका आश्रयभूत चेतन का अविद्यादि दोष से होनेवाला स्वप्रयोजन (इति) ऐसा (उच्यते) कहते हैं (आश्रयदोषजन्यम्) आश्रय दोषसे होनेवाले दोषको इसी से कहा है कि—यहाँ पर स्वप्रयोजन कहते हैं आश्रय दोषसे होनेवाले दोषको ॥२९०॥

अब श्रीवचनभूषणकार पूर्वोक्त अर्थ को समाप्त करते हैं कि—

अतो न दोषः ॥२९१॥

अर्थ – (अतः) दिव्य सूरियों का स्वप्रयोजन विषय दोष जन्य होनेसे (दोषः) दोष (न) नहीं हो सकता है। इसीसे कहा है कि—इससे दोष नहीं है ॥२९१॥

अब जगदाचार्य जी कहते हैं कि विषय दोषसे होनेवाले सब दुस्त्यज हैं।

विषयदोषप्रयुक्तानि सर्वाणि दुस्त्यजं खलु ॥२९२॥

अर्थ—(विषयदोषप्रयुक्तानि) अनुभव विषय भूत उनका वज्र द्रावक पुरुषों को भी स्त्री बनानेवाले विग्रह सौन्दर्यरूप दोष से होनेवाली स्वप्रोजनपरता, उसका हेतु प्रावण्य, उसको सिद्धि के लिए क्रियमाण (सर्वाणि) सम्पूर्ण व्यापार (खलु) निश्चय करके (दुस्त्यजम्) स्वरूप विरुद्ध मानकर छोड़नेका विचार करने पर भी दुस्त्यज हैं। ॥२९२॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी विषय दोषसे होनेवाले दुस्त्यज हैं इस विषयमें दो प्रमाण कहते हैं कि—

मूकैर्बधिराणां वार्ता "कथमन्यदिच्छति"॥२९३॥

अर्थ—(मूकैः) गूँगोंके साथ (बधिराणाम्) बहरे की (वार्ता) वार्ता और (कथम्) कैसे (अन्यत्) अन्य संसार के क्षुद्र विषयको (इच्छति)

इच्छा कर सकता है। इस दो सौ तिरानबवें सूत्र में "मूकैर्वधिराणां वार्ता" ये जो पद हैं वे गोदादेवीजीके पासुरके हैं। इसका आशय यह है कि परमात्मासे ही फल प्राप्त होता है। ऐसा निश्चय करनेपर उनके आने पर्यन्त कर्म प्राप्तिको देखकर सहना चाहिये तुम्हें ऐसी त्वरा न होनी चाहिये। ऐसा माताओंके वचन को सुनकर इस विषयमें प्रावण्य रहित हमारी इस स्थिति का मूलभूत तुम हमारी दशाको नहीं जान सकते हो। वह ऐसा दिन रात कहने योग्य श्रियः पतिके विषयमें प्रेम पूर्णतया पाई हुई और उनकी अप्राप्ति से जिनको अशक्य मैं भगवत् के स्थानमें जा प्राप्त होना उचित होनेपर भी शिथिल पैरवाली मुझसे उनके साथ नहीं मिलनेके लिए कही हुई तुम लोगों की वार्ता सुननेको कान रहित बहिरोंके साथ कहनेको बोलनेकी शक्ति रहित गूंगोंकी वार्ताके सदृश है। ऐसादेवीजीने कहा है। और दो सौ तिरानबवें सूत्रमें "कथमन्यदिच्छति" यह वाक्य यामुनाचार्य स्वामीका बनाये हुए अलवन्दारस्तोत्रके तीसवें श्लोकका प्रतीक है। इससे पहले उस संपूर्ण श्लोकको लिख कर उसके अर्थको लिखताहूँ कि—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते॥

॥आलवं० श्लो० ३०॥ हे स्वामिन् अमृतका स्राव करने वाले आपके चरणारविन्दमें आत्म समर्पण करनेवाले पुरुष संसारकी अन्य क्षुद्र वस्तुकी कैसे इच्छा कर सकता है। फल के रससे भरे हुए कमल स्थित रहने पर भ्रमर तालमखानको निश्चय करके विशेषरूपसे नहीं देखता है॥३०॥ इस श्लोक का विशेष अर्थ जिसको जानना हो वह मेरी आलवन्दार स्तोत्रकी "भावप्रकाशिका" टीका को देख ले। इसीसे कहते हैं कि – गूंगोंके साथ बहरों की वार्ता और अन्य क्षुद्र विषयको कैसे इच्छा कर सकता है॥२९३॥

अब श्रीवचनभूषणकार दो सौ अन्ठावनवें सूत्रमें कहे हुए "सदाचार्यनुग्रहसे जैसे बढ़े वैसे वर्तन करना चाहिये" इस वाक्यको विवरण करते हैं कि –

एवमेतेषां सर्वेषां सदाचार्यप्रसादेन वर्द्धनसमये

वस्तव्यमाचार्यसन्निधिर्भगवत्सन्निधिश्च, वक्तव्यमाचार्यवैभवः स्वनिकर्षश्च, जप्तव्यं गुरुपरम्पराद्वयं च, परिग्राह्यं पूर्वाचार्यवचनमनुष्ठानं च, परित्याज्योऽवैष्णवसहवासोऽभिमानश्च कर्तव्यमाचार्यकैंकर्यं च ॥२९४॥

अर्थ—[एवम्] पूर्वोक्त प्रकारसे [एतेषाम्] इन [सर्वेषाम्] सब गुणोंके [सदाचार्यप्रसादेन] सदाचार्य के अनुग्रहसे [वर्द्धनसमये] बढ़नेके समयमें [वस्तव्यम्] इस चेतनके वास करने योग्य स्थल [आचार्यसन्निधिः) हितचिन्तक उपदेशादियोंसे सद्गुणोंके जनक अपने आचार्यकी सन्निधि है (च) और (भगवत्सन्निधिः) अर्चावतारस्वरूप भगवत्की सन्निधि है। इसमें आचार्य सन्निधि हो प्रधान है, क्योंकि भगवद्वाक्य है कि—**गुरुणा सह संवासस्तदभावे मयापि वा ॥** आचार्यके साथ वास करना। वह न मिले तो अर्चावतार हमारे साथ वास करना और—'वक्तव्यम्' इस चेतन का सर्वदा वाक्य से कहने योग्य (आचार्यवैभवः) दुर्गति को भेंट समझ कर अंगीकार करनेवाले आचार्य की दया क्षान्ति आदिक वैभव है (च) और स्वनिकर्षः, अपनी नीचता है। क्योंकि इन दोनों को श्रीमधुर कविसूरिजी ने 'ग्रन्थिपूर्ण सूक्ष्मरज्जु' नामक प्रबन्ध में स्पष्ट कहा है और (जप्तव्यम्) इस चेतन का कालक्षेप ओर भोगने के लिए रहस्यतया अनुसंधान करने योग्य [गुरुपरम्परा] अपनी गुरु-परम्परा है [च] और [द्वयम्] स्वाचार्य से अपने को उपायतया उपदिष्ट द्वयमंत्र है क्योंकि गुरुपरंपरा के विषय में लिखा है कि—**लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम् ॥ अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।** नारायण भगवान से प्रारम्भ हुई और नाथाचार्य तथा यामुनाचार्य मध्यवाली और अस्मदाचार्य पर्यन्त गुरु परंपरा को अभिवादन और स्तुति करता है। अर्थात् रामानुजाचार्य स्वामीजीके

आचार्य महापूर्णाचार्य स्वामीजी हैं और महापूर्णाचार्य स्वामीजी के आचार्य यामुनाचार्य स्वामीजी हैं तथा यामुनाचार्य स्वामीजी के आचार्य राममिश्राचार्य स्वामीजी हैं और राममिश्राचार्य स्वामीजी के आचार्य पद्माक्षाचार्य स्वामीजी हैं। पद्माक्षाचार्य स्वामीजी के आचार्य नाथाचार्य स्वामीजी हैं और नाथाचार्य स्वामीजी के आचार्य शठकोपाचार्य स्वामीजी हैं। शठकोपाचार्य स्वामीजी के आचार्य विष्वक्सेन भगवान् हैं। विष्वक्सेन भगवान के आचार्य श्रीदेवीजी हैं तथा श्रीदेवीजी के आचार्य नारायण भगवान् हैं। इस गुरुपरंपरा को नित्यानुसंधान करना चाहिये और (परिग्राह्यम्) इस चेतन को सब काल में ग्रहण करने योग्य (पूर्वाचार्यवचनम्) यामुनाचार्य आदि पूर्वाचार्यों का वचन है (च) और (अनुष्ठानम्) पूर्वाचार्यों का अनुष्ठान है। क्योंकि लिखा है कि—**सुव्याहृतानि महतां सुकृतानि ततस्ततः। संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा॥** खेत काट लेने पर खेत में गिरे हुए धान्य को जैसे चुनते हैं वैसे महान पुरुषों के वचनों को और अनुष्ठानों को संग्रह करें॥ और (परित्याज्यः) इस चेतन का परित्याग करने योग्य (अवैष्णवसहवासः) ज्ञान तथा अनुष्ठान के नाश के डर से पूर्वोक्त वैष्णव के लक्षण रहित लोगों के साथ सहवास है (च) और (अभिमानः) अभिमान है और (कर्तव्यम्) इस चेतन का करने योग्य कैंकर्य (आचार्यकैंकर्यम्) महोपकारक अपने आचार्य के विषय में प्रेमपूर्वक क्रियमाण कैंकर्य है (च) और (भगवत्कैंकर्यम्) आचार्य की आज्ञा से क्रियमाण भगवत्कैंकर्य है। इसी से कहा है कि इस प्रकार ये सब गुण सदाचार्य के अनुग्रह से बढ़ने समय में आचार्य सन्निधि और भगवत् सन्निधि में वास करना आचार्य वैभव और अपनी नीचता को कहना, गुरुपरंपरा और द्वयमत्र का जप करना, पूर्वाचार्यों के वचन और अनुष्ठान को परिग्रह करना, अवैष्णवों के सहवास और अभिमान का परित्यागर करना, आचार्य कैंकर्य और भगवत् कैंकर्य को करना॥२९४॥

अब प्रबन्धकर्त्ता भगवत्कैंकर्य और आचार्य कैंकर्य कैसे जाना जाता है इस को कहते हैं कि—

पूर्वोक्तभगवत्कैंकर्यं ज्ञायते शास्त्रमुखेन आचार्यकैंकर्यं ज्ञायते शास्त्रमुखेनाचार्य-वचनेन च ॥२६५॥

अर्थ—(पूर्वोक्त भगवत्कैंकर्यम्) पहले कहे हुए भगवत्कैंकर्य को (शास्त्रमुखेन) श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि शास्त्र के द्वारा (ज्ञायते) जाना जाता है और (आचार्यकैंकर्यम्) महोपकारक आचार्य के कैंकर्य को (शास्त्रमुखेन) श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि शास्त्र के द्वारा (च) और (आचार्यवचनेन) आचार्य के वचन द्वारा (ज्ञायते) जाना जाता है। इसीसे कहा है कि—पहले कहा हुआ भगवत्कैंकर्य शास्त्र द्वारा जाना जाता है और आचार्यकैंकर्य शास्त्र द्वारा तथा आचार्य के वचन द्वारा जाना जाता है ॥२६५॥

अब जगद्गुरुजी कितने प्रकार के कैंकर्य हैं, इसको कहते हैं कि—

कैंकर्यं च द्विविधम् । २६६॥

अर्थ—(च) और (कैंकर्यम्) पूर्वोक्त कैंकर्य (द्विविधम्) दो प्रकार के हैं। इसी से कहा है कि कैंकर्य दो प्रकार के हैं ॥२६६॥

अब श्रीवचनभूषणकार दो प्रकार कौन है, इसको कहते हैं कि—

तच्चेष्टकरणमनिष्टनिवृत्तिश्च ॥२६७॥

अर्थ—(च) और (तत्) वह कैंकर्य (इष्टकरणम्) इष्टको करना (च) और (अनिष्टनिवृत्तिः) अनिष्ट को छोड़ना दो प्रकार है। इसी से कहा है कि—इष्ट को करना और अनिष्ट को छोड़ना ॥२६७॥

अब जगदाचार्यजी इष्ट और अनिष्ट ये दोनों किसको अवलम्बन कर रहते हैं इसको कहते हैं कि—

इष्टानिष्टे वर्णाश्रमावात्म स्वरूपं चावलंब्य वर्तेते ॥२६८॥

अर्थ—(इष्टानिष्टे) इष्ट और अनिष्ट ये दोनों [वर्णाश्रमी] वर्ण तथा आश्रम को [च] और [आत्मस्वरूपम्] आत्मस्वरूप को

(अवलंब्य) अबलम्बन कर (बर्तते) रहते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि वर्ण और आश्रम कितने हैं और उन सबों में धर्म कौन से हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह लिखा है कि—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ यजु० अ० ३१ मं० ११॥ परमात्माके मुखसे ब्राह्मण और हाथसे क्षत्रिय, जाँघ से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए ॥११॥ मनुस्मृति में लिखा है कि—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत्॥ मनु० अ० १ श्लो० ३१॥ भूलोक आदि की वृद्धि के लिए परमात्मा ने अपने मुखसे ब्राह्मणको और बाहुसे क्षत्रिय को तथा जाँघसे वैश्यको और पैर से शूद्र को बनाया ॥३१॥ भगवद्गीता में भी लिखा है कि **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्॥॥ भगद्गी० अ० ४ श्लो० ॥ १३॥** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णों को मैंने बनाया ॥१३॥ और भी लिखा है कि—**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्॥ मनु० अ० १२ श्लो० ९७॥** चारो वर्ण तथा तीनों लोक और ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वाणप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम ये चारो आश्रम भेद पुरुष से पृथक्-पृथक् प्रसिद्ध हुए हैं ॥९७॥ और लिखा है कि—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनु० अ० १ श्लो० ८८॥ पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मणों के बनाये ॥८८॥ **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। भगवद्गी० अ० १८ श्लो० ४२॥** मनसे किसीका अनिष्ट चिन्तन न करना, इन्द्रियोंको रोकना, पवित्रता, धर्म के लिए कष्ट सहना, क्षमाभाव, मन इन्द्रियों और

शरीरको सरलता, ज्ञान विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मणोंके स्वभाविक कर्म हैं ॥४२॥ **प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ मनु० अ० १ श्लो० ८९॥** प्रजाओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयों में नहीं फँसना ये संक्षेपसे क्षत्रियोंके कर्म बनाये ॥८९॥ **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लो० ४३॥** शूरता, तेज, धैर्य चतुरता और युद्धमें नहीं भागना, दान देना, ईश्वरमें भाव करना ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥ **पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च॥ मनु० अ० १ श्लो० ९०।** पशुओंकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना, ये वैश्यों के कर्म बनाये ।९०॥ **कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लो० ४४।** खेती करना, गौकी रक्षा करना और व्यापार करना ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४४॥ **एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० अ० १ श्लो० ९१॥** प्रभु ने शूद्र को एकही कर्म बताया है कि निन्दा को छोड़कर तीनों वर्णों की सेवा करना ॥९१॥ **परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लो० ४४॥** सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ॥४४॥ यहाँ पर बहुत से लोग यह कहते हैं कि पहले एक वर्ण था और कर्म द्वारा हीं ब्रह्मणादिकी व्यवस्था है। इस विषय में यह कहना है कि केवल कर्म से जाति नहीं है। इस विषयमें अधोलिखित प्रमाणोंको सज्जन लोग अवलोकन करें। **गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योप-**

नायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ मनु० अ० २ श्लो० ३६ । गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का जनेऊ करना चाहिए तथा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का जनेऊ करना चाहिए और गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्यका जनेऊकरना चाहिये ॥३६॥ यहाँ पर ब्राह्मणादि वर्णसे ही मनु भगवान मानते हैं । और भी लिखा है कि— अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् गर्भाष्टमे वा एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यम् ॥आश्वलायन सू० ॥ जन्मसे या गर्भ से आठवें वर्षमें ब्राह्मण का जनेऊ करना चाहिए तथा ग्यारह वर्ष में क्षत्रियका जनेऊ करना चाहिये और बारहवें वर्ष में वैश्यका जनेऊ करना चाहिए ॥ और भी शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है कि—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे-राजन्यं शरदि वैश्यम् ॥ शतपथ ब्रा० ॥ बसन्त में ब्राह्मण को जनेऊ करे और ग्रीष्मऋतु में क्षत्रिय को जनेऊ करे तथा शरद् ऋतु में वैश्य को जनेऊ करे ॥ पुनः महाभाष्य में लिखा है कि— पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य अभिक्षाव्रतो वैश्यः ॥महाभा० ॥ व्रती ब्राह्मण दूध पिये तथा क्षत्रिय यव का मोटा आटा गुड़ के साथ पतला घोलकर पिये और वैश्य दही से चौगुना दूध एक गुनी खाड़ केशर डालकर पिये ॥ छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि—तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इहकपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा । छान्दोग्योप० प्रपाठ० ५ अध्या० ५ खं० १० मं० ७ ॥ जो यहाँ पर अच्छे आचरणवाले हैं वे सुन्दर ब्राह्मणयोनिमें या क्षत्रिय योनि में या वैश्य योनि में शरीर पाते हैं और निकृष्ट आचरणवाले कुत्ता योनि में या सूकर योनि में या चण्डाल योनि में शरीर पाते हैं ॥७॥ इन प्रमाणों से चारो वर्ण जन्मसे ही साबित होते हैं । महर्षि पाणिनिजी

के मत में भी जन्म से ही वर्ण होता है। देखिये लिखा है कि— शूद्राणामनिरवसितानाम् ॥ व्या० अ० २ पा० ४ सू० १० ॥ अबहिष्कृत शूद्रों का एकवद्भाव होता है ॥ और दूसरे अध्याय चौथे पाद दशवें सूत्र के भाष्य में पतंजलि महर्षि ने कहा है कि —**यैर्भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः यैर्भुक्तं पात्रं संस्कारेणनशुध्यति ते निरवसिताः** ॥महाभाष्य० ॥ जिनके भोजन करनेके पश्चात् पात्र अग्नि आदि संस्कार से शुद्ध हो जाता है उन शूद्रों को अनिरवसित कहते हैं ॥ और जिनका भोजन किया पात्र संस्कार से शुद्ध नहीं होता है उन शूद्रों को निरवसित कहते हैं ॥ और वार्तिककार ने भी कहा है कि— शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः ॥वार्तिक। अमहत् पूर्वक शूद्र शब्द से टाप् प्रत्यय होता है, यदि जाति हो तब ॥ और भी ॥ तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ॥ व्या० अ० ५ पा० १ सू० ११५॥ इस पाणिनि के सूत्र पर महर्षि पतंजलि ने कहा है कि— **तपः श्रुतं च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारकम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥ महाभा०।** तप करना, वेद पढ़ना और ब्राह्मण कुलमें जन्म लेना ये ब्राह्मणके लक्षण हैं जो ब्राह्मण तपस्या और वेदाध्ययन से हीन है केवल ब्राह्मण कुल में जन्म मात्र है, वह जातिसे ब्राह्मण है। पुनश्च गोपथ ब्राह्मणके पूर्व भागके तैंतिसवें ब्राह्मणमें लिखा है कि ॥ **सान्तपना इदं हविरित्येष ह वै सान्त नोऽग्निर्यद्ब्राह्मणो यस्य गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमणान्नप्राशन-मोदान-चूडाकरणोपनयनाप्लवनाग्नि-होत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सान्तपनोऽथयोऽयमनग्निकः सकुंभे लोष्ठः (तद्यथा) कुंभे लोष्ठः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्पते नैव श्रेयं निवर्तयति एवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकस्यस्य ब्राह्मणस्या-नग्निकस्य नैव दैवं दद्यान्न पित्र्यं न चास्य स्वाध्यायाशिषो न यज्ञ आशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति। गोपथ० पूर्वभाग ब्राह्म० ३३ ॥** जिस ब्राह्मणके जन्मसे गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जात कर्म,

नामकरण, बाहर निकलना, अन्न प्राशन, गोदान, चूड़ाकरण, जनेऊ, अग्निहोत्र व्रतचर्यादि संस्कार हुए हैं वह ब्राह्मण जाति और गुण कर्मसे यथार्थ है, उसीको सान्तपन कहते हैं और जिस ब्राह्मणका यह संस्कार नहीं हुआ वह घड़े में मिट्टीके ढेलेके समान है, क्योंकि वह फेंका हुआ ढेला पवित्र नहीं करता न कुछ खेतोका कार्य बनाता है। इसी प्रकार से संस्कार रहित और अग्नि रहित ब्राह्मण है। ऐसे ब्राह्मणको देवता और पितृ सम्बन्धमें कुछ भी न देना। न वेद आशिष, न यज्ञ आशिष, इसकी स्वर्ग ले जानेवाली होती है ॥३३॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि चार वर्ण अनादि हैं। और ब्राह्मणादिक जन्मसे ही होते हैं। यहाँपर आश्रम धर्म ग्रन्थके विस्तारके भयसे मैं नही लिखता हूँ, जिसको जानना हो वह मेरी बनायी हुयी "यतीन्द्रधर्ममार्तण्ड" नाम के ग्रन्थ को और अर्थ-पंचक की "मर्मबोधिनी" टीका को देख ले। और वर्णाश्रम के विषयमें भगवद्वाक्य भी है कि ॥श्रुतिस्मृति ममैवाज्ञा यस्तामुल्लंघ्य वर्तते आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥ श्रुति और स्मृति हमारी आज्ञा है। इनका जो उल्लंघन करता है वह आज्ञा-भंगकारी हमारा द्रोही है। मेराभक्त होनेपर भी वह वैष्णव नहीं है ॥ और भी लिखा है कि—**अविप्लवाय धर्माणां पालनाय कुलस्य च। सग्रहाय च लोकस्य मर्यादास्थापनाय च ॥ प्रियाय मम विष्णोश्च देवदेवस्य शार्ङ्गिणः। मनीषी वैदिकाचारं मनसापि न लंघयेत् ॥ यथा हि वल्लभो राज्ञो नदीराज्ञां प्रवर्तिताम्। लोकोपयोगिनीं रम्यां बहुशस्य-विवर्द्धिनीम् ॥ लंघयन् शूलमासेहेदनपेक्षोऽपि तां प्रति। एवं विलंघयन् मर्त्यो मर्यादां वेदनिर्मिताम् ॥ प्रियोऽपिन प्रियोऽसौ मे मदाज्ञाव्यतिवर्तनात्। उपायत्वग्रहं तत्र वर्जयेन्मनसा सुधीः ॥** धर्मों का नाश न होनेके लिये और कुलके पालनके लिये तथा लोक संग्रहके लिये और मर्यादा स्थापनके लिये तथा मेरे और देवोंके देव शार्ङ्ग धनुष-धारी विष्णु भगवान्के प्रसन्न होनेके लिये बुद्धिमान् वैदिक आचारको मनसे भी उल्लंघन न करें। राजा का अति प्रिय मन्त्री राजासे प्रवाहित लोकोपयोगिनी बहुशस्याविवर्धिनी रमणीय नदीको तोड़ने से जैसे शूलीपर

चढ़ाया जाता है वैसे ही वेदनिर्मित मर्यादाको तोड़नेवाला मनुष्य हमारी आज्ञा उल्लंघन करनेसे भक्त होनेपर भी प्रिय नहीं होता है। बुद्धिमान उन वैदिक आचारोंमें उपायत्व बुद्धिको न करें ॥ इसीसे कहा है कि— इष्ट और अनिष्ट दोनों वर्णाश्रमको और आत्मस्वरूपको अवलम्बन कर रहते हैं ॥२९८॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि पुण्यसे डरा हुआ प्रपन्न अधिकारी पापको कभी नहीं करेगा।

पुण्याद्भीतः पापं न कुर्यात् खलु ॥२९९॥

अर्थ – (पुण्यात्) मोक्षका विरोधी समझ कर पुण्य से (भीतः) डरनेवाला प्रपन्न अधिकारी (खलु) निश्चय करके (पापम्) भगवन्निग्रह हेतु भूत पापको कभी भी (न) नही (कुर्यात्) करेगा। इसीसे कहा है कि पुण्यसे डरनेवाला पाप नहीं करेगा ॥२९९॥

अब जगद्गुरुजी इस पुण्यसे डरनेका प्रकार वात्सल्य गुण युक्त ईश्वर अपेक्षा करने पर भी पापको नहीं करनेके प्रकार को कहते हैं कि—

अयं पुण्यं पापमिति तिष्ठति, स पापं पुण्यमिति तिष्ठति तस्येदं दुर्लभम्, अयं तन्न कुर्यात् ॥३००॥

अर्थ :—(अयम्) यह प्रपत्ति करनेवाला अधिकारी (पुण्यम्) सुख-हेतु समझे हुए पुण्यको (पापम्) भगवत्प्राप्ति प्रतिबन्धक होनेसे अनिष्ट वह दुःख हेतु पाप (इति) ऐसा (तिष्ठति) समझता है (सः) वह अश्रित कर्तृक पापको पुण्य समझने वाले अतिमात्र वत्सल ईश्वर (पापम्) अधिकारीके पापको (पुण्यम्) पुण्य (इति) ऐसा (तिष्ठति) समझता है (तस्य) प्रपत्तिनिष्ठ अधिकारीको (इदम्) यह पाप (दुर्लभम्) दुर्लभ है (अयम्) यह भगवत्की प्रपत्ति करनेवाला अधिकारी (तत्) उस पाप को कभी (न) नहीं (कुर्यात्) करेगा। इसीसे कहा है कि—यह पुण्यको पाप समझता है, वह पापको पुण्य समझता है, उसको पाप नही मिलता है यह पाप को नहीं करेगा ॥३००॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि भगवत्कैंकर्य भक्ति द्वारा या भीति द्वारा अवश्य होना चाहिये।

कैंकर्यं च भक्तिमूलं स्यात् अथवा भीतिमूलं स्यात् ॥३०१॥

अर्थ—(च) और (कैंकर्यम्) कैंकर्य (भक्तिमूलम्) शेषीके मुखोल्लासके उचित करनेके योग्य तद्विषयक भक्ति द्वारा (स्यात्) होना चाहिये (अथवा) या (भीतिमूलम्) शेषत्वकी हानि होगी ऐसी भीति द्वारा (स्यात्) होना चाहिये। इसीसे कहा है कि कैंकर्य भक्ति द्वारा होना चाहिये अथवा भीति द्वारा होना चाहिये ॥३०१॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि कैंकर्यका अभाव होने पर अधिकारमें उपाय और उपेयका सम्बन्ध छूट जायेगा।

तदपि नास्ति चेत् अधिकारे उपायोपेययोश्चान्वयो नास्ति ॥३०२॥

अर्थ—(तत्) भीतिमूलकैंकर्य (अपि) भी यदि (न) नहीं (अस्ति) है (चेत्) तो (अधिकारे) शेषत्वरूप अधिकारमें (च) और (उपायोपेययोः) अधिकारीकी अपेक्षा करनेवाले शेषीको कृपारूप उपायमें तथा चेतनकी अनुकूल वृत्तिकी अपेक्षा करनेवाले स्वामीके मुखोल्लासरूप उपेयमें (अन्वयः) सम्बन्ध (न) नहीं (अस्ति) होगा। इसीसे कहा है कि—भीतिमूलकैंकर्य का भी अभाव होने पर अधिकारीमें और उपायोपेयमें सम्बन्ध छूट जायेगा ॥३०२॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी इस कैंकर्यमें साधनबुद्धिको दूर करते हैं।

कैंकर्यं फलसाधनमकृत्वा फलं कुर्यात् ॥३०३॥

अर्थ—(कैंकर्यम्) एवं अवश्य करने योग्य पूर्वोक्त कैंकर्यको (फलसाधनम्) दृष्ट और अदृष्ट फलोंका साधन (अकृत्वा) नहीं मानकर (फलम्) स्वयंप्रयोजनरूपफल (कुर्यात्) मानना चाहिये। इसीसे कहा है कि—कैंकर्यको फलका साधन नहीं मानकर फल मानना चाहिये ॥३०३॥

अब प्रबन्धकर्ता इस अर्थको विशद करते हैं कि—

तच्च स्वयं हस्तप्रसारणमकृत्वा स यथा हस्तं प्रसारयेत् यथा करणम् ॥३०४॥

अर्थ – (च) और (तत्) वह कैंकर्य (स्वयम्) अपने (हस्त-प्रसारणम् हाथ पसारनारूपकार्यको (अकृत्वा) नहीं करके (सः) वह अधिकारी (यथा) जैसे (हस्तम्) हाथको (प्रसारयेत्) पसरवाता है (तथा) वैसे ही (करणम्) करना है। इसीसे कहा है कि- वह स्वयं अपने हाथ को नहीं पसार कर जैसे हाथ को पसरवाता है (तथा) तैसेही (करणम्) करना है। इसीसे कहा है कि वह स्वयं अपने हाथको न पसार कर जैसे हाथ को पसरवाता है वैसे ही करता है ॥३०४॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि श्रीमन्नारायण के लिए कैंकर्य को समर्पण कर उसके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

दत्वा स्वीकारमकृत्वा स्वीकारस्य हस्तपण्यं च देयम् ॥३०५॥

अर्थ –(दत्वा) भगवत् के लिए सब कुछ देकर (स्वीकारम्) उस दान के फल को स्वीकार (अकृत्वा) नहीं कर (च और भी (स्वीकारस्य) भगवत् के निर्हेतुक स्वीकार करने का (हस्तपण्यम्) हस्तपण्य (देयम्) देने योग्य है। इसीसे कहा है कि देकर उसका फल स्वीकार नही कर स्वीकार के हस्तपण्य देने योग्य है ॥३०५॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि प्रपत्तिनिष्ठजन भगवद्विषय में थोड़ा सा भी यदि कुछ करता है, तो श्रीविदुर आदिक की तरह स्वरूप उज्ज्वल हो जाता है।

श्रीविदुरवच्छ्रीमालाकारवत्कुब्जावच्च किंचित्कारे कृते स्वरूपमुज्ज्वलं भवति ॥३०६॥

अर्थ –(श्रीविदुरवत्) श्री विदुरजी के समान तथा (श्रीमाला-कारवत्) सुदामा नामवाले श्रीमालाकारकी तरह (च) और (कुब्जावत्) सौरन्ध्री नामवाली कुबरी के सदृश (किंचित्कारे) कुछ भी

थोड़ा सा भगवत् के लिए (कृते) करने पर (स्वरूपम्) अपन स्वरूप (उज्ज्वलम्) निर्मल (भवति) हो जाता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि श्रीविदुरजीका तथा श्रीमालाकार का और कुब्जा का स्वरूप उज्ज्वल हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर लिखा है कि—यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैष शोच्यः परन्तपः ।। महाभार० आश्रमवासिकप० १५ अ०२६ श्लो०३३ ।। हे परन्तप युधिष्ठिर ! स्वरूप उज्ज्वल होने से यह विदुर संन्यासीके धर्म को प्राप्त हुआ है, यह सोचने योग्य नही है ।।३३।। इससे सिद्ध हो गया कि श्रीविदुरजी का स्वरूप उज्ज्वल हुआ है। अब श्रीमालाकार के विषय में देखिये, लिखा है कि—**सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि। तद्भक्तेषु च सौहार्दभूतेषु च दयां पराम् ॥ श्रीमद्भाग० स्कं० १० अ० ४१ श्लो० ५१।। इति तस्मैवरं दत्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम्। बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगामसहाग्रजः ।।५२।।** वह मालाकार सुदामा स्वरूप उज्ज्वल होने से सर्वात्मा श्रीकृष्ण भगवान के विषय में अचला भक्ति को तथा भागवतों के विषय में सहृदयता को और सब जीवों के विषय में परादया को वर माँगा ।। ५१ ।। तब श्रीकृष्ण भगवान ने जो वर माँगा था उसको तथा मालाकार के वश को बढ़ानेवाली श्रीको और बल को तथा आयु को और कीर्ति को तथा कान्ति को श्रीमालकार के लिए देकर बलराम जी के साथ वहाँ से आगे चले ।।५२।। इससे प्रमाणित हो गया कि श्रीमालाकार का स्वरूप उज्ज्वल हुआ है। अब कुब्जा के विषय में देखिये, लिखा है कि—**प्रसन्नो भगवान्कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम्। ऋज्वीकर्तुं मनश्चक्रे दर्शयदर्शने फलम् ॥ श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० ४२ श्लो० ६।। पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्वयङ्गुल्युत्तान पाणिना। प्रगृह्य चिबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ।।७।। सा तदर्जुसमानाङ्गी वृहच्छ्रोणिपयोधरा मुकुन्द स्पर्शनात्सद्यो बभूवप्रमदोत्तमा ।८।** प्रसन्न भगवान श्रीकृष्ण चन्द्रजी ने तीन टेढ़वाली कुबरी सुन्दर मुखवाली सौरन्ध्री को अपने दर्शन का फल दिखाते हुए स्वरूप उज्ज्वल करने के लिए मन किया ।।६।। तब अपने दोनों पैरों से सौरन्ध्री के दोनों पैरों

को दबा कर उत्तान हाथ करके दो अंगुलियों से कुब्जा की ठुड़ी को पकड़ कर अच्युत श्रीकृष्ण भलवान जो ने दबाया ॥७॥ इसके बाद भुक्ति और मुक्ति को देनेवाले श्रीकृष्ण भगवान को छूने से तुरन्त ही वह सौरन्ध्री वृहत् नितम्ब और स्तन से युक्त रूपवाली स्त्रियों में उत्तम हो गई ॥८॥ इससे सिद्ध हो गया कि श्रीकुब्जा का स्वरूप उज्ज्वल हुआ है। इसी से कहा है कि -श्री विदुर जी के समान तथा श्रीमालाकार की तरह और श्रीकुब्जा के समान भगवत् के विषय में थोड़ा सा भी कुछ करने से स्वरूप उज्ज्वल हो जाता है ॥३०७॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी ने श्रीविदुरादिक जो पदार्थ भगवान के लिये दिये हैं उसको दिखाते हैं कि—

अङ्कशोधनरहितमोदनम्, केशगंधरहितं पुष्पं चूर्ण-स्पर्शरहितो गंधश्च खलु तैर्दत्तः ॥३०७॥

अर्थ— (अङ्कशोधनरहितम्) बिना दामके (ओदनम्) ओदन को (केशगंधरहितम्) केश गंध से रहित (पुष्पम्) फूलों को (च) और (चूर्णस्पर्शरहितः) चूर्णस्पर्शसे रहित (गंधः) गंध को (खलु) निश्चय करके (तैः) वे श्रीविदुरादिकोंने (दत्तः) दिया है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि श्रीविदुरजी ने बिना दामके ओदन को तथा श्रीमालाकार ने केश-गंधरहित पुष्पों को और कुब्जा ने चूर्ण स्पर्श रहित गंध को दिया है। इस प्रश्न का उत्तर लिखा है कि—

ततःक्षत्ताऽन्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च। उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥ महाभा० उद्योगप० अ० ९१ श्लो० ९ ॥

इसके बाद श्रीविदुरजीने अनेक प्रकार के पवित्र और गुणवाले ओदनादिक अन्नों को और जल को महात्मा केशव के लिये समर्पण किया ॥३९॥ इससे साबित हो गया कि श्रीविदुरजी ने अङ्कशोधन रहित ओदन को दिया है। अब श्रीमालाकार के विषय में देखिये, लिखा है कि—

इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामाप्रीतमानसः शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्माला विरचिता ददौ ॥ श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० ४१ श्लो० ४९ ॥

हे राजेन्द्र इस प्रकार के प्रसन्न मन वाले सुदामा नाम के श्रीमालाकार ने सुन्दर सुगन्धयुक्त पुष्पों से रची हुई माला को दिया ॥४९॥ इससे सिद्ध हो गया कि श्रीमालाकार ने केशगंध रहित पुष्पों को दिया है। अब श्रीकुब्जा के विषय में देखिये, लिखा है कि **रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवीक्षितैः। धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम्॥ श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० ४२ श्लो० ४।** सुन्दर रूप तथा मन्दहास और मधुर भाषण तथा कोमल दर्शन से वश की हुई आत्मावाली कुबरी सौरन्ध्री ने चूर्णस्पर्श रहित ढीला तथा चिकने अनुलेपन को श्रीकृष्ण भगवान के लिये और बलरामजी के लिये दिया ॥४॥ इससे प्रमाणित हो गया कि श्रीकुब्जा ने चूर्ण स्पर्शरहित गन्ध को दिया है। इसीसे कहा है कि—अङ्कशोधन रहित ओदन को तथा केशगन्ध रहित पुष्पको और चूर्णस्पर्शरहित गन्धको निश्चय करके श्रीविदुरादिक ने दिया है ॥३०७॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि कैंकर्य दशा के समान पूर्व दशाओं में भी स्वरूप उज्ज्वल करने योग्य है।

कैंकर्यदशावत्पूर्वदशास्वपि स्वरूपमुज्ज्वलं कर्तव्यम्

॥३०८॥

अर्थ—कैंकर्यदशावत्) नित्य भगवत् के कैंकर्य की दशा के समान (पूर्वदशासु) ज्ञान दशा तथा वरण दशा और प्राप्ति दशा तथा प्राप्यानुभव दशा इन चारों दशाओं में (अपि) भी (स्वरूपम्) अपने स्वरूप को (उज्ज्वलं) उज्ज्वल (कर्तव्यम्) करना चाहिये। इसी से कहा है कि कैंकर्य काल के समान पूर्व दशाओं में भी स्वरूप उज्ज्वल करने योग्य है ॥३०८॥

अब जगद्गुरुजी पूर्व दशाएँ कितनी हैं और कौन-कौन हैं, इसको कहते हैं कि—

पूर्वं चतस्रो दशाः ताश्च-ज्ञानदशा वरणदशा प्राप्तिदशा प्राप्यानुभवदशा च ॥३०९॥

अर्थ—(पूर्वम्) पहले अधिकारियों के (चतस्रः) चार (दशाः) दशायें होती हैं (च) और (ताः) वे चार ये हैं कि (ज्ञानदशा) ज्ञान

दशा तथा (वरणदशा) वरणदशा तथा (प्राप्तिदशा) प्राप्तिदशा (च) और (प्राप्यानुभवदशा) प्राप्यानुभव दशा। इसी से कहा है कि—ज्ञान दशा तथा वरण दशा और प्राप्ति तथा प्राप्यानुभव दशा ये चार दशायें पहले होती हैं ॥३०९॥

अब श्रीवचनभूषणकार पूर्वोक्त चारों दशाओं में किस में किसका पुरस्कार्य होता है इसको कहते हैं कि :—

ज्ञानदशायामज्ञानं पुरस्कार्यं, वरणदशायामपूर्तिः पुरस्कार्या, प्राप्तिदशायामार्तिः पुरस्कार्या प्राप्यानुभवदशायामभिनिवेशः पुरस्कार्यः ॥३१०॥

अर्थ :—(ज्ञानदशायाम्) ज्ञान दशा में (अज्ञानम्) अज्ञान (पुरस्कार्यम्) पुरस्कार्य होता है तथा (वरणदशायाम्) स्वीकार दशा में (अपूर्तिः) पूर्णता का अभाव (पुरस्कार्या) पुरस्कार्य होता है और (प्राप्तिदशायाम्) प्राप्ति दशा में (आर्तिः) दुःख (पुरस्कार्यः) पुरस्कार्य होता है तथा (प्राप्यानुभव-दशायाम्) प्राप्य के अनुभव दशा में (अभिनिवेशः) अभिनिवेश (पुरस्कार्यः) पुरस्कार्य होता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि अभिनिवेश किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर पातञ्जल योगदर्शन में लिखा है कि—**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ योग० अ० १ पा० २ सू० ९ ॥**

स्वरसवाही विद्वानों के भी उस प्रकार आरूढ़ होने को अभिनिवेश कहते हैं ॥९॥ इसी से कहा है कि—ज्ञान-दशा में अज्ञान पुरस्कार्य होता है, वरण-दशा में अपूर्ति पुरस्कार्य होती है, प्राप्ति-दशा में आर्ति पुरस्कार्य होती है तथा प्राप्यानुभव दशा में अभिनिवेश पुरस्कार्य होता है ॥३०१॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि अज्ञान तथा आपूर्ति तथा आर्ति और अभिनिवेश ये चारो किस से निवृत्त होते हैं कि—

अस्याज्ञानस्य निवृत्तिराचार्यज्ञानेन, अपूर्तेर्निवृत्तिरीश्वरपूर्त्या, आर्तेर्निवृत्तिः कृपया अभिनिवेशस्य निवृत्तिरनुभवेन ॥३११॥

अर्थ—(अस्य) इस (अज्ञानस्य) अज्ञानकी (निवृत्तिः) निवृत्ति (आचार्यज्ञानेन) महोपकारक आचार्य के ज्ञान से होती है (अपूर्तेः) अपूर्ति की (निवृत्तिः) निवृत्ति (ईश्वरपूर्त्या) ईश्वर की पूर्ति से होती है और (आर्तेः) आर्ति की (निवृत्तिः) निवृत्ति (कृपया) निर्हेतुक दया से होती है और (अभिनिवेशस्य) अभिनिवेश की (निवृत्तिः) निवृत्ति (अनुभवेन) अनुभव से होती है। इसी से कहा है कि—इस अज्ञान की निवृत्ति आचार्य के ज्ञान से होती है, अपूर्ति की निवृत्ति ईश्वर की पूर्ति से होती है दुःख की निवृत्ति कृपा से होती है और अभिनिवेश की निवृत्ति अनुभव से होती है ।। ३११ ।।

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि अज्ञान तथा अपूर्ति और आर्ति तथा अभिनिवेश का कारण क्रम से अपराध तथा ज्ञान पूर्ति और अलाभ तथा सौन्दय है।

अज्ञानस्य हेतुरपराधः, अपूर्तेर्हेतुर्ज्ञानपूर्तिः आर्तेर्हेतुरलाभः अभिनिवेशस्य हेतुः सौन्दर्यम्

॥ ३१२ ॥

अर्थ—(अज्ञानस्य) अज्ञान का (हेतुः) कारण (अपराधः) अपराध है (अपूर्तेः) अपूर्ति का (हेतुः) कारण (ज्ञानपूर्तिः) ज्ञानपूर्ति है तथा (आर्तेः) दुःख का (हेतुः) कारण (अलाभः) अलाभ है और (अभिनिवेशस्य) अभिनिवेश का (हेतुः) कारण (सौन्दर्यम्) सौन्दर्य है। इसी से कहा है कि—अज्ञान का कारण अपराध है तथा अपूर्ति का कारण ज्ञान पूर्ति है, दुःख का कारण अलाभ है तथा अभिनिवेश का कारण सौन्दर्य है ।। ३१२ ।।

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि अभिनिवेश का प्रकार अर्चिरादि गति में कहे हैं कि—

आर्त्यभिनिवेशप्रकारो अर्चिरादिगतावुक्तः ॥ ३१३ ॥

अर्थ—(आर्त्यभिनिवेशप्रकारः) आर्ति और अभिनिवेश (आशा) का प्रकार (अर्चिरादिगतौ) अर्चिरादि गति में (उक्तः) कहा है।

अर्चि आदि गति के विषय में छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि— अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण पक्षाद्यान्षड्दङ्डेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सर संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥ छान्दोग्योप० प्रपा० ४ खं० १५ मं० ५ ॥ स एनान्ब्रह्मगमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥६॥ जो शव्य को करता है वह अर्चिः मार्ग को नहीं प्राप्त करता है, ब्रह्मवेत्ता अर्चिको प्राप्त करता है। अर्चिसे दिनको तथा दिनसे आपूर्यमाण शुक्लपक्ष को और आपूर्यमाण शुक्लपक्ष से छः महीना उत्तरायण को प्राप्त करता है तथा महीनों से संवत्सर को और संवत्सर से सूर्य को तथा सूर्य से चन्द्र को और चन्द्रमा से बिजली को इसके बाद विद्युत्पुरुष अमानव को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥ वह अमानव पुरुष इसको ब्रह्म प्राप्त करता है, यही देवपथ या ब्रह्मपथ है। इस रास्ते से जानेवाला फिर से मृत्युलोक को नहीं आता है नहीं आता है ॥ ६ ॥ और वेदान्त सूत्र में लिखा है कि ॥ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ वेन्दान्त० अ० ४ पा० ३ सू० १ ॥ वैद्युते नैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ वे० अ० ३ पा० ३ सू० ६ ॥ अर्चिरादि मार्ग के द्वारा उसकी प्रसिद्धि होने से ॥ १ ॥ वैद्युत पुरुष के द्वारा ही ब्रह्म प्राप्त होता है, ऐसी श्रुति होने से ॥ ६ ॥ और भगवद्गीता में भी लिखा है कि—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ भगवद्गी० अ० ८ श्लो० २४ ॥

ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है और दिन का अभिमानी देवता है तथा शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता है उस मार्ग में मर कर गये हुए ब्रह्म वेत्ता योगी जन उपर्युक्त देवताओं द्वारा क्रम से लेगये हुए ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ॥ २४॥ इसीसे कहा है कि—अत्यन्त अभिनिवेश का प्रकार अर्चिरादि गति में कहा है ॥ ३१३ ॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि इस अधिकारी के चार दशा के समान गुण भी चार हैं।

अस्य दशाचतुष्टयवद्गुणचतुष्टयमप्यस्ति ॥३१४॥

अर्थ—(अस्य) इस अधिकारी की दशाचतुष्टयवत्) ज्ञान दशा १ वरण दशा २ प्राप्ति दशा ३ और प्राप्यानुभव दशा ४ इन चारों दशाओं की तरह (गुण चतुष्टयम्) चारगुण (अपि) भी (अस्ति) हैं। इसी से कहा है कि—इस अधिकारी की चार दशा के सदृश गुण भी चार हैं ॥३२४॥

अब जगदाचार्यजी वे चार गुण कौन-कौन हैं इसको कहते हैं कि—

ज्ञानमज्ञानं शक्तिरशक्तिश्च ॥३१५॥

अर्थ—(ज्ञानम्) इस अधिकारी का ज्ञान तथा (अज्ञानम्) अज्ञान और (शक्तिः) शक्ति (च) तथा (अशक्तिः) अशक्ति ये चार गुण हैं। इसीसे कहा है कि ज्ञान तथा अज्ञान और शक्ति तथा अशक्ति है ॥३१५॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि ये चार गुण ईश्वर में भी रहते हैं।

इदं च तस्याप्यस्ति ॥३१६॥

अर्थ—(च) और (इदम्) यह ज्ञान, अज्ञान, शक्ति और अशक्ति चारो गुण (तस्य) उस परमात्मा में (अपि) भी (अस्ति) हैं। इसी से कहा है कि—ये चारो गुण परमात्मा में भी हैं ॥३१६॥

अब प्रबन्धकर्त्ता भगवत् के ज्ञान, अज्ञान, शक्ति और अशक्ति के विषयों को कहते हैं कि -

तस्य ज्ञानस्य विषयोऽस्य गुणः, अज्ञानस्य विषयोऽस्य दोषः, शक्तेर्विषयोऽस्य रक्षणम् अशक्तेर्विषय परित्यागः ॥३१७॥

अर्थ—(तस्य) उस परमात्मा का (ज्ञानस्य) ज्ञान का (विषयः) विषय (अस्य) इस चेतन का (गुणः) गुण है और (अज्ञानस्य)

परमात्मा के अज्ञान का (विषयः) विषय (अस्य) इस चेतन का (दोषः) दोष है तथा (शक्तेः) परमात्माकी शक्ति का (विषयः) विषय (अस्य) इस चेतन की (रक्षणम्) रक्षा है और (अशक्तेः) परमात्मा की अशक्ति का (विषयः) विषय (परित्यागः) परित्याग है। इसी से कहा है कि—उसके ज्ञान का विषय इसका गुण है और अज्ञान का विषय इसका दोष है तथा शक्ति का विषय इसकी रक्षा है और अशक्ति का विषय इसका परित्याग है ॥३१७॥

अब जगद्गुरुजी इस चेतन के ज्ञान, अज्ञान, शक्ति और अशक्ति के विषयों को कहते हैं कि—

अस्य ज्ञानस्य विषय आचार्यगुणः, अज्ञानस्य विषय आचार्यदोषः, शक्तेर्विषयः आचार्यकैंकर्यम्, अशक्तेर्विषयो निषिद्धानुष्ठानम् ॥३१८॥

अर्थ—(अस्य) इस चेतन के (ज्ञानस्य) ज्ञानका (विषयः) विषय (आचार्यगुणः) महोपकारक द्वयमंत्रोपदेष्टा आचार्यका गुण है और (अज्ञानस्य) चेतनके अज्ञानका (विषयः) विषय (आचार्यदोषः) आचार्यका दोष है तथा (शक्तेः) चेतनकी शक्तिका विषय (आचार्यकैंकर्यम्) आचार्य-कैंकर्य है। और (अशक्तेः) चेतन की अशक्ति का (विषयः) विषय (निषिद्धानुष्ठानम्) वेद में जो निषिद्ध है उसका अनुष्ठान करना है। इसीसे कहा है कि इसके ज्ञान का विषय आचार्य का कैंकर्य है और अशक्तिका विषय निषिद्धानुष्ठान है ॥३१८॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि निषिद्धानुष्ठान चार प्रकार का होता है ॥

निषिद्धानुष्ठानं चतुर्विधम् ॥३१९॥

अर्थ—(निषिद्धानुष्ठानम्) निषिद्धानुष्ठान (चतुर्विधम्) चार प्रकारका होता है। इसीसे कहा है कि—निषिद्धानुष्ठान चार प्रकारका होता है ॥३१९॥

अब जगदाचार्यजी चार प्रकार के निषिद्धानुष्ठान कौन-कौन से हैं उन सबोंको कहते हैं कि—

तच्चाकृत्यकरणं भगवदपचारो भागवतापचारोऽस-ह्यापचारश्च ॥ ३२० ॥

अर्थ—(च) और (तत्) वह चार प्रकार के निषिद्धानुष्ठान ये अधोलिखित हैं (अकृत्यकरणम्) पहला नहीं करने योग्य को करना है और दूसरा (भषवदपचारः) षडैश्वर्यसंपन्न भगवत् के विषय में अपचार करना है तथा तीसरा (भागवतापचारः) भागवतके विषय में अपचार करना है (च) और (असह्यापचारः) नहीं सहने योग्य अपचार करना चौथा है। इसी से कहा है कि - वह निषिद्धानुष्ठान अकृत्यकरण और भगवदपचार तथा भागवतापचार और असह्यापचार है ॥ ३२० ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी अकृत्यकरण को कहते हैं कि—

अकृत्यकरणं नाम-परहिंसा परस्तोत्रं परदारपरिग्रहः परद्रव्यापहारो अमत्यकथनमभक्ष्यभक्षणमेतत्प्रभृति ॥ ३२१ ॥

अर्थ—(अकृत्यकरणम्) नहीं करने योग्य को करना (नाम) किसको कहते हैं कि (परहिंसा) मन, वाणी और शरीरसे दूसरे जीवको दुःख देना और (परस्तोत्रम्) दूसरों का स्तोत्र करना तथा (परदारा-परिग्रहः) दूसरेकी स्त्रीको चोरी से या जबर्दस्तीसे ले लेना (असत्यकथनम्) झूठ बोलना और (अभक्ष्यभक्षणम्) नहीं खाने योग्य मद्य, मांस, लहसुन आदि को खाना (एतत्) इन सबों को तथा (प्रभृति) प्रभृति शब्द से जुआ खेलना आदिक हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि द्विजातियों के अभक्ष्य कौन-कौन पदार्थ हैं और आहार कितने प्रकार के होते हैं तथा कौन-कौन से हैं ? इस प्रश्न का यह उत्तर लिखा है कि—**लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनामध्ये प्रभवानि च ॥ मनु० अ० ५ श्लो० ५ ॥ लोहिता न्वृक्ष निर्यासान्वृश्चान प्रभवांस्तथा। शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥६॥** लहशुन, गजरा, प्याज, धरती के फूल और अशुद्ध

जगहमें उत्पन्न होनेवाले शागादिक ये सब द्विजातियोंके भोजन करने योग्य नहीं हैं ।। ५ ।। लाल रंगके पेड़ोंके गोंद, हिंगु और काटने से उत्पन्न रस ताड़ी आदिक तथा शेलुफल और नई बियाई हुई गौ के फेनुस इन सबों को यत्नसे परित्याग करे ।।६।। **बृथा कृसरसं यावं पायसा षष्ट्रमेव च । अनुपाकृतमांसानि देवान्नानिहवींषिच ।।७।। अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा । आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ।।८।।** केवल अपने लिए तिल चावल मिलाकर किया हुआ भात अपने लिये घी,दूध, गुड़ और गेहूँके आटेसे की हुई लपसी और दूध चावल से बनाया हुआ खीर तथा पूआ वृथापक्क इन सबोंको वर्जित करे और अनुपाकृत मांस और देवता केलिए किये अन्नोंके भोग लगानेसे पहले और हविष्य आदिक वर्जित करे ।। ७ ।। दस दिन के भीतर बिआई हुई गौ का दूध तथा ऊँट का और एक खुरवाली घोड़ी आदि का तथा भेड़ी का और उठी हुई गौ का दूध न पिये और जिसका बछड़ा मर गया है ऐसी गौ का तथा जिसका बछड़ा पास में नहीं है उस गौ का भी दूध न पिये ।। ८ ।। **आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ।।९।।** भैंस को छोड़के हाथी आदि सब जंगली पशुओं का दूध और स्त्री का दूध तथा संशुक्त ये सब वर्जित हैं ।। ९ ।। **यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते । मत्स्यादः सर्व मांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ।। मनु० अ० ५ श्लो० १५ ।।** जो जिसके मांस को खाता है वह उसके मांसको खानेवाला कहा जाता है मछलीको खानेवाला सब प्रकारके मांसका खानेवाला कहने योग्य है इससे मछलियों को न खाये ।।१५।। और भी लिखा है कि—**असंस्कृता तु या कन्या उदक्या चोदितातु या । तया दत्तं न गृहणीयात्प्राण्यङ्गे नायसेन वा ।। मेधा तिथि ।।** संस्कार रहित कन्या का दिया हुआ अन्न तथा रजस्वला से प्रेरित या दिया हुआ और प्राणियों के अङ्गसे

तथा लोहे के पात्रसे दिया हुआ अन्न न ग्रहण करे ॥ **वटकाश्वत्थपर्णेषु कुंभीतेन्दुकपात्रके । कोविदारकदंबेषु न भुञ्जीत कदाचन ॥ हारीत स्मृ० अ० ६ श्लो० १३ ॥** वट, पीपल, अगस्त, तेन्दु, कनैल और कदम इनके पत्तों में कभी भोजन न करे ॥१३॥ हारीत स्मृति में लिखा है कि—भावदुष्टं कालदुष्टं क्रियादुष्टं तथैव च संसर्गदुष्टमपि च वर्जयेद्यज्ञकर्मणि । भाव दुष्ट, कालदुष्ट क्रियादुष्ट और संसर्गदुष्ट पदार्थों को यज्ञ कर्ममें वरा देना चाहिए ॥ उसमें भावदुष्ट को कहा है कि—रूपतो गन्धतो वापि यच्चाभक्ष्यसमं भवेत् । भावदुष्टं च तत्प्रोक्तं मुनिभिर्धर्मपारगैः ॥ रूप से या गन्ध से जो अभक्ष्यके तुल्य हो उसको धर्मपारगमुनि लोग भावदुष्ट कहते हैं ॥ और कालदुष्टको कहा है कि—एकादश्यां च यच्चान्नं यच्चान्नं राहुदर्शने । सूतके मृतके चान्नं शुष्कं पर्युषितं तथा ॥ अनिर्दशाहं गोक्षीरं षष्ठ्यां तैलं तथैव च । नदीषु चाल्पखातेषु सिंहकर्कटयोर्जलम् ॥ निःशेषजलव्याप्यादौ यत्प्रविष्ट नवोदकम् । नातीतपंचरात्रं तु कालदुष्टमिहोच्यते ॥ एकादशी का जो अन्न हो तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का जो अन्न हो और सूतक या मृतक का जो अन्न हो तथा सूखा हुआ या बासी जो अन्न हो और नई बिआई हुई गौ के दस दिन के भीतर का दूध तथा छठी के तेल और छोटो-छोटो नदियों के कर्क तथा सिंह की संक्रान्ति का जल तथा सूखे हुए तालाब में नये आए हुए पाँच रात के भीतर के जल को मुनि लोग कालदुदुष्ट कहते हैं । और क्रिया दुष्ट को कहा है कि—आरनालं च मद्यं च करनिर्मथितं दधि । हस्तदत्तं च लवणं क्षीरं घृतपयांसि च ॥ शब्देन पीतं भुक्तं च गव्यं ताम्रेण संयुतम् । क्षीरं च लवणोन्मिश्रं क्रियादुष्टमिहोच्यते ॥ आरनाल और मदिरा तथा हाथ से महा हुआ दही और हाथ से हाथ में दिया हुआ नमक, दूध घी और जल तथा शब्द करते हुए पीना या खाना और ताम्बे के पात्र से संयुक्त गव्य तथा नमक मिला हुआ दूध इन सबों को यहाँ पर मुनि लोग क्रियादुष्ट कहते हैं ॥ और संसर्ग दुष्ट को कहा है कि—श्वकाकशूकरोष्ट्राद्यैः रुदक्या सूतिकादिभिः । पुंश्चलीञ्ज नारीभिर्वृषली पतिभिस्तथा ॥ दृष्टं स्पृष्टं चदत्तं चभुक्तं शेषं तथैव च अभक्ष्येण च संयुक्तं सांसर्गदुष्टमुच्यते ॥ कुत्ता, कौवा, सूअर,

ऊँट आदि से तथा रजस्वला सूतिका पर पुरुष से रमण करनेवाली स्त्रियों से शूद्रा के पतियों से देखा हुआ छूआ हुआ, दिया हुआ तथा भोजन से बचा हुआ नहीं भोजन करने योग्य पदार्थ से संयुक्त हो इन सबों को मुनि लोग संसर्ग दुष्ट कहते हैं। और भी लिखा है कि—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ भगवद्गी० अ० १७ श्लो० ।८।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले एवं रस युक्त चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय ऐसे आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं॥८॥ और **कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरुक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥९॥**

कडुवे, खट्टे, नमक युक्त अति गर्म तथा तीक्ष्ण, रुखे और दाहकारक एवं दुःख, शोक और रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं॥९॥ **यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१०॥** जो भोजन अधपका, रस रहित और दुर्गन्धयुक्त एवं बासी और जूठा है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है॥१०॥ इसी से कहा है कि अकृत्यकरण मानें पर हिंसा, परस्तोत्र, अन्य की स्त्री को ग्रहण करना, दूसरे के द्रव्य को ले लेना, झूठ बोलना और नहीं भोजन करने योग्य को भोजन करना इत्यादिक हैं॥३२१॥

अब प्रबन्धकर्ता भगवदपचार को कहते हैं कि—

भगवदपचारो नाम देवतान्तरैस्तुल्यतया श्वरस्य चिन्तनं, रामकृष्णाद्यवतारेषु मनुष्यसजातीयत्वबुद्धिः, वर्णाश्रमविपरीतोपचारः अर्चावतार-उपादाननिरूपणम्, आत्मापहारः, भगवद्द्रव्यापहार एतत्प्रभृतिः॥३२२॥

अर्थ—(भगवदपचारः) भगवत् के अपचार (नाम) किसको

कहते हैं कि (देवतान्तरैः) इन्द्रादिक अन्य देवताओं के (तुल्यतया) बराबर (ईश्वरस्य) परमेश्वर को (चिन्तनम्) चिन्तवन करना। और (रामकृष्णाद्यवतारेषु) श्रीराम श्रीकृष्ण आदिक विभवावतार में (मनुष्यसजातीयत्वबुद्धिः) मनुष्य के समान जातीयत्व की बुद्धि करना। तथा (वर्णाश्रमविपरीतोपचारः) अपने वर्ण और आश्रम से विरुद्ध आचरण करना, (अर्चावतारे) अर्चावतार भगवान में (उपादान-निरूपणम्) उपादान का निरूपण करना अर्थात् यह मूर्ति पत्थर, पीतल, ताम्बा, चान्दी, सोना है ऐसा निरूपण करना तथा (आत्मापहारः) आत्मा का अपहरण करना और (भगवद्द्रव्यापहारः) भगवत् के द्रव्य को अपहरण करना और (एतत्) यह प्रभृति सब आदिक है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि देवयोनि, मनुष्य योनि से पृथक् नहीं है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि जो लोग शास्त्र से अनभिज्ञ हैं वे जो चाहें सो कहें परन्तु शास्त्र के जाननेवाले यह जानते हैं कि देवयोनि, मनुष्य योनि से अलग है। इस विषय में प्रमाण देखिये, लिखा है कि **कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः। साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ मनु० अ० १ श्लो० २२ ॥** प्राणियों के प्रभु उस ब्रह्माने कर्मात्मा इन्द्रादि देवगणको और साध्यगण को तथा सूक्ष्म सनातन यज्ञ को बनाया ॥ २२ ॥ वेद में भी लिखा है कि— अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ यजु० अ० १४०मं २०॥ अग्नि देवता, वायु देवता सूर्य देवता, चन्द्रमा देवता वसु देवता, रुद्र देवता, आदित्य देवता, मरुत् देवता, विश्वेदेव देवता, बृहस्पति देवता, इन्द्र देवता, वरुण देवता ॥२०॥ इस मन्त्र में देवताओं के अग्नि आदिक अलग-अलग नाम लिखे हैं, इससे देवयोनि मनुष्य योनि से अलग है। और भी लिखा है कि त्रयो देवा एकादशत्रयस्त्रिंशां सुराधसः बृहस्पति पुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा ॥ यजु० अ० २० मं० ११ ॥ तीन देवता, अथवा ग्यारह देवता अथवा तैंतीस देवता अनेक सम्पत्तिवाले बृहस्पति हैं पुरोहित जिनके, सविता देवता की प्रेरणा से समस्त देवताओं के सहित ये देवता

हमारी रक्षा करें ॥ ११ ॥ त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राण्यग्निन्त्रिंशच्च देवा नवचासपर्यन् । औक्षन्घृतैरास्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारन्यसादयन्त ॥ यजु० अ० ३३ मं० ७ ॥ तीन हजार तीन सौ ओन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं। उन्होंने घी से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा को आच्छादन करते हुए होता को होतृ कर्म में नियुक्त किया ॥ ७ ॥ और निरुक्त में भी लिखा है कि— तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवी स्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्योयुस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥ निरु० दैवतकां० अ० ७ खं ५ ॥ ये तीन देवता हैं। अग्नि, देवता पृथ्वी स्थान में वायु देवता और इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में, और सूर्य देवता द्यु स्थान में हैं। इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक एक के बहुत से नाम होते हैं ॥ ५ ॥ व्याकरण भी मनुष्य योनि से भिन्न ही देव योनि मानता है, क्योंकि यह लिखा है कि— सूर्याद्देवतायां चापवाच्यः ॥ वार्तिक० ॥ सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। देवता जाति में उत्पन्न हुई जो सूर्य की स्त्री है व्याकरण कहता है कि वहाँ पर सूर्य शब्द से आप प्रत्यय होकर स्त्री प्रत्ययान्त पद सूर्या ऐसा बनेगा और यदि सूर्य की स्त्री मनुष्य जाति में पैदा हुई हो तब फिर "सूर्या" ऐसा पद नहीं बनेगा किन्तु सूर्य शब्द से ॥ पुंयोगादाख्यायाम् ॥ व्याक० अ० ४ पा० १ सूत्र ४८ ॥ इस सूत्र से अङीष् प्रत्यय होकर ॥ सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ॥ व्या० अ० ६ पा० ४ सू० १४९ ॥ इस सूत्र से ॥ सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च ॥ इस वार्तिक के नियम द्वारा य लोप होने से "सूरी" ऐसा स्त्री प्रत्ययान्तपद बनेगा । इससे सिद्ध हो गया कि व्याकरण में देव जाति को मनुष्य जाति से अलग माना गया है। इसीसे कहा है कि— भगवदपचार अन्य देवताओं के समान ईश्वर को चिन्तन करना और श्रीरामकृष्णादिक अवतारों में मनुष्य जाति की बुद्धि करना तथा अपने वर्णाश्रम धर्म स विरुद्ध आचरण करना और अर्चावतार के विषय में पत्थर, पीतल, ताम्बा आदिक उपादान का निरूपण करना तथा आत्मापहार करना और भगवद् द्रव्य को अपहरण करना इत्यादिक हैं ॥३२२॥

अब श्रीवचनभूषणकार और भी भगवदपचार को कहते हैं कि—

भगवद्द्रव्यस्य स्वयमपहारोऽपहर्तृणां सहकारित्वं तेभ्यो याचितमयाचितंवा परिग्रहश्च भगवतोऽनिष्टः ॥३२३॥

अर्थ — (भगवद् द्रव्यस्य) भगवान् के द्रव्य को (स्वयम्) अपने से (अपहारः) चुरा लेना या (अपहर्तृणाम्) चुरानेवालों की (सहकारित्वम्) सहायता करना (च) और (तेभ्यः) भगवान् के द्रव्य चुरानेवाले उन सबों से (याचितम्) माँगकर (वा) या (अयाचितम्) बिना माँगे हुए (परिग्रहः) ले लेना (भगवतः) भगवान को (अनिष्टः) अनिष्ट है। अर्थात् पूर्वोक्तको भगवदपचार कहते हैं। और भी बत्तीस प्रकार के अपराध को कहते हैं कि — **यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे। दीपोत्सवे वाद्यसेवा अप्रशस्तामदग्रतः॥ उच्छिष्टे चैकवासे च भगवद्वन्दनादिकम्। एकहस्तप्रणामं च यत्सुप्तेऽस्मिन्प्रदक्षिणम्॥ यत्पुरोदण्डपातश्च यच्च तांबूलमग्रतः। पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्यंकवन्दनम्॥ शयनं भक्षणं चैव मिथ्याभाषणमेव च। उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनं चैव विग्रहः॥ निग्रहोऽनुग्रहश्चैव मिष्टं च क्रूरभाषणम्। पृष्ठे कृत्वासनं चैव परेषामभिवादनम्॥ गुरोर्मौनं निजस्तोत्रं देवब्राह्मणनिन्दनम्। कम्बलावरणं चैव परनिन्दापरस्तुतिः॥ अश्लीलभाषणं चैव अधोवायुविमोचनम्। तत्तत्कालोद्भावानां च फलादीनामनर्पणम्॥ अपराधा इमे विष्णोर्द्वात्रिंशत्परिकीर्तिताः। यत्नतोवर्जनीयास्तेविष्णुपूजनतत्परैः॥**

भगवान् के मन्दिर में विमान पर या खड़ाऊँ पर चढ़कर जाना और दीपोत्सव में भगवान के सामने बाजा बजाना तथा जूठे मुँह से और एक वस्त्रसे भगवानकाअभिनन्दनस्तुतिकरना और एकहाथसे साष्टांग प्रणाम करना तथाभगवान केशयनकरनेपरप्रदक्षिणा करनाऔर भगवान्केसामने लाठी की तरह गिरना तथा भगवत् केसामने पान खाना और भगवानके

तरफ पैर फैलाना तथा पलंग से वन्दना करना और भगवान के आगे सोना, खाना, झूठ बोलना, जोर से बोलना, आपस में बात करना, रोना झगड़ा करना, पकड़ना, अनुग्रह करना और अच्छा या बुरा बोलना तथा भगवान् को पीछे करके बैठना और भगवान के सामने दूसरे देवों को प्रणाम करना, तथा गुरु को देखकर नहीं बोलना और अपनी स्तुति करना और देवता तथा ब्राह्मणकी निन्दा करना, कम्बल का पर्दा लगाना तथा दूसरों की निन्दा और स्तुति करना तथा अश्लील बोलना और पैखाने के रास्ते से भगवान्के सामने हवा छोड़ना तथा समय समयके फल फूल अन्न आदि को भगवत् के लिए नहीं अर्पण करना ये बत्तीस भगवद-पचार ऋषि लोगों ने कहा है। श्रीविष्णु भगवान् की पूजा में तत्पर रहनेवाले भक्तजनों को चाहिये कि इन बत्तीस भगवदंपचारों को यत्न से परित्याग कर दें॥ इसीसे कहा है कि—भगवान्के द्रव्यों को अपने चुरा लेना या चुरानेवालों की सहायता करना अथवा उन चुरानेवालों से माँगकर या बिना माँगे हुए ले लेना यह भगवान् का इष्ट नहीं है। ३२३ ॥

अब जगद्गुरुजी भागवतापचार को कहते हैं कि—

भागवतापचारो नामाहंकारार्थकामहेतुना श्रीवैष्णवेषु क्रियमाणो विरोधः ॥ ३२४ ॥

अर्थ—(भागवतापचारः) भागवतापचार (नाम) किसको कहते हैं कि (अहंकारार्थकामहेतुना) अहंकार से अर्थ और काम का कारण करके (श्रीवैष्णवेषु) श्रीवैष्णवों के विषय में (क्रियमाणः) किया हुआ (विरोधः) विरोध है। इसीसे कहा है कि— भागवतापचार माने अहंकार से अर्थ और काम के कारण श्रीवैष्णवों में किया हुआ विरोध है॥३२४॥

अब जगदाचार्यजी असह्यापचार को कहते हैं कि—

असह्यापचारो नाम-निर्निबन्धनं भगवद्भागवत-विषय इत्युक्तावसहमानतया स्थितिः, आचार्यापचारः,

तद्भक्तापचारश्च ॥३२५॥

अर्थः (असह्यापचारः) नहीं सहने योग्य असह्यापचार (नाम) किसको कहते हैं कि (निर्निबन्धनम्) बिना कारण के (भगवद्भागवत विषये) भगवत् और भागवत के विषय में (इति) ऐसा (उक्तौ) कथनमें (असहमानतया) नहीं सहन करते हुए (स्थितिः) रहना (च) और (आचार्यापचारः) महोपकारक आचार्य और (तद्भक्तापचारः) आचार्य के भक्तका अपचार है, इसीसे कहे हैं कि असह्यापचार माने बिना कारण के भगवद्भागवत की कही हुई वार्ता का नहीं सहते हुए स्थिति करना और आचार्यापचार तथा आचार्य के भक्तों का अपचार है ॥३२५॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि पूर्वोक्त अपचार उपाय और उपेय विरोधी हैं।

एत एकस्मादेकः क्रूरः, उपायविरोधिनः उपेय-विरोधिनश्च ॥३२६।

अर्थ— (एते) ये अकृत्यकरण, भगवदपचार, भागवतापचार और असह्यापचार रूप निषिद्धानुष्ठान (एकस्मात्) एक से (एकः) एक (क्रूरः) क्रूर हैं तथा (उपायविरोधिनः) उपाय के विरोधी हैं (च) और (उपेयविरोधिनः) उपेयके भी विरोधी हैं। इसीसे कहा है कि ये सब एकसे एक क्रूर हैं और उपाय विरोधी हैं तथा उपेय विरोधी हैं ॥३२६॥

इति श्रीवचनभूषणेअधिकारिवैभवनामतृतीयप्रकरणे प्रपन्नदिनचर्या समाप्ता ॥

॥ अथ सद्गुरूपसेवनवैभवनाम चतुर्थप्रकरणम् ॥

अथ सद्गुरूपसेवनवैभवनाम चतुर्थप्रकरणे सदाचारलक्षणम् ॥

अब श्रीमल्लोकाचार्य स्वामीजी ॥ **स्वेन हितोपदेशकरणसमये स्वस्य शिष्यस्य फलस्य च व्यत्यासेनानुसन्धानं क्रूरनिषिद्धम्। श्रीवचन-भू०सू० ३२७॥** इस सूत्रसेलेकर **अपराधकर्तृ विषये क्षमा कृपा हासः**

प्रीतिरुपकारस्मृतिश्च कर्तव्या ॥ श्रीवचन भू० सू० ३८८ ॥

इस सूत्र पर्यन्त सद्गुरूपसेवन वैभव नामक चौथे प्रकरणको कहा है जिसमें सदाचार्यके लक्षणको विस्तारपूर्वक कहते हुए प्रबन्धकर्त्ता पहले कहते हैं कि कल्याणके उपदेश समयमें अपनेसे अपना और फलका तथा शिष्यका विपरीत चिन्तन करना पहले कहे हुए क्रूरोंसे भी निषिद्ध है।

स्वेन हितोपदेशकरणसमये स्वस्य शिष्यस्य फलस्य च व्यत्यासेनानुसन्धानं क्रूरनिषिद्धम् ॥३२७॥

सिद्ध सत्संप्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं सत्वस्थं सत्यवाचं समनियमतया साधुवृत्या समेतम्। दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिक भूष्णुरीप्सेत ॥१॥

अर्थ :—(स्वेन) अपनेसे (हितोपदेशकरणसमये) हितकारक उपदेश करनेके समयमें (स्वस्य) अपना (शिष्यस्य) शिष्यका (च) और (फलस्य) फलका (व्यत्यासेन) विपरीत (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान करना (क्रूरनिषिद्धम्) अकृत्यकरण, भगवदपचार और असह्यापचार इन क्रूरों से भी निषिद्ध है। इसीसे कहे हैं कि—अपनेसे हितके उपदेश करनेके समयमें अपने शिष्य को और फलका विपरीत करके अनुसन्धान क्रूरसे भी निषिद्ध है ॥३२७॥

अब प्रबन्धकर्त्ता अपना और शिष्यका तथा फलका विपरीतसे अनुसन्धान करना किसको कहते हैं, यह कहते हैं कि—

स्वस्य व्यत्यासेनानुसन्धानं नाम-स्वस्याचार्यत्वेनानुसन्धानं शिष्यस्य व्यत्यासेनानुसन्धानं नाम स्वस्य शिष्य इत्यानुसन्धानं, फलस्य व्यत्यासेनानुसन्धानं नाम-दृष्टफलप्रयोजनस्य शिष्यस्योज्जीवनस्य भगवत्कैंकर्यस्य सहवासस्य च फलत्वेनानुसंधानम् ॥३२८॥

अर्थ —(स्वस्य) अपना (व्यत्यासेन) विपरीत करके (अनुसन्धानम्)

अनुसन्धान करना (नाम) किसको कहते हैं कि (स्वस्य) अपनेको (आचार्यत्वेन) आचार्यकरके (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान करना है और (शिष्यस्य) शिष्यके (व्यत्यासेन) विपरीत करके (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान करना (नाम) किसको कहते हैं कि (स्वस्य) अपनेको (शिष्यः) शिष्य (इति) ऐसा (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान करना है और (फलस्य) फलके (व्यत्यासेन) विपरीत करके (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान करना (नाम) किसको कहते हैं कि (दृष्टफलप्रयोजनस्य) देखे हुए स्त्री, पुत्र, धन आदिक फलके प्रयोजन के और (शिष्यस्य) शिष्यके तथा (उज्जीवनस्य) उज्जीवनके और (भगवत्कैंकर्यस्य) भगवानके कैंकर्यके (च) और (सहवासस्य) सहवासके (फलत्वेन) फल करके (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान करना है। इसीसे कहा है कि— अपनेको विपरीत अनुसन्धान करना माने अपनेको आचार्यत्वेन अनुसन्धान करना है और शिष्यको विपरीतसे अनुसन्धान करना माने अपनेको शिष्य ऐसा अनुसन्धान करना है और फलको विपरीतसे अनुसन्धान करना माने देखे हुए फलके प्रयोजनको तथा शिष्यको और उज्जीवनको तथा भगवत्कैंकर्यको और सहवासको फलत्वेन अनुसन्धान करना है ॥३२८॥

अब जगदाचार्यजी दृष्टफल और उज्जीवन तथा भगवत्कैंकर्य और सहवास ये चारो कैसे सिद्ध होते हैं इसको कहते हैं कि—

अनुसंधानाभाव एतत्फलचतुष्टयसिद्धिप्रकारः कथमिति चेत्-शेषभूतस्य शिष्यस्यानुसंधानेन दृष्टफलं सिद्ध्यति, ईश्वरस्यानुसंधानेनोज्जीवनं सिद्ध्यति, आचार्यस्यानुसंधानेन भगवत्कैंकर्यं सिद्ध्यति, उपकार-स्मृत्या सहवासः सिद्ध्यति । ३२९॥

अर्थ—(अनुसन्धानाभावे) अनुसन्धानके अभाव होनेपर (एतत्फल-चतुष्टयसिद्धिप्रकारः) ये दृष्टफल और उज्जीवन तथा भगवत्कैंकर्य और सहवासरूप चारो फलके सिद्धि प्रकार (कथम्) कैसे होगा (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो तो इसका उत्तर यह है कि (शेषभूतस्य)

भगवत् के शेषभूत (शिष्यस्य) उपदेश देने योग्य शान्त शिष्यको (अनुसन्धानेन) अनुसन्धान करने से (दृष्टफलम्) देखा हुआ फल (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है तथा (ईश्वरस्य) परमात्माको (अनुसन्धानेन) अनुसन्धान करनेसे (उज्जीवनम्) उज्जीवन (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है (आचार्यस्य) महोपकारक दिव्य आचार्यको (अनुसन्धानेन) अनुसन्धान करनेसे (भगवत्कैंकर्यम्) भगवत्का दिव्य कैंकर्य (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है और (उपकारस्मृत्या) उपकार को स्मरण करने से (सहवासः) सहवास (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है। इसीसे कहा है कि— अनुसन्धान के अभाव होने पर इन चारों फलों के सिद्ध होने का प्रकार कैसा है ऐसा यदि कहो तो इसका उत्तर यह है कि—शेषभूत शिष्य को अनुसन्धान करने से देखा हुआ फल सिद्ध होता है और ईश्वर को अनुसन्धान करनेसे उज्जीवन सिद्ध होता है और आचार्य को अनुसन्धान करने से भगवत्कैंकर्य सिद्ध होता है तथा उपकार को स्मरण करने से सहवास सिद्ध होता है ।।३२९।।

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि, स्वरूप को अनुसन्धान करने से साक्षात् फल सिद्ध होता है और परस्वरूप को अनुसन्धान करने से साक्षात् आचार्यत्व सिद्ध होता है।

साक्षात्फलमाचार्यत्वं च कथं सिद्ध्यतीति चेत्-स्वानुसंधानेनेश्वरानुसन्धानेन च सिद्ध्यति ॥३३०॥

अर्थ—(साक्षात्) साक्षात् (फलम्) फल (च) और (आचार्यत्वम्) आचार्यत्व (कथम्] कैसे (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो तो इसका उत्तर यह है कि (स्वानुसन्धानेन) अपने स्वरूप को अनुसन्धान करने से (च) और (ईश्वरानुसन्धानेन) ईश्वर के स्वरूप का अनुसन्धान करने से (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है। इसीसे कहा है कि–साक्षात्फल और आचार्यत्व कैसे सिद्ध होता है ऐसा यदि कहे तो इसका उत्तर यह है कि अपने को अनुसन्धान करने से और परमात्मा को अनुसन्धान करने से सिद्ध होता है ॥३३०॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि इस प्रकार के बिना उपदेश के आचार्य का और शिष्य का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता है।

एवं विनोपदेश उभयोरपि स्वरूपसिद्धिर्नास्ति ॥३३१॥

अर्थ—(एवम्) इस प्रकार के (बिना) नहीं (उपदेशे) उपदेश होने पर (उभयोः) आचार्य और शिष्य इन दोनों के (अपि) भी (स्वरूपसिद्धिः) स्वरूप की सिद्धि (न) नहीं (अस्ति) हो सकती है। इसीसे कहा है कि—इस प्रकार के बिना उपदेश के आचार्य और शिष्य इन दोनों की भी स्वरूप-सिद्धि नहीं हो सकती है ॥३३१॥

आचार्यस्य शिष्यस्य विषये कृपा स्वाचार्यविषये पारतंत्र्यं चावश्यापेक्षितम् ॥ ३३२ ॥

अर्थ—(आचार्यस्य) महोपकारक आचार्य की (शिष्यस्य) अपने शिष्य के (विषयेः) विषय में कृपा अवश्य अपेक्षित है (च) और (स्वाचार्यविषये) महोपकारक पंचसंस्कार करनेवाले अपने आचार्य के विषय में (पारतंत्र्यम्) पराधीनता (अवश्यापेक्षितम्) अवश्य अपेक्षित है। इसीसे कहा है कि—आचार्य की शिष्य के विषय में कृपा और अपने आचार्य के विषय में पराधीनता अवश्य अपेक्षित है ॥३३२॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि कृपा से शिष्य का स्वरूप सिद्ध होता है और पराधीनता से अपना स्वरूप सिद्ध होता है।

कृपया शिष्यस्वरूपं सिद्ध्यति पारतंत्र्येणस्वरूपं सिद्ध्यति ॥३३३॥

अर्थ—(कृपया) महोपकारक आचार्य की कृपा से (शिष्यस्वरूम्) शिष्य का स्वरूप (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है और (पारतंत्र्येण) अपने आचार्य की पराधीनता से (स्वस्वरूपम्) अपा स्वरूप (सिद्ध्यति) सिद्ध होता है। इसीसे कहा है कि—कृपा से शिष्य का स्वरूप सिद्ध होता है और पारतंत्र्य से अपना स्वरूप सिद्ध होता है ॥ ३३३ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि संसार सागर से पार करने वाले द्वयमंत्र के उपदेशक को ही आचार्य कहते हैं।

साक्षादाचार्य इत्युच्यते संसारनिवर्तकस्य महाश्रीमंत्रस्योपदेष्टा ॥३३४॥

अर्थ—(साक्षात्) साक्षात् (आचार्यः) आचार्य (इति) ऐसा (उच्यते) कहते हैं (संसारनिवर्तकस्य) संसार सागर से पार करने वाले (महाश्रीमंत्रस्य) श्रेष्ठ द्वयमंत्र के (उपदेष्टा) उपदेश देनेवाले को। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि द्वयमंत्र के उपदेशक को आचार्य कहते हैं ? देखिये पद्मपुराण में लिखा है कि—**यस्तु मंत्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः । स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः ॥ पद्मपु० ॥** जो वैष्णव द्वयमंत्र को अच्छे प्रकार से पढ़ाता है, संसार के बन्धन को नाश करनेवाले उसको आचार्य जानना ॥ और हारीत स्मृति में लिखा है कि—**आचार्यं संश्रयेत्पूर्वमनवद्यं च वैष्णवम् । शुद्धसत्वगुणोपेतं नवेज्याकर्मकारकम् ॥ सत्संप्रदायसंयुक्तं मंत्ररत्नार्थकोविदम् । ज्ञानवैराग्यसंपन्नं वेदवेदांगपारगम् ॥ शासितारं सदाचारैः सर्वधर्मविदांवरम् । महाभागवतं विप्रं सदाचारनिषेविणम् ॥ आलोक्य सर्वशास्त्राणि पुराणानि च वैष्णवः । तदर्थमाचरेद्यस्तु स आचार्य इतीरितः ॥ हारीत स्मृ० ॥** पहले अनवद्य वैष्णव शुद्ध सत्वगुण से युक्त रोज-रोज यज्ञादिक कर्म करनेवाले सत्संप्रदाय से युक्त और द्वयमंत्र के अर्थ को जाननेवाले ज्ञान और वैराग्य से युक्त वेदवेदांगपार किये हुए सदाचारों से शिक्षा देनेवाले संपूर्ण धर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ महाभागवत सदाचार सेवी ब्राह्मण को आचार्य के लिये आश्रयण करें। जो वैष्णव सम्पूर्ण शास्त्र और पुराणों को देखकर भगवत् के लिये आचरण करता है उसको आचार्य कहते हैं ॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से यह प्रमाणित हो गया कि द्वयमंत्र के उपदेश देनेवाले को आचार्य कहते हैं। इसी से कहा है कि संसार से पार करनेवाले महान् श्रीमंत्र के उपदेश देनेवाले को साक्षात् आचार्य कहते हैं ॥ ३३४ ॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि संसार को बढ़ानेवाले क्षुद्र भगवत् के मंत्रों को उपदेश देनेवालों में आचार्यत्वकी पूर्ति नही है।

संसारवर्द्धकनां क्षुद्राणां भगवन्मत्राणामुपदेष्टृणामाचार्यत्वपूर्तिर्नास्ति ॥३३५॥

अर्थ—(संसारवर्द्धकानाम्) संसार के स्त्री, पुत्र, धन आदिक को बढ़ानेवाले (क्षुद्राणाम्) क्षुद्र (भगवन्मन्त्राणाम्) भगवान के मंत्रों को (उपदेष्टृणाम्) उपदेश देनेवालों में (आचार्यत्वपूर्तिः) आचार्यत्व की पूर्ति (न) नहीं (अस्ति) है। इसीसे कहा है कि—संसार बढ़ानेवाले क्षुद्र भगवन्मंत्रों के उपदेश देनेवालों में आचार्यत्व की पूर्ति नहीं है ॥३३५॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि फल द्वारा भगवन्मंत्र क्षुद्र कहे जाते हैं।

भगवन्मंत्राः क्षुद्रा इत्युच्यन्ते फलद्वारा ॥३३६॥

अर्थ—(भगवन्मंत्राः) भगवत् के मंत्र (क्षुद्राः) क्षुद्र (इति) ऐसे (उच्यन्ते) कहे जाते हैं (फलद्वारा) इसी से कहा है कि—भगवन्मंत्र क्षुद्र ऐसे कहे जाते हैं फल के द्वारा ॥३३६॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि फल के द्वारा ही भगवन्मंत्र संसार के बढ़ाने वाले भी कहे जाते हैं।

संसारवर्द्धका इत्यपि तेन ॥३३७॥

अर्थ—(संसारवर्द्धका.) संसार के बढ़ानेवाले (इति) ऐसे (अपि) भी (तेन) फल के द्वारा ही भगवन्मंत्र कहे जाते हैं। इसीसे कहा है कि - संसार वर्द्धक ऐसा भी फल द्वारा ही है ॥३३७॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि यह फल उपाधिसे आया हुआ है।

इदं चौपाधिकम् ॥ ३३८ ॥

अर्थ—(च) और भगवत् के मंत्र के विषय में (इदम्) यह फल

(औपाधिकम्) उपाधि से आया हुआ है। इसीसे कहा है कि—यह फल औपाधिक है ॥३३८॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि विचित्र रुचिवाले जीवों की रुचि से यह फल आया है।

चेतनानां रुच्यागतत्वात् ॥३३९॥

अर्थ—(चेतनाम्) विचित्र रुचिवाले जीवों की (रुच्यागतत्वात्) रुचि से आने से यह फल औपाधिक है। इसी से कहा है कि—जीवों की रुचि से आने से ॥३३९॥ इति श्रीवचनभूषणे सद्गुरूपसेवनवैभवनाम

—चतुर्थप्रकरणे सदाचार्यलक्षणं समाप्तम् ॥



॥ अथ सच्छिष्यलक्षणम् ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी सत् शिष्य का लक्षण कहते हैं कि—

शिष्य इत्युच्यते साध्यान्तरनिवृत्तिः फलसाधन-शुश्रू षाऽऽर्तिरादरोऽनसूया इत्येतद्विशिष्टः ॥३४०॥

अर्थ—(शिष्यः) शिष्य (इति) ऐसा (उच्यते) कहते हैं कि जो (साध्यान्तरनिवृत्तिः) भगवान से अन्यसाध्य में निवृत्त हो और (फल-साधनशुश्रूषा) भगवत्प्रातिफल के उपायको सुनने की जिसमें इच्छा हो तथा जो (आर्तिः) दुःख से युक्त हो और (आदरः) भगवद्भागवताचार्य के विषय में आदर हो तथा (अनसूया) निन्दा रहित हो (इति) इस प्रकार के (एतद्विशिष्टः) इन सबों मे युक्त हो। और हारीत स्मृति में लिखा है कि—**आस्तिक्यमानसं सद्भिरुपेतं धर्मवत्सलम्। श्रद्दधानं सदाचारं गुरुशुश्रूषतत्परम् ॥ हारीतस्मृ०॥** आस्तिकतायुक्त मन हो तथा सज्जनों से युक्त हो और धर्मवत्सल हो तथा श्रद्धा वाला हो सदाचार से युक्त हो तथा गुरुकी शुश्रूषा में तत्पर हो उसको शिष्य कहते हैं ॥ इसीसे कहा है कि—साध्यान्तरनिवृत्ति और फल के साधन में शुश्रूषा आर्ति और आदर तथा अनसूया इन सबों से जो युक्त हो उसको

शिष्य ऐसा कहते हैं ॥३४०॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि शिष्यों को चाहिये कि सब कुछ आचार्य ही हैं ऐसा अनुसंधान करें।

मंत्रो देवता फलं फलानुबन्धिनः फलसाधनमैहिक-भोगश्चैते सर्वे आचार्य एवेत्यनुसंधानं कुर्यात् ।३४१॥

अर्थ—(मंत्रः) अनुसंधान करनेवाले रक्षक मंत्र (देवता) और उस मंत्र से प्रतिपाद्यदेवता (फलम्) परदेवता के अनुग्रह से मिलनेवाला कैंकर्यरूप महाफल तथा (फलानुबन्धिनः) कैंकर्यरूप महाफल को देनेवाले और (फलसाधनम्) भगवत् के नित्य कैंकर्यरूप महाफल के उपाय कर्मादिक (च) और (ऐहिकभोगः) स्त्री, पुत्र, घर, खेत, पशु, धन, अन्न, वस्त्र आदि के अनुभव रूप ऐहिक भोग (एते) ये (सर्वे) सब (आचार्यः) हमारे आचार्य ही हैं (एव) निश्चय ही (इति) ऐसा (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान (कुर्यात्) करना चाहिये। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि परब्रह्मादिक गुरु ही हैं। इस प्रश्न का उत्तर अद्वयतारकोपनिषद् में लिखा है कि— **गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः। गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परायणम्॥ गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परंधनम्। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्-गुरुतरो गुरुः॥ अद्वयतारकोपनि०॥** गुरुही परब्रह्म, गुरु ही परागति, गुरु ही पराविद्या, गुरु ही त्रिपाद्विभूति, परस्थान, गुरु ही पराकाष्ठा, गुरु ही श्रेष्ठ धन हैं जिस कारण से उस मंत्र का उपदेश किया है उस कारण से गुरु ही सबसे श्रेष्ठ हैं॥ और भी लिखा है कि— **ऐहिकामुष्मिकं सर्वं सचाष्टाक्षरदो गुरुः॥ इत्येवं ये न मन्यन्ते त्यक्तव्यास्ते मनीषिभिः॥** इस लोक और परलोक की सब वस्तु अष्टाक्षर मंत्र को उपदेश देनेवाले गुरु ही हैं। ऐसा जो नहीं समझते हैं वे लोग छोड़ने योग्य हैं॥ इसीसे कहा है कि मंत्र, देवता, फल, फलानुबन्धि, फलका साधन और ऐहिक भोग ये सब आचार्य ही हैं, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये ॥३४१॥

अब जगद्गुरुजी अपने कहे हुए पूर्वोक्त अर्थ में विश्वास होने के लिए यामुनाचार्य स्वामीजी के वचन को कहते हैं कि—

मातापितेत्यादिश्लोक अयमर्थः परमाचार्यैरुक्तः एतन्मूलमुपकारस्मृतिः ॥३४२॥

अर्थ—(माता) माँ (पिता) बाप (इत्यादिश्लोके) इस आलबन्दारस्तोत्र के आठवें श्लोक में (अयम्) यह (अर्थः) अर्थ (परमाचार्यैः) परमाचार्य यामुनाचार्य स्वामीजी ने (उक्तः) कहा है (एतन्मूलम्) आचार्य ही हमारे सब हैं ऐसा अनुसन्धान करने का कारण (उपकारस्मृतिः) नित्य संसारी अपने को उपदेशादि से शोधन कर नित्य सूरियों के अनुभव के योग्य बनाये हैं, ऐसा उपकार की स्मृति है। इस तीन सौ बयालिसवें सूत्र में ॥ माता पिता ॥ यह पद आलवन्दार स्तोत्र में आठवें श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले सम्पूर्ण उस श्लोक को लिखकर उसका अर्थ लिखता हूँ कि — **मातापितायुवतयस्तनयाविभूतिस्सर्वं यदेव नियमेन मदन्वयानाम्। आद्यस्य नः कुलपतेर्वकुलाभिरामं श्रीमत्तदङ्घ्रि-युगलं प्रणमामि मूर्ध्ना ॥ आलव० श्लोक० ८ ॥** हमारे वंश में उत्पन्न होनेवालों के माँ बाप, स्त्री, पुत्र, पुत्री, अन्न, धन आदिक ऐश्वर्य जो ये सब हैं सो निश्चय करके हम सबों के रक्षक आद्य श्रीशठकोप स्वामीजो के मौलसरी के फूल के समान शोभायुक्त दोनों चारणारविन्दों को मस्तक से प्रणाम करता हूँ ॥८॥ इस श्लोक का विशेष अर्थ जिसको जानना हो वह मेरी बनायो हुई आलबन्दार स्तोत्रकी 'भाव प्रकाशिका' टीका को देख ले। इसीसे कहा है कि— माता पिता इस श्लोक में यह अर्थ यामुनाचार्य स्वामीजी ने कहा है कि इसका कारण उपकार का स्मरण करना है ॥३४२॥

अब श्रीवचनभूषणकार इस उपकार स्मृति के प्रसंग से इसकी पहली और अन्तिम सीमा को कहते हैं कि—

उपकारस्मृतेः प्रथमावधिराचार्यविषयेकृतज्ञता

चरमावधिरीश्वरविषयेकृतज्ञता ।।३४३।।

अर्थ—(उपकारस्मृतेः) उपकार स्मृति की (प्रथमावधिः) पहली सीमा (आचार्यविषये) अज्ञात ज्ञापन द्वारा अपने को जनाकर भगवद्विषय को हस्तगत करनेवाले महोपकारक आचार्य के विषय में (कृतज्ञता) कृतज्ञता है और (चरमावधिः) उपकार स्मृति की अन्तिम सीमा (ईश्वरविषये) अखिल ब्रह्माण्ड नायक श्रीमन्नारायण के विषय में (कृतज्ञता) कृतज्ञता है। इसीसे कहा है कि—उपकार स्मृति की पहली सीमा आचार्य के विषय में कृतज्ञता है, और अन्तिम सीमा ईश्वर के विषय में कृतज्ञता है ।।३४३।।

अब जगदाचार्यजी और सच्छिष्यों के विनियोग प्रकार को कहते हैं कि—

शिष्य आचार्यश्चान्योन्यं प्रियाहिते प्रवर्तेयाताम् ।।३४४।।

अर्थ—(शिष्यः) शिष्य (च) और (आचार्यः) आचार्य (अन्योन्यम्) परस्पर आपस में (प्रियहिते) प्रिय और हितों को (प्रवर्तेयाताम्) करना चाहिये। अर्थात् शिष्य आचार्य का प्रिय और हित को करे तथा आचार्य शिष्य को प्रिय और हित को करे। इसीसे कहा है कि शिष्य और आचार्य परस्पर प्रिय और हितों को करें ।।३४४।।

अब लोकाचार्य स्वामीजी शिष्य और आचार्य इन दोनों के परस्पर प्रिय और हित करने के क्रम को कहते हैं कि—

शिष्यः स्वयं प्रियं प्रवर्तयेत् ईश्वरेण हितं प्रवर्तयेत्, आचार्यो व्यत्यासेन प्रवर्तयेत् ।।३४५।।

अर्थ—(शिष्यः) शिष्य को आचार्य के विषय में (स्वयम्) स्वस्वरूपानुरूप आचार्य का मुखोल्लास ही पुरुषार्थ समझ अपने कैंकर्यादि से आप (प्रियम्) आचार्य के प्रिय को (प्रवर्तयेत्) सब काल में करना चाहिये और मंगलाशासन पर होने से इस विभूति स्वभाव से मन में

किसी प्रकार की व्याकुलता न होनी चाहिए। ऐसा कुछ कल्मष होने पर उसको दूर करने के लिये (ईश्वरेण) परमात्मा से (हितम्) आचार्य के हित को (प्रवर्तयेत्) करना चाहिये और (आचार्यः) आचार्य को शिष्य के विषय में पहले कहे हुए से (व्यात्पासेन) विपरीत (प्रवर्तयेत्) करना चाहिये। अर्थात् हित पर होने से शिष्य का स्वरूप नष्ट न होने के लिये हेय उपादेयों में मखलन न हो जैसा नियम न कर ममेशा अच्छे मार्ग में ले जाना रूपहित को स्वयं करना तथा देखी हुई वस्तु के अभाव से जब शिष्य दुःखी होता है तब वह वस्तु इनको मिलनी चाहिये ऐसी ईश्वर से प्रार्थना कर प्रिय को करना। इसीसे कहा है कि—शिष्य स्वयं प्रिय को करना चाहिये, ईश्वर के द्वारा हित को करना चाहिये, आचार्य को इसके उलटा करना चाहिये ॥३४५॥

अब प्रबन्धकर्ता शिष्य का प्रियकरण और आचार्य का हितकरण प्रधान है इसको कहते हैं कि—

शिष्यः प्रीतौ तत्परो वर्तेत, आचार्यऊज्जीवने तत्परो वर्तेत ॥ ३४६ ॥

अर्थ—(शिष्य) शेषभूतशिष्य (प्रीतौ) शेषी आचार्य के प्रिय करने में (तत्परः) तत्पर (वर्तेत) रहना चाहिये। और (आचार्यः) परम कृपालु आचार्य (उज्जीवने) शिष्य को संसार से उद्धारकर उज्जीवन करने में (तत्परः) तत्पर (वर्तेत) रहना चाहिये। इसीसे कहा है कि—शिष्य को आचार्य के प्रिय करने में अधिक ध्यान देना चाहिये ॥३४६॥

अब श्रीवचनभूषणकार तीन सौ छियालिसवें सूत्र में कहते हुए के फल को कहते हैं कि—

तस्माच्छिष्यस्याचार्यहर्षविषयत्वं विना रोषविषतया अवकाशो नास्ति ॥ ३४७ ॥

अर्थ—(तस्मात्) शिष्य को आचार्य का प्रिय करना तथा आचार्य को शिष्य का हित करना रूप उस कारण से (शिष्यस्य) शिष्य को

(आचार्यहर्षविषयत्वम्) महोपकारक आचार्य के हर्ष के विषय को (विना) विना (रोषविषयतया) अनिष्ट करणादियों से रोष का विषय होने का (अवकाशः) अवकाश (न) नहीं (अस्ति) है। इसी से कहा है कि—इसलिये शिष्य को आचार्य के संतोष का पात्र बिना रोष का पात्र होने का अवकाश नहीं है ॥३४७॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी हितरूप होने से वह निग्रह शिष्य और आचार्य इन दोनों का उपादेय है, इस बात को कहते हैं कि—

निग्रहस्य पात्रं भवति चेत् स हितरूपत्वादुभयोरप्युपादेयः ॥३४८॥

अर्थः—(निग्रहस्य) अनिष्ट करणादि से आचार्य के निग्रह का (पात्रम्) पात्र (भवति) होगा (चेत्) यदि तो (सः) वह निग्रह (हितरूपत्वात्) शिष्य की दुष्ट प्रवृत्ति को रोककर समीचीन मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए उपयुक्त हितरूप होने से (उभयोः) निग्रह विषय शिष्य और निग्रहाश्रय आचार्य इन दोनों के (अपि) भी (उपादेयः) उपादेय है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि निग्रहस्थान कौन है? इस प्रश्न का उत्तर न्यायशास्त्र में लिखा है कि— **विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्** ॥ न्यायद० अध्या० १ आह्नि० २ सू० १९ ॥ विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति निग्रह स्थान हैं ॥ १९ ॥ इसी से कहा है कि–निग्रह के पात्र होने के समय वह निग्रह हितरूप होने से दोनों का उपादेय है ॥ ३४८ ॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि शिष्य को अपने निग्रह का कारण छोड़ने योग्य है।

शिष्यस्य निग्रहकारणं त्याज्यम् ॥३४९॥

अर्थ—(शिष्यस्य) सच्छिष्यको (निग्रहकारणम्) निग्रह का कारण (त्याज्यम्) छोड़ने योग्य है। इसीसे कहा है कि—शिष्य को निग्रह का कारण छोड़ने योग्य है।

अब जगद्गुरुजी दृष्टान्तपूर्वक यह कहते हैं कि आचार्य निग्रह प्राप्त वस्तु के अन्तर्गत है।

निग्रहश्च भगवन्निग्रहवत् प्राप्यान्तर्गतः ॥३५०॥

अर्थ (च) और (निग्रहः) अपने आचार्य से अपने विषय में किया हुआ निग्रह (भगवन्निग्रहवत्) अपने विरोधी निवृत्ति के उपयोगी भगवान के निग्रह की तरह पुरुषार्थ कोटि में अन्तर्गत होता है (प्राप्यान्तर्गताः) आचार्य अर्थ कामों में आशा रहित होने से उनके कारण से निग्रह करने को प्राप्ति नहीं शिष्य के हित के लिए निग्रह किये तो वह प्राप्य के अन्तर्गत होता है। इसीसे कहा है कि—आचार्य निग्रह भगवन्निग्रह के समान प्राप्य के अन्तर्गत है ॥ ३५० ॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि आचार्य शिष्य के स्वरूप की रक्षा करें और शिष्य आचार्य के शरीर की रक्षा करे।

आचार्यः शिष्यस्य स्वरूपं रक्षेत्, शिष्य आचार्यस्य देहम् रक्षेत्। ३५१॥

अर्थ—(आचार्यः) उज्जीवन पर आचार्य (शिष्यस्य) उज्जीवन की इच्छा से आये हुए शिष्य के (स्वरूपम्) स्वरूप को (रक्षेत्) भूल कर भी अपराध नहीं करे जैसा एकाग्र चित्त हो उपदेशादि से रक्षा करे और (शिष्यः) प्रियपर शिष्य (आचार्यस्य) उज्जीवन में तत्पर अपने स्वरूप की रक्षा करनेवाले आचार्य के (देहम्) शरीर को (रक्षेत्) उचित कैंकर्य से हमेशा एकाग्रचित हो रक्षा करे। इसीसे कहा है कि—आचार्य शिष्य के स्वरूप की रक्षा करे और शिष्य आचार्य के शरीर की रक्षा करे ॥ ३५१ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि दोनों का स्वरूप हो भगवत्कैंकर्य होता है।

उभयमप्युभयोरपि स्वरूपं भगवत्कैंकर्यंच ॥ ३५२ ॥

अर्थ—(उभयम्) आचार्य शिष्य के स्वरूप की रक्षा करें और शिष्य आचार्य के देह की रक्षा करे। ये दोनों (अपि) भी (उभयोः) आचार्य और शिष्य इन दोनों का (अपि) भी (स्वरूपम्) स्वरूप है (च) और (भगवत्कैंकर्यम्) भगवत् के मुखोल्लास होने से ये दोनों भगवत्कैंकर्य

होता है। इसीसे कहे हैं कि—दोनों भी दोनों के स्वरूप हो भगवत्कैंकर्य होते हैं ॥ ३५२ ॥

अब जगद्गुरुजी कहते हैं कि आचार्य यदि अपने देह को अपने से रक्षा करेंगे तो स्वरूप की हानि होगी।

आचार्यस्य देहरक्षणं स्वरूपहानिः ॥ ३५३ ॥

अर्थ—(आचार्यस्य) अपनी देहयात्रा में विरक्त आचार्य के (देहरक्षणम्) देह को शिष्य अपना स्वरूप समझकर रक्षा करना चाहिये ऐसा बिना अपने देह की रक्षा स्वयं कर लेना। (स्वरूपहानिः) आचार्यत्वरूप स्वरूप की हानि है। इसीसे कहा है कि—आचार्य का देहरक्षण स्वरूप की हानि है ॥ ३५३ ॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि शिष्य यदि अपने से स्वरूप की रक्षा करेगा तो शिष्य के स्वरूप की हानि होगी।

शिष्यस्यात्मरक्षणं स्वरूपहानिः ॥ ३५४ ॥

अर्थ—(शिष्यस्य) आचार्य के चरणारविन्द में भारन्यास करने वाले शिष्य का (आत्मरक्षणम्) आत्मस्वरूप की रक्षा आचार्य करेंगे ऐसा नहीं समझकर अपनी आत्मा का अपने से रक्षा कर लेना (स्वरूपहानिः) शिष्यत्वरूप स्वरूप की हानि है। इसी से कहा है कि—शिष्य का आत्मरक्षण स्वरूप की हानि है ॥३५४॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी आचार्य और शिष्य के अपने-अपने व्यवस्थित देहरक्षण और आत्मरक्षण करने के समय अवश्य छोड़ने योग्य विरोधियों को कहते हैं कि—

आचार्येणात्मरक्षणकरणसमय अहंकारो विरोधी शिष्येण देहरक्षणकरणसमये ममकारो विरोधी ॥३५५॥

अब—(आचार्येण) हित-पर आचार्य अपने उपदेशादिकों से (आत्मरक्षणकरणसमये) शिष्यके आत्मरक्षण करनेके समयमें (अहंकारः) हम रक्षा करते हैं ऐसा अहंकार (विरोधी) आचार्य पारतंत्र्यरूप अपने

अधिकार का विरोधी है और (शिष्येण) प्रियपरशिष्य द्रव्यादिकों से (देहरक्षणकरणसमये) आचार्य के देह-रक्षण करने के समय में (ममकारः) अपने द्रव्य और इन्द्रियों से ऐसी रक्षा करता हूँ ऐसा ममकार (विरोधी) शरीर द्रव्य प्राणादि सब आचार्य के हैं ऐसा समझने योग्य अपने अधिकार का विरोधी है। इसीसे कहा है कि— आचार्य द्वारा आत्मा रक्षा करने के समय में अहंकार विरोधी है और शिष्य द्वारा देहरक्षा करने के समय में ममकार विरोधी है ॥३५५॥

अब प्रबन्धकर्ता आचार्य और शिष्य को अपनी अपनी देहरक्षा करने के समय में अनुसन्धान प्रकार को कहते हैं कि—

आचार्यः स्वदेहरक्षणं स्ववस्तु गृहीत्वा कुर्यात्, शिष्यः स्वदेहरक्षणमाचार्यवस्तु गृहीत्वा कुर्यात् ।३५६॥

अर्थ— (आचार्यः) महोपकारक आचार्य (स्वहदेहरक्षणम्) अपने देह की रक्षा शिष्य से तत्तत्काल में दिये जाने वाले द्रव्य को शिष्य का न समझकर (स्ववस्तु) अपनी वस्तु (गृहीत्वा) ग्रहण कर (कुर्यात्) करे और (शिष्यः) शिष्य (स्वदेहरक्षणम्) अपने देह की रक्षा (आचार्यवस्तु) आचार्य की वस्तु (गृहीत्वा) ग्रहण कर (कुर्यात्) करे। इसी से कहा है कि — आचार्य अपने देह की रक्षा अपनी वस्तु को ग्रहण कर करे और शिष्य अपने देह की रक्षा आचार्य की वस्तु को ग्रहण कर करे ॥३५६॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि आचार्य शिष्य की वस्तु को न ले और शिष्य अपनी वस्तु को न दे।

आचार्यः शिष्यवस्तु नादद्यात्। शिष्यः स्ववस्तु न दद्यात् ॥३५७॥

अर्थ.— (आचार्यः) महोपकारक आचार्य (शिष्यवस्तु) अभिमान से दूषित शिष्य वस्तुको भूल कर भी (न) नहीं (आदद्याद्) ले और (शिष्यः) शिष्य (स्ववस्तु) अहंकार ममकार से युक्त विषकी तरह अपनी वस्तु को आचार्य के लिये (न) नहीं (दद्यात्) दे। इसीसे कहा है कि— आचार्य शिष्य की वस्तु को न ले और शिष्य अपनी वस्तु को न दे ॥३५७॥

अब श्रीवचनभूषणकार लेने देने से होनेवाले दोषको कहते हैं कि

आदाने दरिद्रः स्यात् दाने चोरः स्यात् ॥३५८॥

अर्थ— (आदाने) शिष्यकी अभिमानयुक्त वस्तु को लालचसे आचार्यके लेने पर (दरिद्रः) दरिद्र (स्यात्) हो जायेगा और (दाने) हमारा है ऐसा समझ कर वस्तुको देने पर (चोरः) चोर (स्यात्) हो जायेगा। इसीसे कहा है कि लेने पर दरिद्र हो जायेगा और देने पर चोर हो जायेगा ॥३५८॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि लेने और देनेसे सम्बन्ध नष्ट हो जायेगा।

आदानं दानं च जायते यदि संबन्धो नश्येत् ॥३५९॥

अर्थ— (यदि) यदि (आदानम्) शेषी आचार्य शिष्यकी ममता से दूषित वस्तुको स्वीकार (जायते) कर लेगा (च) और (दानम्) शेषभूत शिष्य आचार्य के लिये समर्पण की हुई वस्तुको दे देगा तो (सम्बन्धः) शिष्य और आचार्यत्व रूप सम्बन्ध (नश्येत्) नष्ट हो जायेगा। इसीसे कहा है कि लेने देनेसे सम्बन्ध नष्ट हो जायेगा ॥३५९॥

अब प्रबन्धकर्त्ता इस प्रकार दारिद्र्य और सम्बन्ध नाश देने लेनेसे होते हैं, इससे पहले ही वे दोनों उनको नहीं करेंगे इस अर्थ को कहते हैं कि—

अयं दरिद्रत्वान्न ददाति संपूर्णत्वान्नाददाति ॥३६०॥

अर्थः— (अयम्) यह शेष भूत शिष्य (दरिद्रत्वात्) दरिद्र होने से आचार्यके लिये (न) नहीं (ददाति) दे सकता है (सः) और शेषी आचार्य (सपूर्णत्वात्) अच्छे प्रकारके पूर्ण होनेसे शिष्यकी ममता से दूषित वस्तु को (न) नहीं (आददाति) ले सकता है। इसीसे कहा है कि यह दरिद्र होने से नहीं दे सकता है और वह पूर्ण होनेसे नहीं ले सकता है ॥३६०॥

अब जगद्गुरुजी पूर्ति और दरिद्रता से होनेवाले फलित अर्थ को कहते हैं कि—

तस्य पूर्त्या स्वरूपं जीवति, अस्य दारिद्र्येण स्वरूपं जीवति ॥३६१॥

अर्थ — (तस्य) उस आचार्यका (पूर्त्या) शिष्यकी ममता से दूषित द्रव्यको न लेने रूप पूर्तिसे (स्वरूपम्) आचार्यत्व रूप स्वरूप (जीवति) जीता है और (अस्य) इस शिष्यका (दारिद्र्येण) अपना समझ कर देनेके योग्य द्रव्याभाव रूप दारिद्र्यसे (स्वरूपम्) शिष्यत्व रूप स्वरूप (जीवति) जीता है। इसीसे कहा है कि उसका स्वरूप पूर्ति से जीता है और इसका स्वरूप दरिद्रता से जीता है ॥३६१॥

अब श्रीवचनभूषणकार शिष्य से आचार्यका क्रियमाण उपकार कुछ नहीं है क्या ? इस बात को कहते हैं कि—

तर्हि शिष्येणाचार्यस्य क्रियमाण उपकारः कोऽपि नास्ति किमिति चेत् ॥३६२॥

अर्थ— (तर्हि) तब (शिष्येण) शेष भूत शि यसे (आचार्यस्य) महोपकारक शेषी आचार्यका (क्रियमाणः) क्रियमाण (उपकारः) उपकार (कः) कुछ (अपि) भी (न) नहीं (अस्ति) है (किम्) क्या (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर आगेके सूत्रमें लिखा है। इसीसे कहा है कि तब शिष्यसे आचार्यका क्रियमाण उपकार कुछ भी नहीं है क्या ? ऐसा यदि हो तो ॥३६२॥

अब जगदाचार्यजी तीन सौ बासठवें सूत्र में किये हुए प्रश्नका उत्तर कहते हैं कि—

आचार्यानुसन्धानेनास्ति ॥३६३॥

अर्थ — (आचार्यानुसन्धानेन) महोपकारक शेषी आचार्यके अनुसन्धान करनेसे (अस्ति) है। इसीसे कहा है कि आचार्यके चिन्तवन करनेसे है ॥३६३॥

अब प्रबन्धकर्त्ता उस उपकार को कहते हैं कि—

सः च ज्ञानव्यवसायप्रमसमाचाराः ॥३६४॥

अर्थ — (च) और (सः) वह उपकार (ज्ञानव्यवसायप्रमसमाचाराः) स्वरूपके यथाथ ज्ञान तथा स्वरूपके यथार्थ ज्ञानके अनुरूप उपाय में

व्यवसाय और उपेय में प्रेम तथा इन तीनोंके अनुरूप अच्छे प्रकार का अनुष्ठान करना है। इसीसे कहा है कि वह ज्ञान, व्यवसाय, प्रेम और समाचार है ॥३६४॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी आचार्य के मुखोल्लास के लिए शिष्य कर्तृक कैंकर्य प्रवृत्ति निवृत्ति रूप होनेसे प्रवृत्ति रूप कैंकर्य को कह कर निवृत्ति रूप कैंकर्यको कहते हैं कि –

आचार्यस्य प्रीत्यर्थमस्य निवर्तनीयो भगवद्-द्रव्यस्यापहारो भगवद्भोजननिरोधोगुरुमंत्रदेवता-परिभवश्च ॥३६५॥

अर्थः— (आचार्यस्य) महोपकारक शेषी आचार्य के (प्रीत्यर्थम्) प्रीतिके लिए (अस्य) शेषभूत इस शिष्यके (निवर्तनीयः) छोड़ने योग्य (भगवद् द्रव्यस्य) भगवानके द्रव्यको (अपहारः) चुरा लेना है और (भगवद्भोजननिरोधः) भगवान के भोजनको रोकना है (च और (गुरुमत्रदेवतापरिभवः) गुरु तथा मन्त्र और देवता का अनादर करना है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि गुरु किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर लिखा है कि– **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरूरूच्यते। मनुस्मृ० अ० श्लो० १४२ ॥** जो गर्भाधानादिक संस्कारों को विधिपूर्वक करता है और अन्न से बढ़ाता है वह ब्राह्मण गुरु कहा जाता है ॥१४२॥ इसीसे कहा है कि— आचार्य को प्रीति के लिये शिष्यके छोड़ने योग्य भगवत् द्रव्यापहार भगवत्के भोजनको रोकना गुरुमंत्र और देवता का तिरस्कार करना है॥३६५॥

अब प्रबन्धकर्त्ता भगवत् द्रव्यापहार को कहते हैं कि—

भगवद्द्रव्यापहारो नाम-स्वातंत्र्यमन्यशेषत्वं च ॥ ३६६ ॥

अर्थ— (भगवद्द्रव्यापहारः) श्रीकौस्तुभ के समान परमात्मा की स्पृहा करने योग्य जीवात्माको अपहरण करना (नाम)माने (स्वातन्त्र्यम्) शेषत्व से निरूपण करने योग्य जीवात्मा को स्वतन्त्र समझना (च) और (अन्यशेषत्वम्) भगवदेक शेषभूत जीवात्मा को माँ बाप आदिक का शेष समझना । इसीसे कहा है कि— भगवद्द्रव्यापहार माने स्वातन्त्र्य और अन्य शेषत्व है ॥३६६॥

अब जगद्गुरुजी भगवत् के रक्षकत्व को रोकने को कहते हैं कि—

भगवद्भोजननिरोधी नामतद्रक्षकत्वस्य निरोधः ।३६७॥

अर्थ— (भगवद्भोजननिरोधः) भगवत् के भोजन अर्थात् रक्षकत्व को रोकना (नाम) माने (तद्रक्षकत्वस्य) 'अवरक्षणे' इस धातु से नरुपाधिक सबकी रक्षा करनेवाले उस परमात्मा के रक्षकत्व को (निरोधः) रोकना है। इसीसे कहा है कि— भगवद्भोजन को रोकना भगवान् के रक्षकत्व को रोकना है ॥ ३६७॥

अब श्रीवचनभूषणकार परमात्मा के रक्षकत्व प्रकार को कहते हैं कि—

तस्यरक्षकत्वक्रमः प्रपन्नपरित्राण उक्तः ॥३६८॥

अर्थ — (तस्य) उस सर्वेश्वर परमात्मा के (रक्षकत्वक्रमः) रक्षण क्रम को (प्रपन्नपरित्राणे) प्रपन्नपरित्राण नाम के प्रबन्ध में (उक्तः) कहा है। यहाँ पर बहुत से लोग यह कहते हैं कि भगवान् रक्षक नहीं हैं। पिता रक्षक हैं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि प्रह्लाद का पिता क्या हिरण्यकशिपु नहीं था कि अनेक प्रकार से मारने का उसने उपाय किया तो साक्षात् श्रीमन्नारायणभगवान ने नृसिंह अवतार धारण करके प्रह्लाद की रक्षा की। यह कथा श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध के छठवें, सातवें और आठवें अध्यायों में स्पष्ट लिखी हुई है। माता भी रक्षक नहीं हो सकती है। क्योंकि कर्ण की माता क्या कुन्ती न थी कि कर्ण को नदी के तट पर फेंक कर चली गई। यह लिखा है कि—

सद्यो गर्भधरा कुन्ती कर्णं प्रासूत तं सुतम् । पुत्रंत्यक्त्वा नदीतीरे

सा गता स्वं गृहं तदा ॥ भारतसा० पर्व० १ अ० ६ श्लो० ६ ॥

शीघ्र गर्भ धारणकर कुन्ती ने कर्ण नाम वाले पुत्र को उत्पन्न किया और उसको नदी के तीरपर छोड़कर वह अपने घर को चली गयी ॥६॥ इसी प्रकार से सौतेली माँ भी रक्षक नहीं हो सकती है क्योंकि क्या श्रीरामचन्द्रजी की सौतेली माँ कैकेयी न थी कि वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड के ग्यारहवें सर्ग में लिखा है कि दशरथ राजा से पहला वर श्रीभरतजी का राज्याभिषेक और वल्कल पहनकर तापस वेश से चौदह वर्ष श्रीरामचन्द्रजी दण्डकारण्य में निवास करें यह दूसरा वर उसने माँगा तो रक्षक कैसे हो सकती है ? और आजकल भी बहुत सी विधवाएँ और कुँवारी स्त्रियाँ बच्चों को व्यभिचार से उत्पन्न करके मार डालती हैं या बाहर खेतों में फेंक देती हैं। इससे माता रक्षक नहीं हो सकती है और स्त्री भी रक्षक नहीं हो सकती है, क्योंकि श्रीदशरथजी की स्त्री क्या कैकेयी न थी कि श्री रामजी के वनवासरूप वर का माँगकर श्रीदशरथजी को मार दिया। पुत्र भी रक्षक नहीं हो सकता है। उग्रसेन राजा का पुत्र क्या कंस न था कि उग्रसेन को राज्य सिहासन से हटाकर राज्य करता था ? यह कथा श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के पहले अध्याय में लिखी हुई है। साला भी रक्षक नहीं हो सकता है। वसुदेवजी का साला क्या कंस न था कि हाथ पैरों में बेड़ियाँ डालकर जेल में उन्हें रखा था। वैसे ही मामा भी रक्षक नहीं हो सकता है क्योंकि देवकी के छः पुत्रों का मामा क्या कंस न था ? उन छः को मार डाला। तथैव भाई भी रक्षक नहीं हो सकता है। श्री विभीषण का भाई क्या रावण न था कि उनका अत्यंत अपमान किया। यह कथा वाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड के सोलहवें सर्ग में लिखी हुई है। स्त्रियों के पति भी रक्षक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि द्रौपदी के पति क्या युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव नहीं थे कि उन लोगों के सामने सभा में दुःशासन रजस्वला द्रौपदी का वस्त्र खींचने लगा। यह कथा महाभारत के सभापर्व के सरसठवें अध्याय में स्पष्ट लिखी हुई है। शिष्य भी रक्षक नही हो सकता है क्योंकि द्रोणाचार्य का शिष्य क्या धृष्टद्युम्न न था कि लिखा हुआ है कि-

वधाय निर्मितो धात्रा खड्गहस्त उपाययौ । द्रोणस्य च शिरश्छित्वा जगाम च यथागतम् ।। भारतसा० द्रोणपर्व० ७ अ० ६६ श्लो० २७ ।। द्रोणाचार्य को मारने के लिये धाता से बनाये हुए धृष्टद्युम्न ने तलवार को हाथ में लेकर द्रोणाचार्य के पास में जाकर उनके शिर को काट लिया ।।२७।। धन भी रक्षक नहीं हो सकता है क्योंकि देखा जाता है कि राजकुमार लोग धन के लोभ से अपने पिता को विष दे देते हैं। बहुत से शिष्य भी महन्थ होने के लिये अपने गुरु को विष दे देते हैं। धन से डांकें पड़ते हैं और बड़े बड़े वेश्यागमन आदिक बुरे बुरे कर्म होते हैं। पुनः यम, वरुण, कुबेर आदिक देवता भी रक्षक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जिस समय में रावण ने इन लोगों को पराजित किया उस समय वे लोग अपनी रक्षा क्यों नहीं कर सके यह कथा वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में स्पष्ट लिखी हुई है। इन्द्र भी रक्षक नहीं हो सकते हैं,क्योंकि लिखा है कि— **गौतमेनैव मुक्तस्य सुरोषेण महात्मना । पेततुर्वृषणौभूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षाणात् ।। वाल्मीकि रा० बालका० १।४८।२८।।** क्रोधयुक्त महात्मा गौतम ऋषि के कहने से उसी समय में इन्द्र के दोनों अण्डकोश भूमि पर गिर गये ।।२८।। तो उस समय में इन्द्र ने अपनी रक्षा क्यों नहीं की यह लिखा है कि— **स तं यदा परिश्रान्तमिन्द्रं जज्ञेऽथरावणिः । तदैनं मायया बद्ध्वा स्वसैन्यमभितोऽनयत् ।। वाल्मीकि रा० उ० कां० ७।२६।२७।** वह मेघनाद जब इन्द्र अत्यन्त थक गये तो माया से उनको बाँधकर अपनी सेना के सामने ले गया ।।२७।। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्र रक्षक नहीं हैं। रुद्र भी रक्षक नहीं है क्योंकि यदि रक्षक होते तो जो उनके हाथ में ब्रह्म-कपाल सटा था उस ब्रह्महत्या से उन्होंने अपनी रक्षा क्यों नहीं की उस समय में श्रीमन्नारायण ने ही रक्षा की है। यह लिखा है कि— **शिवाङ्गं मुंचहत्ये त्वमन्यं याचय मां वरम् । तत्तवैव प्रदास्यामि न दास्ये चेदघं मम ।। भारतसा० आदिप० १ अ० ३ श्लो० ३३ ।।** भगवान ने कहा है कि हे ब्रह्म-हत्ये! तुम शिवजी के देह को छोड़ दो। दूसरा कोई वर मुझसे

मांगो वह तेरे लिये मैं न दूँगा तो ब्रह्महत्या का पाप मुझको लगे ॥३३॥ इस बात को सुनकर ब्रह्महत्या बोली कि हे भगवन् अट्ठारह अक्षौहिणी सेना के खून को मेरे लिये दीजिये, इस बात को सुनकर भगवान् ने कहा कि— **द्वापरे युगमध्ये तु सोमवंशोभविष्यति । तदादास्या-मिहत्ये ते शोणितं हि यथेप्सितम् ॥३५॥ केशवस्य वचः श्रुत्वा हत्यामुक्तः शिवः स्वंयम् ॥३६॥** द्वापर युग में चन्द्रवंश होगा तब हे हत्ये ! अट्ठारह अक्षौहिणी के खून को तेरे लिये मैं दूँगा ॥३५॥ केशव भगवान् के ऐसे वाक्य को सुनकर ब्रह्महत्या ने शिवजी को छोड़ दिया ॥३६॥ तो उस समय में रुद्रजी ने अपनी रक्षा क्यों नहीं की। और जिस समय में शकुनी के पुत्र वृकासुर ने रुद्र को भस्म करने के लिये खेदा उस समय में डर करके वैकुण्ठ में क्यों गये, अपनी रक्षा क्यों नहीं उन्होंने कर ली। यह कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध उत्तराध के अट्ठासीवें अध्याय में स्पष्ट लिखी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि रुद्र रक्षक नहीं हैं। और ब्रह्मा भी रक्षक नहीं हैं, क्योंकि यदि रक्षक होते तो प्रलय समय में हयग्रीव नाम का राक्षस उनसे वेदों को हरण कैसे कर लेता ? यह कथा श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध में लिखी हुई है और तब उस समय में श्रीमत्स्यावतार धारण करके भगवान् ने वेदों को लाया। यह लिखा है कि— **हत्वाऽसुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्या हरद्धरिः ॥ श्रीमद्भागवत स्कंध ८, अध्याय २४, श्लोक ५७ ॥** श्रीमत्स्यावतारधारी श्रीमन्नारायणभगवान्ने हयग्रीव असुरको मारकर वेदों को लाया ॥५७॥ और जिस समय में शिवजी ने ब्रह्मा के एक सिर को काट लिया उस समय में ब्रह्माजी ने अपनी रक्षा क्यों नही की। यह भारतसार के आदि पर्व में लिखा है कि— **तदाचैकेन वक्त्रेण निःसृतः खरवत्स्वरः। दुर्विनीतं च विज्ञाय हेत्वर्थे ब्राह्मणस्य च ॥ भारतसा० आदि प० १ अ० ३ श्लो० १० ॥ त्रोटितं तत्करलग्नं रुद्रेण पंचमंशिरः। न पपात धरादेशेब्रह्मभालं करे स्थितम् ॥११॥** ब्रह्माजी जब शिवजी की स्तुति करने लगे तब ब्रह्माजी के एक मुँह से गदहे के स्वर के सामान शब्द निकला तो ब्रह्मा को उद्धत जानकर शिक्षा देने के लिये ॥१०॥ उनके पांचवें शिर को शिवजी ने काट लिया तब

कटा हुआ वह ब्रह्मा का शिर शिवजी के हाथ में ही सट गया पृथ्वी पर नहीं गिरा ॥ ११ ॥ तो जिस समय में ब्रह्मा का शिर काटा गया उस समय में ब्रह्मा ने अपनी रक्षा क्यों नहीं की। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मा रक्षक नही हैं। केवल श्रीमन्नारायण भगवान् ही रक्षक हैं। इसी से कहा है कि—उस सर्वेश्वर के रक्षकत्व के क्रम को प्रपन्न परित्राण में कहा है ॥ ३६८ ॥

अब प्रबन्धकर्ता गुरु के परिभव को कहते हैं कि—

गुरुपरिभवो नाम श्रुतार्थप्रकारेणानुष्ठानराहित्यम्, अनधिकारिभ्य उपदेशः ॥३६९॥

अर्थ -(गुरुपरिभवः) महोपकारक गुरुके परिभव (नाम) माने (श्रुतार्थ प्रकारेण) अपने उज्जीवन के लिये आचार्य से सुने हुए त्याज्योपादेय रूप अर्थ के प्रकार से (अनुष्ठानराहित्यम्) अनुष्ठान को नहीं करना है और (अनधिकारिभ्यः) अपने को रक्षकतया आचार्य से उपदेश दिये हुए श्रेष्ठ अर्थ को नास्तिकों के लिये (उपदेशः) ख्याति लाभ आदि की इच्छा से उपदेश करना है। इसीसे कहा है कि—गुरु के परिभव माने सुने हुए अर्थका अनुष्ठान नहीं करना और अनधिकारियों को उपदेश करना है ॥ ३६९ ॥

अब जगद्गुरुजी मन्त्र के परिभव को कहते हैं कि—

मन्त्रपरिभवो नाम अर्थविस्मृतिः, विपरीतार्थप्रतिपत्तिश्च ॥ ३७० ॥

अर्थ –(मन्त्रपरिभवः) मन्त्र के परिभव (नाम) माने (अर्थविस्मृतिः) आचार्य से उपदेश दिये हुए अर्थों को स्मरण करना छोड़ उदासीनता से भूल जाना है (च) और (विपरीतार्थप्रतिपत्तिः) आचार्य से उपदिष्ट प्रकार के बिना विपरीत रूप से अर्थ को समझना है। इसीसे कहा है कि-मंत्र का परिभव माने उपदिष्ट अथ को भूल जाना है और विपरीत अर्थ को समझना है ॥३७०॥

अब श्रीवचनभूषणकार देवता के परिभव को कहते हैं कि—

देवतापरिभवो नाम-करणत्रयस्य चाप्राप्तविषयेषु प्रावण्यं तद्विषयेऽप्रावण्यं च ॥ ३७१ ॥

अर्थ—(देवतापरिभवः) देवता का परिभव (नाम) माने (करणत्रयस्य) ईश्वरके समर्पण करने के लिए बनाये हुये मन, वाणी और शरीर रूप तीनों करणों के (च) भी (अप्राप्तविषयेषु) अप्राप्त हेय विषयों में (प्रावण्यम्) प्रीति करना है (च) और (तद्विषये) प्राप्त विषय सर्वेश्वर में (अप्रावण्यम्) प्रीति नहीं करना है। इसीसे कहा है कि—देवता के परिभव माने मन वाणी और शरीर को अप्राप्त विषय में लगाना है प्राप्त विषय में नही लगाना है ॥३७१॥

अब जगदाचार्यजी इस प्रकार आचार्यकी प्राप्ति के लिए करने और छोड़ने योग्य को कहकर और भी इसके अपेक्षित को कहते हैं कि—

अस्य शरीरावसानपर्यन्तमाचार्यविषये "मम" दुष्टं मनो निवर्तितवान्", एकाकारेणाश्रयणयोग्यं मनो दत्तवान्" इत्युपकारस्मृतिर्वर्तितव्या ॥ ३७२ ॥

अर्थ—(अस्य) इस अधिकारीके शरीरावसानपर्यन्तम्) मरण पर्यन्त (आचार्यविषये) महोपकारक आचार्य के विषयमें (मम) हमारे (दुष्टम्) दुष्ट (मनः) मनको (निवर्तितवान्) विषयोंसे दूर किये हो (एकाकारेण) और एकाकार करके (आश्रयणयोग्यम्) आदर पूर्वक भजन करने योग्य (मनः) मन को (दत्तवान्) दिए हो (इति) ऐसा (उपकारस्मृतिः) उपकार का स्मरण (वर्तितव्या) करने योग्य है। इसीसे कहा है कि—इसके मरण पर्यन्त आचार्य के विषय में "हमारे दुष्ट मन को दूर किये हो आदरपूर्वक भजन करने वाले मनको दिये हो" एसा उपकार की स्मृति करने योग्य है ॥ ३७२ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी मन के दोष को कहते हैं कि—

मनसो दोषः—स्वगुणस्य भगवद्भागवतदोषस्य चानुसन्धानम् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—(मनसः) मनके (दोषः) दोष माने (स्वगुणस्य) शमदमादि आत्मगुण अपने में होने पर भी अपने गुणों को (च) और (भगवद्-भागवतदोषस्य) ईश्वरके परतन्त्र इस आत्म वस्तु को अनादिकाल से उपेक्षा कर कर्म के बहाने से छोड़ दिया है। इतना ही नहीं निर्दयी की तरह कर्मानुसार नरकों के दुःख भोगानेवाले अब स्वीकार करने पर भी निरंकुश स्वतन्त्र होने से अमुक समय में अमुक करेगा ऐसा विश्वास करने के योग्य नहीं श्रीकृष्णावतार में यथेच्छ विहारों के विषय धर्म स्थापन करने को अवतार लेकर ऐसा करना अनुचित है। ऐसा भगवान के दोष को और शरीर के साथ रहने से ऊपर के आकारों को देखकर प्रकृतिके वश्य हैं अहंकारी हैं ऐसा भागवत के दोष को (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान करना है। इसीसे कहा है कि—मन के दोष माने अपने गुण को और भगवद्भागवत के दोष को स्मरण करना है॥ ३७३ ॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि दोष को नहीं स्मरण करना गुण की तरह रहने पर नहीं किन्तु न रहने पर है।

दोषस्याननुसन्धानं गुणवद्विद्यमानेन भवति किन्तु तद्भावात् ॥ ३७४ ॥

अर्थ—(दोषस्य, भगवानके और भागवतके दोषको (अननुसन्धानम्) नहीं अनुसन्धान करना (गुणवत्) गुणकी तरह (विद्यमाने) रहने पर (न) नहीं (भवति) होता है (किन्तु) लेकिन (तदभावात्) भगवान में और भागवत में दोष नहीं रहने से। इसका कारण सर्वमुक्ति प्रसंग न आने के लिये परमात्मा शरणागतिको मानकर अंगीकार करते हैं। समस्त आत्माओं के उज्जीवन के लिये सृष्टि अवतारादिसे यत्न करने वाले सर्वेश्वर में दोष होना असम्भव है। निर्दयी की तरह कर्मानुगुण दण्ड देना भी मिट्टी खानेवाले बालक के जीभ में चिह्न कर डरानेवाली माता की तरह हित पर ही करने से उज्जीवन का ही हेतु है। इसलिये दोष नहीं। निरंकुश स्वातंत्र्य अनादि कालसे बन्धन का हेतु होने पर भी कृपा का परतन्त्र हो जब अंगीकार किया है तब नित्य संसारी को नित्य सूरिके सदृश करने के समय कोई रोक नहीं सकने के उपयुक्त होता

है। इसलिये श्लाघ्य है। कृष्णावतार में स्वेच्छा संचार भी दोष नहीं कारण 'मेरे में ब्रह्मचर्य हो तो' इस वचनानुसार अपने को इस भोग में सम्बन्धाभाव को प्रकट करने के लिये "गोपी लोग काम से' इस वचनानुसार गोपी लोगों को काम द्वारा अपने विषय में भक्त बनाकर उद्धार करने के लिये किया है। इस लिये दोष नहीं। और भागवतों में दोष न होने से निरुपण करने पर गुण भरे रहने से उनको दोषी नहीं समझना। इसीसे कहा है कि—दोष को नहीं स्मरण करना गुणकी तरह रहने पर नहीं किन्तु न रहने पर है ॥३७४॥

अब जगद्गुरुजी परपक्ष से दोष को अंगीकार कर परिहार करते हैं कि—

दोषो ऽस्तीति स्मर्यते यदि स च परदोषो न भवति किन्तु स्वदोषः ॥३७५॥

अर्थ—(दोषः) भगवान् और भागवत के विषय में दोष (अस्ति) है (इति) ऐसा (यदि) यदि (स्मर्यते) स्मरण करता है। तो (सः) वह दोष (च) भी (परदोषः) भगवान और भागवत का दोष (न) नहीं (भवति) है (किन्तु) लेकिन (स्वदोषः) अपना ही दोष है। इसीसे कहा है कि—दोष है, ऐसा समझने पर वह परदोष नही अपना ही दोष है ॥ ३७६ ॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि वह दोष अपना कैसे है ?

स्वदोषः कथमिति चेत् ॥ ३७६ ॥

अर्थ—(स्वदोषः) अपना वह दोष (कथम्) कैसे हुआ (इति चेत्) यदि कहो तो इस प्रश्न का उत्तर तीन सौ सतहत्तरवें सूत्र में लिखा है। इसीसे कहा है कि—स्वदोष कैसे हुआ ऐसा यदि हो ॥३७६॥

अब श्रीवचनभूषणकार तीन सौ छिहत्तरवें सूत्र में किये हुए प्रश्न का उत्तर देते हैं कि—

स्वदोषेण च बन्धेन च ॥ ३७७ ॥

अर्थ—(च) और (स्वदोषेण) जैसे काचनाम के रोग से दूषित

आँखवाले मनुष्य दो चन्द्रमा देखते हैं ! वैसे ही अपनी दुर्वासना रूप दोष से निर्दोष विषय में दोष देखते हैं (च) और (बन्धैन) पुत्रादिकों के दोष जैसे पिता आदिकको होता है वैसे ही उनका दोष अपने समझने योग्य सम्बन्ध से है। इसीसे कहा है कि—अपने दोषसे और सम्बन्ध से दोष हुआ है ॥ ३७७ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि अपना दोष न हो तो गुण समझेगा।

स्वदोषो नास्ति यदि गुणप्रतिपत्तिर्वर्तेत् ॥ २७८॥

अर्थ—(स्वदोषः) अपना दोष (यदि) यदि (न) नहीं (अस्ति) है तो (गुणप्रतिपत्तिः) भगवद्भागवत के विषय में गुणों को प्रतिपत्ति (वर्तेत) रहेगी। इसीसे कहा [है कि- अपना दोष न हो तो गुण समझेगा ॥ ३७८ ॥

अब प्रबन्धकर्त्ता गुण प्रतिपत्ति न होने से होनेवाले दोष को कहते हैं कि—

तदभावे दोषज्ञानमेवदोषः स्यात् ३७९॥

अर्थ (तदभावे) भगवद्भागवत के विषय में गुणों की प्रतिपत्ति नहीं होने पर (दोषज्ञानम्) दोषज्ञान (एव) निश्चय करके (दोषः) भगवान् के निग्रह हेतु दोष (स्यात्) होगा। इसी से कहा है कि—गुण प्रतिपत्ति के न होने पर दोषज्ञान ही दोष होगा ॥ ३७९ ॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि इसको दूसरे का दोष देखने का अवसर नहीं है।

अस्यावसरो नास्ति ॥३८०॥

अर्थ—(अस्य) भगवद्भागवत के दोष चिन्तवन करने को इस चेतन का (अवसरः) अवकाश (न) नहीं (अस्ति) है। इसीसे कहा है कि—इस चेतन का अवसर नहीं है।

अब श्रीवचनभूषणकार उसका कारण बताते हैं कि—

स्वदोषस्य भगवद्भागवतगुणानां चैव कालस्य पर्याप्तत्वात् ॥३८१॥

अर्थ—(स्वदोषस्य) अपने दोष के (च) और (भगवद्भागवतगुणानाम्) भगवान तथा भगवतों के गुणों का अनुसन्धान करने में (एव) निश्चय करके (कालस्य) काल के (पर्याप्तत्वात्) व्यतीत होने से। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि स्वदोषानुसन्धान करने को कैसा लिखा है?— इस प्रश्न का उत्तर यह लिखा है कि—**अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूया-प्रसवभूः कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपरः। नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधेरपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः॥ आलवन्दा० श्लो० ६५॥** मर्यादासेरहित, अत्यन्त तुच्छ चंचल मतिवाला, गुणों में दोष आरोपणकी उत्पतिका स्थान, कृतघ्न, बड़ाभारी अहंकारी, कामके परवश दूसरेको ठगने में अत्यन्त रत, मनुष्यों को दुख देनेवाला, पापिष्ठ मैं किस प्रकार से इस संसार के अथाह दुःखके समुद्र से उतरकर आपके दोनों चरणारविन्दों की सेवारूप परिचर्या करूँगा।६५॥ और भी लिखा है कि—**अतिक्रामन्नाज्ञां तव विधिनिषेधेषु भवतेऽप्यतिद्रुह्यन् वाग्धीकृतिभिरपि भक्ताय सततम्। अजानन् जानन् वा भवदसहनीयागसिरतः, श्रीरङ्गेश त्वद्गुणानामिवास्मद्दोषाणां कः पारदृश्वायतोऽहम्॥** आपकी विधिनिषेधरूप आज्ञाको उल्लंघन कर मन. वाणी और शरीर से आपके तथा भागवतों के विषय में द्रोह करता हुआ जानकर या न जानकर असह्यापचार में आसक्त होता हूँ। हे रङ्गेश आपके गुणों की तरह हमारे दोषों का पार देखने वाला नहीं है॥ इस प्रकार के उत्तर होने पर तो फिर से प्रश्न होता है कि—भगवान और भागवतों के गुणों को कैसे लिखा है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि **यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक। तथा गुणाह्यनन्तस्य असंख्येया महात्मनः॥** हे पुत्र समुद्र के रत्न जैसे असंख्येय हैं वैसे ही परमात्मा के गुण असंख्येय हैं॥ और भी लिखा है कि— **नाहं समर्थो भगवत्प्रियाणां वक्तुं गुणान् पद्मभुवोऽप्यगम्यान्॥** मैं ब्रह्माभी अगम्य भागवतों के गुणों को कह नहीं सकता हूँ॥ इसीसे कहा है कि—अपने

दोष के और भगवत् तथा भागवतोंके गुणोंको अनुसन्धान करने में काल के व्यतीत होने से ॥३८१॥

अब प्रबन्धकर्त्ता संसारियों के दोष को अपना दोष समझना चाहिए इस बात को कहते हैं कि—

संसारिणां दोषं स्वदोष इति स्मरेत् ॥३८२॥

अर्थ—(संसारिणाम्) संसारी जीवों के (दोषम्) भगवद्विमुखता देहात्म बुद्धि, स्वतन्त्रता बुद्धि आदिक दोष को (स्वदोषः) अपना ही दोष है (इति) ऐसा (स्मरेत्) स्मरण करे। इसीसे कहा है कि—संसारियों के दोष को अपना दोष समझना ॥३८२॥

अब जगद्गुरुजी संसारियों के दोष को अपना दोष समझने के कारण को कहते हैं कि—

तस्य च हेतुर्बन्धुज्ञानम् ॥३८३॥

अर्थ—(च) और (तस्य) संसारियों के दोष को अपना दोष समझने का (हेतुः) कारण (बन्धुज्ञानम्) नारायणत्व प्रयुक्त सम्बन्ध ज्ञान है। इसीसे कहा है कि—उसका कारण सम्बन्ध ज्ञान है ॥३८३॥

अब श्रीवचनभूषणकार परकाल स्वामीजी के कहे हुए वचन को पूर्वोक्त अर्थ में प्रमाण देते हैं कि—

"निमेषकालमपि न स्मराम" इत्युक्तत्वात् स च न प्रतीयते ॥ ३८४ ॥

अर्थ—(निमेषकालम्) क्षणभर (अपि) भी (न) नहीं (स्मरामः) हम स्मरण करेंगे (इति) ऐसा (उक्तत्वात्) परकाल सूरजी के कहने से (च) भी (सः) संसारियों का वह दोष इस अधिकारी को (न) नहीं (प्रतीयते) दीखता है। इस तीन सौ चौरासिवें सूत्र में—निमेषकालमपि न स्मरामः। यह वाक्य परकाल स्वामीजी के वचन का प्रतीक है। इससे पहले सम्पूर्ण उस वचन को लिखकर उसके अर्थ को लिखता हूँ॥

कडलमल्लैस्थल शयने शयाननननुसंधाय वर्तमानान्निमेषकालमपि न स्मरामः ॥ कडलमल्लै स्थल शयन भगवान को स्मरण नहीं करने

वालों को क्षण भर भी हम नहीं स्मरण करेंगे ॥ इसीसे कहा है कि—क्षण भर भी हम स्मरण नहीं करेंगे ऐसा कहने से वह दोष नहीं दिखता है ॥ ३८४ ॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि संसारियों को दोष देखना उन दोषों से संसारियों को दूर करने के लिये है।

प्रतीतिश्च निवर्तनार्थम् ॥ ३८५ ॥

अर्थ—(च) और "अविधाने विरोधः" कहने में विरोध "एक नायकः" एक नायक "परिगृहीतभार्या" परिगृहीतभार्या इत्यादि दशको में (प्रतीतिः) संसारियों के दोष का भान होना (निवर्तनार्थम्) उन दोषोंसे संसारियों को दूर करने के लिये है। अर्थात् असेव्य सेवादियों से संसारियों को हटाने के लिये है। इसी से कहा है कि—भान होना भी दूर करने के लिये है ॥ ३८५ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि अपने विषय में अपराध करने पर भी प्रपन्न अधिकारी को नहीं कहना चाहिए।

जानकी राक्षसीनामपराधं स्वामिनो मारुतेश्च नावेदयत् तथा स्वविषयेऽन्यैः कृतमपराधं भगवद् भागवतविषयेषु च न निवेदयेत् ॥ ३८६ ॥

अर्थ—(जानकी) जैसे श्रीसीताजी ने (राक्षसीनाम्) एकाक्षी, एककर्णी आदिक सात सौ राक्षसियों के (अपराधम्) दस महीने पर्यन्त किए हुए तर्जन, भर्त्सन रूप अपराध को (स्वामिनः , भगवान श्रीरामजी से (च) और (मारुतेः) भागवत श्रीहनुमानजी से (न) नहीं (अवेदयत्) कहा (तथा) वैसे ही (स्वविषये) अपने विषय में (च) भी (अन्यैः) दूसरों से (कृतम्) किए हुए (अपराधम्) अपराधको (भगवद्भागवतविषयेषु) भगवान और भागवतों के विषय में भूलकर भी (न) नहीं (निवेदयेत्) जनाना चाहिये। इसीसे कहे हैं कि—श्रीसीताजी ने राक्षसियों के अपराध को श्रीरामजी से और हनुमानजी से जैसे नहीं कहा वैसे ही अपने विषय में दूसरों से किये हुये अपराध को भागवत के विषय में नहीं जनाना चाहिये ॥३८६॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि जनाने योग्य स्वामी भी मुँह बन्द कर सर्वज्ञों के विषय में छिपाता है ऐसा कहा है।

ज्ञापयितुं शक्तोऽपि मुखमनुद्घाट्य सर्वज्ञविषयाणामप्याच्छादयतीत्युक्तं हि ॥३८७॥

अर्थ (ज्ञापयितुम्) जनाने के लिये (शक्तः) समर्थ होने पर (अपि) भी (मुखम्) मुँहको (अनुद्घाट्य) बन्दकर (सर्वज्ञविषयाणाम्) सर्वज्ञों के विषय में (अपि) भी (आच्छादयति) छिपता है (हि) निश्चय करके (इति) ऐसा आवृत्य दासाः ।। इस गाथा में उक्तम्) कहा है। इसीसे कहा है कि—जनाने योग्य स्वामी भी मुँह बन्दकर सर्वज्ञों के विषय में भी छिपाता है ऐसा कहा है ॥३८७॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी यह कहते हैं कि दोषियों के ऊपर क्षमा, दया आदि की भी आवश्यकता है।

अपराधकर्तृविषये क्षमा कृपा हासः प्रातिरुपकारस्मृतिश्च कर्तव्याः ॥३८८॥

अर्थ—(अपराधकर्तृविषये) अपराध करनेवाले दोषियों के विषय में (क्षमा) उनके किये हुये दोष की प्रतिक्रिया करना तथा मन में दुःख पाना इत्यादि नहीं करना रूप क्षमा (कृपा) हमारे क्षमा करनेपर भी परमात्मा उचित दण्ड देगा अहो इसमें क्या करना चाहिये ऐसा दूसरे के दोष को नहीं सहना रूप कृपा (हासः) ये लोग कितनाभी करें तौभी हमारे प्रारब्ध का विरोध तो नहीं कर सकते, परुष वचन द्वारा ख्याति लाभ आदि दृष्ट वस्तुओं में ही विरोध ये लोग कर सकते हैं, ऐसा कुछ करने पर अपने सदृश हमलोग भी इस ख्याति आदि में चपल हो इनकी हानि से मनमें दुःख पाकर शिथिल होंगे ऐसा समझ ये लोग रहते हैं कैसा अज्ञान है ऐसा समझकर हँसना (प्रीतिः) उन लोगों से किये हुए अनादरों के विषय में अपने शरीर को शत्रु समझना। वह जिनके हानिकारक हैं ऐसे दृष्ट पदार्थों को अपने प्रतिकूल समझना। इससे अपने शत्रु के विषय में किसी के पराभव करने पर अपनी प्रतिकूल वस्तुओं को हटाने पर आप सन्तुष्ट होना चाहिये ऐसा समझकर प्रीति करना (च) और (उपकार-

स्मृतिः) हमारे दोषों को हम भूले रहने के समय हमको जानते हैं। हमारी आशा इस विषय से जैसे छूटे ऐसे करते हैं इस प्रकार के उपकार को स्मरण (कर्तव्याः) करना चाहिए। इसीसे कहा है कि—अपराध करने वालों के विषय में क्षमा, कृपा, हँसी प्रीति और उपकार की स्मृति भी करनी चाहिए ॥३८८॥ इति श्रीवचनभूषणे सद्गुरूपसेवनवैभवनाम चतुर्थप्रकरणे सच्छिष्यलक्षणं समाप्तम् ॥

॥इति श्रीवचनभूषणे सद्गुरूपसेवनवैभवनाम चतुर्थप्रकरणम् समाप्तम् ॥

॥ अथ भगवन्निर्हेतुक कृपावैभवनाम पञ्चमं प्रकरणम् ॥

॥ अथभगवन्निर्हेतुक कृपावैभवनाम पञ्चमप्रकरणे भगवन्निर्हेतुक विषयीकारः ॥

अर्थ —अब श्रीमल्लोकाचार्य स्वामीजी—**स्वदोषानुसन्धानं भयहेतुः भगवद्गुणानुसन्धानमभयहेतुः ॥ श्रीवचनभू०सू० ३८६ ॥** इस सूत्र से लेकर **निवर्त्य ज्ञानं भयहेतुः निवर्तकज्ञानमभयहेतुः ॥ श्रीवचनभू० सू० ४२७ ॥** इस सूत्र पर्यन्त भगवन्निर्हेतुक कृपा वैभव नाम के पाँचवें प्रकरण को कहते हैं। उसमें भगवन्निर्हेतुक विषयीकार को विस्तारपूर्वक कहते हुए पहले प्रबन्धकर्ता स्वदोषानुसन्धान और भगवद्गुणानुसधान इन दोनों के प्रयोजन को कहते हैं कि—

स्वदोषानुसन्धानं भयहेतुः भगवद्गुणानुसन्धानमभयहेतुः ॥३८६॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनो, यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः । १॥

अर्थ (स्वदोषानुसन्धानम्) अपने अनादिकालके अविद्यादिक दोष का अनुसन्धान करना (भयहेतुः) स्वरूप का नाश करेंगे तो क्या होगा ऐसा भय का हेतु होता है और (भगवद्गुणानुसन्धानम्) जीवात्मा को अपने चरणारविन्दों में मिला लेने के उपयोगी भगवान की क्षान्ति आदिक गुणोंका अनुसन्धान करना (अभयहेतुः) अभयका हेतु होता है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि भगवत् के गुणों को

स्मरण करना निडर होने का हेतु है ? इस प्रश्न का उत्तर आलवन्दार स्तोत्र में लिखा है कि **दुरन्तस्यानादेरपरिहरणीयस्य महतो विहीनाचारोऽहंनृपशुरशुभस्यास्पदमपि । दयासिन्धोबन्धो निरवधिकवात्सल्यजलधे तव स्मार स्मारं गुणगणमितीच्छामि गतभीः ॥** आलवन्दा० श्लोक ६१ ॥ अत्यंत नीच आचरणवाला, मनुष्यके रूपवाला पशु मैं अन्तरहित अनादि मेरे यत्न से कभी भी नहीं दूर हटनेवाले बड़ा भारी अशुभ का स्थान मैं हूँ तौ भी हे दया के समुद्र, हे दीनबन्धो, हे अवधिरहित वात्सल्यगुण के समुन्द्र आपके कल्याण गुणोंके समूहको स्मरण करके निर्भय मैं आपके कैंकर्यको चाहता हूँ ॥ ६१॥ अब यहाँ पर बहुत-से लोग यह कहते हैं कि भगवान्के तो गुणही नहीं हैं?इसका उत्तर यह है कि **य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ॥** छान्दोग्योप० प्रपाठ० ८ खण्ड० ७ मं १ ॥ जो पाप से रहित है तथा बूढ़ा नहीं होता है और मृत्यु से तथा शोक से रहित है और भूख प्यास जिसको नहीं लगती है तथा जिसको इच्छा और संकल्प सत्य है वही आत्मा है उस आत्मा को ढूँढ़ना चाहिए और अच्छे प्रकार से जानने की इच्छा करनी चाहिये । १ ॥ इस उपनिषद् में स्पष्ट प्राकृत छः गुणों को निषेध करके स्वाभाविक सत्य काम और सत्य संकल्प गुण को कहा है इससे साबित होता है कि भगवान के दिव्य गुण हैं । इसीसे कहा है कि– अपने दोष का अनुसन्धान करना भय का हेतु है और भगवान के गुणों का अनुसन्धान करना अभय का हेतु है ॥३८९॥

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि डर और निडर इन दोनों के विपरीत होने पर अज्ञता ही फलित होगी ।

भयाभयोरुभयोरपि व्यत्यासेऽज्ञतैव सिद्ध्यति ॥३९०॥

अर्थ—(भयाभयोः) भय और अभय (उभयोः) इन दोनों के (अपि) भी (व्यत्यासे) विपरीत होनेपर (अज्ञता) अज्ञता (एव) ही निश्चय करके (सिद्ध्यति) सिद्ध होती है । इसीसे कहा है कि –भय और अभय दोनों के विपरीत होने पर अज्ञता ही सिद्ध होती है ॥३९०॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि दुःख देने के लिये और विचार करते हो नदी के पेड़ के समान डरता हूँ, ऐसा इन गाथाओं का कारण क्या है ?

तर्हि बाधितुमितः परमपि विचारयसि, नदीकूलस्थवृक्षवद्बिभेमीति गाथानां किं निदानमिति चेत् ॥३९१॥

अर्थ – (तर्हि) तो (बाधितुम्) पाँचो इन्द्रियों से मुझको दुःख देने के लिये (इतः) इससे (परम्) अधिक और (अपि) भी (विचारयसि) विचार करते हो (नदीकूलस्थवृक्षवत्) गर्भ में मुझको फिर से डालोगे ऐसा समझकर नदी के तीर के वृक्ष के समान (बिभेमि) डरता हूँ (इति) ऐसी (गाथानाम्) श्रीशठकोपसूरि और परकालसूरि की गाथाओं का (किम्) क्या (निदानम्) कारण है (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो तो इसका उत्तर तीन सौ बानबेवें सूत्र में लिखा है। इसीसे कहा है कि— ऐसा हो तो दुःख देने के लिये और विचार करते हो, नदी के तीर के वृक्ष के समान डरता हूँ ऐसा इन गाथाओं का क्या कारण है, ऐसा यदि हो तो ॥ ३९१ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी तीन सौ एकानवें सूत्र में किये हुए प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि—

बन्धानुसन्धानम् ॥ ३९२ ॥

अर्थ –(बन्धानुसन्धानम्) फल और हानि ये दोनों भी परमात्मा से ही हैं ऐसा कहने योग्य निरुपाधिक रक्षक सर्वेश्वर के साथ अपने को विद्यमान सम्बन्ध का अनुसन्धान करना है, इसी से कहा है कि-सम्बन्ध का अनुसन्धान है ॥ ३९२ ॥

अब प्रबन्धकर्त्ता सम्बन्ध के अनुसन्धान से अपने कर्मफल के हेतु परमात्मा कहे जा सकते हैं क्या ? इस शंका में दृष्टान्तपूर्वक समाधान कहते हैं कि—

प्रजा वीथ्यां स्खलित्वा मातृपृष्ठे प्रहरति तथा निरुपाधिकबन्धुना शक्तेन निवारणे न कृते तथोक्तिरुचिता खलु ॥ ३९३ ॥

अर्थ— (प्रजा) खेलने के लिये भागती हुई सन्तति (वीथ्याम्) रास्ते में (स्खलित्वा)ठोकर लगने पर पैरके दर्दसे रोती हुई घर में आकर अपना यह दुःख माता से हुआ है ऐसा समझकर जैसे (मातृपृष्ठे) माँ की पीठ में (प्रहरति) घूसा मारती है (तथा) वैसे ही (निरुपाधिकबन्धुना) निरुपाधिक बन्धु और (शक्तेन) कर्मानुसार प्रकृति प्राकृतों से होनेवाले दुःख को दूर करने में समर्थ ईश्वर के (निवारणे) निवारण (न) नहीं (कृते) करने पर (खलु) निश्चय करके (तथा) वैसे ही (उक्तिः) कथन (उचिता) उचित है। इसीसे कहा है कि— प्रजा रास्ते में ठोकर लगने पर माता की पीठ में जैसे घूसा मारती है वैसे ही निरुपाधिक बन्धु समर्थ ईश्वर के नहीं रोकने पर वैसा कह सकते हैं ॥३९३॥

अब जगद्गुरुजो ने नहीं रोकने मात्र से वह किये हैं ऐसा कह सकते हैं इस बात को स्पष्ट कहते हैं कि—

प्रजां कूपसमीपान्नापनयति यदि मातरमपातयदिति वदन्ति खलु ॥३९४॥

अथ — (प्रजाम्) कूएँ के किनारे बैठी हुई प्रजा को देखकर (यदि) यदि माता उसी समय में (कूपसमीपात्) कुएँ के पास से (न) नहीं (अपनयति) हटाती है और प्रजा यदि कुएँ में गिर जातीहै तो (अपातयत् माताने ही प्रजा को गिराया है (इति)ऐसा (खलु) निश्चय करके सबलोग (मातरम्) माता को (वदन्ति) कहते हैं। इसीसे कहा है कि कुएँ के पास से प्रजा को नहीं हटाने पर माताने ही ढकेल दिया है ऐसा निश्चय करके सब लोग कहते हैं ॥३९४॥

अस्यानुमतिः प्राप्तेर्यथा न हेतुस्तथा तस्यानुमतिर्हानिहेतुर्न भवति ॥३९५॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि इस जीव की अनुमति हानि का हेतु नहीं है। वैसे ही ईश्वर की अनुमति हानि का हेतु नहीं है।

अर्थ— (अस्य) रक्ष्यभूत इस चेतन को (अनुमतिः) रक्ष्यत्वोनुमतिजद से अलग आकार होने से (प्राप्तेः) भगवल्लाभ का(यथा) जैसे (हेतु) हेतु

(न) नहीं है (तथा) वैसे ही (तस्य) उस रक्षक सर्वेश्वर की (अनुमतिः) संसारानुमतिभी अपनी आज्ञारूप शास्त्र मर्यादा को जीवित रखने के लिये क्रम से अंगीकार करेंगे ऐसी इसको रूचि देखने से (हानिहेतुः) उसकी हानि का हेतु (न) नहीं (भवति) है। इसीसे कहा है कि—इस जीव की मनुमति जैसे फल का हेतु नहीं है वैसे ही उस ईश्वर की अनुमति हानि का हेतु नहीं है ॥३९५॥

अब जगद्गुरुजी ये दोनों अनुमति कैसी होती है इस शंका के सन्दर्भ में कहते हैं कि—

द्वयमप्युभयोः स्वरूपम् ॥ ३९६ ॥

अर्थ—(द्वयम्) परतंत्र और स्वतंत्र ये दोनों (अपि) भी (उभयोः) जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों के (स्वरूपम्) असाधारण आकार हैं। इसीसे कहा है कि—दोनों भी दोनों के स्वरूप हैं ॥३९६॥

अब जगदाचार्यजी हानि और लाभ के हेतु को कहते हैं कि—

हानिहेतुः कर्म, प्राप्तिहेतुः कृपा ॥ ३९७ ॥

अर्थ—(हानिहेतुः) भगवद्विषय के अनादि कालसे हानि का हेतु (कर्म) अनादिकाल के संचित जीवात्मा का कर्म है और (प्राप्तिहेतुः) जीवात्माके भगवद्विषय को प्राप्ति का हेतु (कृपा) भगवत् की निर्हेतुक कृपा है। इसीसे कहा है कि—हानि का हेतु कर्म है और लाभ का हेतु कृपा है ॥३९७॥

अब श्रीवचनभूषणकार तीन सौ सन्तानवें सूत्रमें कहे हुएसे विपरीत कहनेसे होनेवाले अनर्थ को कहते हैं कि—

अन्यथोक्तौ हानिहेतुः स्यात् ॥ ३९८ ॥

अर्थ—(अन्यथा) अन्य प्रकार हानि का हेतु ईश्वर हैं और लाभ का हेतु जीव के अच्छे-अच्छे गुण हैं ऐसा (उक्तौ) कहनेपर (हानिहेतुः) भगवद्विषयकी प्राप्ति न होने का कारण (स्यात्) हो जायेगा। इसीसे कहा है कि—दूसरे प्रकार के कहने पर हानि का हेतु हो जायगा ॥३९८॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी ईश्वरके छोड़ देनेके हेतु को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं कि—

उद्धर्तुं चिन्तयन्तं प्रत्यपातयदित्युक्तिरनुद्धरणहेतुर्भवति खलु ॥३९९॥

अर्थ – (उद्धर्तुम्) अथाह कुएँमें अपने कर्मके अनुसार गिरे हुयेको पास में रहनेवाला एक दयालु उठाने के लिये (चिन्तयन्तम्) चिन्तवन करे तो गिरने के समय में पास रहने से उस दयालु पुरुष के प्रति (अपातयत्) तुमने ही गिराया है (इति) ऐसा (उक्तिः) कहना (खलु) निश्चय करके (अनुद्धरणहेतुः) नहीं उठाने का हेतु (भवति) होता है वैसे ही अपने कर्मसे ससाररूप अथाह गढे में गिरे हुये इस चेतन को उठाने की इच्छा करनेवाले दयालु परमेश्वरको इतना काल हमको संसारमें आपने गिरा रखा है ऐसा कहनेपर क्रोधित हो हाथ खींच भोगने दो ऐसा छोड़ने का हेतु होता है। इसीसे कहा है कि उठाने की इच्छा करनेवाले को तुमने गिराया है ऐसा कहना नहीं उठाने का हेतु होता है ॥३९९॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि क्रोध होने पर इस वचन के बाद पूर्वोक्त अर्थ को परकालस्वामीजी ने अपने ही कहा है कि—

"क्रोधोऽस्तीति" अनंतरममुमर्थं स्वयमेवावोचत् खलु ॥४००॥

अर्थ – (क्रोधः) क्रोध (अस्ति) है (इति) इस बचन के (अनन्तरम्) बाद (अमुम) इस (अर्थम्) अर्थको (स्वयम्) अपने ही (एव) निश्चय करके (अवोचत्) परकालसूरिजीने कहा है (खलु) निश्चय। इसीसे कहा है कि क्रोध होने पर इस उक्ति के अनन्तर इस अर्थ को आपने ही कहा है ॥४००॥

अब जगद्गुरुजी क्रोध होने पर इस वचनके अनन्तर तथापि कहूँगा ऐसा पूर्वोक्त को ही कहने का हेतु प्रश्नोत्तर से प्रकाश करते हैं कि—

क्रोधोऽस्तीति ज्ञाने कथमुच्यत इतिचेत् कृपार्तिरनन्यगतित्वं च भाषयति ॥४०१॥

अर्थ—(क्रोधः) ईश्वरको क्रोध (अस्ति) है (इति) ऐसा (ज्ञाने) ज्ञान होने पर (कथम्) कैसे (उच्यते) कहा है (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न होतो इसका उत्तर यह है कि (कृपा) दूसरेके दुःखको नही सहनारूप कृपा तथा (आर्तिः) क्रोधको देखकर डराहुआ अपने मुख नहीं बन्द करने के हेतु कुलंकष ससार में आर्ति (च) और (अनन्यगतित्वम्) क्रोधित हो फेंक देने पर भी किसी गति का अभावरूप अनन्यगतित्व ये दोनों (भाषयति) कहाते हैं। इसीसे कहा है कि—क्रोध है ऐसा जानकर कैसे कहा है, इस शंका में कृपा तथा आर्ति और अनन्यगतित्व ये दोनों कहाते हैं ॥४०१॥

अब श्रीवचनभूषणकार ऐसा अनन्य गतित्वादि होने पर भी उनको कुपित करना युक्त है क्या ? इस शंका में कहते हैं कि –

क्रोधे कृतेपि पादावरोधनयोग्यःकश्चन प्राप्तश्चेत्सर्वं वक्तुं शक्यते खलु ॥ ४०२ ॥

अर्थ—(क्रोधे) परमात्मा के क्रोध (कृते) करनेपर (अपि) भी (पादौ) भगवत् के दोनों चरणों को (अवरोधनयोग्यः) पकड़ने योग्य (कश्चन) कोई भी परम दयालु (चेत्) यदि (प्राप्तः) प्राप्त हो तो (खलु) निश्चय करके (सवम्) सब कुछ (वक्तुम्) कहने के लिये (शक्यते) समथ हो सकते हैं। इसीसे कहा है कि—क्रोध करने पर भी पैर को पकड़ने योग्य परम कृपालुको प्राप्त होनेपर सब कुछ कह सकते हैं निश्चय करके ।४०२।

अब जगदाचार्यजी भगवत्को क्रोध होनेपर भी भगवत्के पैर पकड़ने योग्य है इस विषय में प्रमाण दिखाते हैं कि –

कृपया पर्यपालयत् (अरिशिनत्ताल्) अत्यंत कोपेन ॥ ४०३ ॥

अर्थ –(कृपया) श्रीरामजीने कृपा से (पर्यपालयत्) जयन्त नामवाले महाअपराधी काक की रक्षा (अत्यन्तकोपेन) अत्यन्त क्रोध से। इस चार सौ तीनवें सूत्र में "कृपया पर्यपालयत्" यह वाक्य वाल्मीकीय रामायण के सुन्दर कांड के अड़तीसवें सर्ग के तैंतीसवें श्लोक का प्रतीक है। इससे पहले सम्पूर्ण श्लोक को लिखकर उस श्लोक का अर्थ लिखता हूँ कि—

स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् । वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपयापर्यपालयत् ॥ वाल्मीकिरा०सुन्दर का०५ सर्ग ३८ श्लो०३३॥

पृथ्वी में गिरे हुए तथा शरण में आये हुए, मारने योग्य, महा अपराधी उस जयन्त काक को शरण्य श्रीरामजी ने कृपा से रक्षा की ॥३३॥ भगवान् के क्रोध होने पर भी उनके चरणारविन्द पकड़ने योग्य हैं, इस विषय में यामुनाचार्य स्वामीजी ने कहा है कि – **निरासकस्यापिनताव-दुत्सहे भहेश हातुं तव पादपङ्कजम् । रुषानिरस्तोऽपि शिशुः स्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति ॥आलवन्दा० श्लो २९॥**

हे सबसे भारी ऐश्वर्य वाले भगवन् श्रीमन्नारायण देव ! हमको छोड़ने में आप अपने स्वभाव को यदि प्रवृत्त करेंगे तौभी आपके चरणारविन्द को जब तक हमारे देह में प्राण रहेगा तब तक छोड़ने के लिए नहीं मैं उत्साह कर सकता, कारण माता क्रोध से छोटे बच्चे को अपने से अलग हटाती है तौभी स्तन पीनेवाला बच्चा कभी अपनी माताके दोनों चरणों को नहीं छोड़ने की इच्छा करता है ॥२९॥ श्रीकुलशेखर स्वामीजी ने भी कहा है कि अत्यन्त दुःख से प्रसन्न करनेवाली माता बालक के बुरे कार्य को देखकर अपने से उसको अलग करने के लिए लात मारकर निकाल देने पर भी बाहर किसी के रक्षकत्वाभाव से कुपित माता की कृपा की स्मरण कर रोते हुए पैर पकड़नेवाले बालकके समान यह चेतन भगवत् के चरणारविन्द को ही पकड़ता है, इसीसे कहा है कि—कृपा से परिपालन किये अत्यन्त क्रोध से ॥४०३॥

॥ इति श्रीवचनभूषणे भगवन्निर्हेतुक विषयीकारः समाप्तः ॥

॥ अथ भगवन्निर्हेतुक कृपावैभवनाम पञ्चम प्रकरणेनिर्हेतुककृपावैभवः॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी भगवद्गुणानुसन्धान अभय का हेतु है इस पूर्वोक्त अर्थको विवरण करने के लिये ईश्वरसे इस जीवात्मासे उज्जीवन के वास्ते क्रियमाण कृषि परम्परा को कहते हैं कि—

त्रिपाद्विभूतौ परिपूर्णानुभवे वर्तमानेऽपि तस्या-किञ्चित्करत्वेन देशान्तरस्थपुत्रविषये पितृहृदयवत्संसारि-

चेतनविषये हृदयस्य स्थित्या तद्विश्लेषासहिष्णुतया तैः सह मिलित्वा विनियोक्तुं करणकलेवराणि दत्वा तैर्व्यापारान् कर्तुमुपयुक्तान् शक्तिविशेषांश्च दत्वा चक्षुर्दृश्यतया स्थितौ शपथं कृत्वा निवारयेयुरिति नेत्राविषयतया स्थितः स्वपन्तीं प्रजां मातापृष्ठे आलिंगन्ती यथा शेते तथा स्वावगतसम्बन्धहेतुना त्यक्तुमसमर्थोऽतएवालिंग्यानुभवादपि स्वीयत्वख्यापनानुवृत्तिरेव समीचीनेति सत्तां रक्षन् समदुःखी एतेष्वसत्कर्मसु प्रवर्तमानेषु निवर्तनाक्षमोऽनुमतिं कुर्वनुदासीनवत्स्थित्वा व्यावर्तयितुमवकाशं दृष्ट्वा पुण्यमिति नामकरणार्हमेकं पापमप्यदृष्ट्वा मुखे वेधित्वा दृष्ट्वा केनापि मार्गेण द्रवा दर्शनेऽप्राप्यमिति नेत्रजले न निवर्तते । स्वस्य किञ्चदवकाशलाभे मद्ग्राममवोचः स्वं नामावोचः महासानरक्षस्तच्छ्रमं न्यवर्तयस्तेषां स्थातुं छायामदा इतिवत्कानिचिदारोप्यांके आम्रं निक्षिप्य सुवर्णवणिक् स्वर्णं घर्षणोपले निघृष्य मधूच्छिष्टेन कालान्तरे यथैकीकरोति तथा प्रतिजन्मपरम्परया यादृच्छिकप्रासंगिकानुषंगिकसुकृतविशेषान्कल्पयित्वा स्वयमेव तदेकं दशकृत्वावर्तयेत् ।४०४।

अर्थ —(त्रिपाद्विभूतौ) त्रिपाद विभूति में। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि त्रिपाद्विभूति कहाँ पर है। इस प्रश्नका उत्तर यजुर्वेद में लिखा है कि —पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि ॥ यजु० अ० ३१ मं० ३ ॥ यह जो कुछ विश्व जीवों के सहित है यह इस परमात्मा का एक पाद है और परमाकाश दिव लोक प्रकाशमान मोक्षरूप नाश रहित स्थान तीन पाद है ॥३॥ उस निरतिशय सुख वह नित्य विभूति में (परिपूर्णानुभवे) नित्य और मुक्त जीवोंके साथ मिलकर निरतिशयानन्द जनक स्वरूप रूप गुण विभूति सबको एक ही काल में अनुभव करना रूप परिपूर्ण अनुभव (वर्तमाने) रहने पर (अपि) भी (तस्य) उसके वह प्रति क्षण नवीन रसानुभव भी (अकिंचित्करत्वेन) कुछ भी नहीं करनेवाला होता है। (देशान्तरस्थपुत्रविषये) अनेक पुत्रों में से एक पुत्र अपने कर्मानुसार देशान्तर जाने पर अन्य पुत्रों के साथ मिलकर अनुभव करते हुए भाई की तरह वह भी मिल अनुभव करने योग्य होने पर भी इसको छोड़ कहीं पड़ा है ऐसा अन्य देश में स्थित उस पुत्रके विषयमें (पितृहृदयवत्) पिता का हृदय जैसे लगा रहता है वैसा ही (संसारि-चेतनविषये) नित्य और मुक्त जीवों से मिलकर सुख भोगने पर भी इस भोग में प्राप्ति होते हुए यह चेतन इसको छोड़कर हमसे च्युत रहता है, अहो ऐसा देशान्तरस्थ संसारी जीवों के विषय में (हृदयस्य) हृदय की (स्थित्या) स्थिति द्वारा (तद्विश्लेषासहिष्णुतया) संहार समय में प्राप्ति होनेपर नित्य विभूति में इन संसारी चेतनों को छोड़कर आप रहने के समय जैसा पुत्र पौत्रादिकों के साथ रहनेवाले उनको छोड़कर अकेला समझकर दुःख पाता है वैसे ही उसके वियोग को नहीं सहन करके (तैः) इन संसारी जीवों के (सह) साथ (मिलित्वा) अन्तरात्मा से तथा अवतार और अर्चावतारों से मिलकर (विनयोक्तुम्) विनियोग करने के लिए (करणकलेवराणि) अपने चरण कमलके समाश्रयण करने योग्य इन्द्रिय और शरीरों को निर्हेतुक दया करके (दत्वा देकर (च) और (तैः) उन इन्द्रिय और शरीरों करके (व्यापारान्) कार्यों का (कर्तुम्) करने के लिए (उपयुक्तान्) उपयोगी (शक्तिविशेषान्) चित्शक्ति, प्रवृत्त शक्ति और निवृत्ति शक्ति रूप शक्ति विशेषों को (दत्वा) देकर (चक्षुर्दृश्यतया) आँख के दृश्यतया (स्थितौ) स्थिति होनेपर तो (शपथम्) हमारे सामने तुम कभी नहीं रह सकते हो ऐसा शपथ को (कृत्वा) कर (निवारयेयुः)

रोकेंगे (इति) ऐसा समझकर(नेत्राविषयतया)आँखों के विषय में नहीं ही करके (थितः) स्थित है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर लिखा है कि वह नेत्र से नहीं ग्रहण होता है ? इस प्रश्न का उत्तर कठोपनिषद् में लिखा है कि— न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ॥ कठो० २।६।९॥ इसकारूप आँख में नहीं ठहरता है और इसको कोई भी आँख से नहीं देखता है ॥९॥ इससे सिद्ध हो गया कि वह नेत्र गोचर नहीं है (स्वपन्तीम्) अपने को और अपनी माँ को भी नहीं जानकर पड़ी सोती हुई (प्रजाम्) सन्तति को (माता) वत्सला माता अपने ज्ञात रक्ष्यरक्षक भाव सम्बन्ध द्वारा (पृष्ठे) सन्तति के पीठ में (आलिंगती) आलिंगन करती हुई (यथा) जैसे (शेते) सोती है (तथा) वैसे ही अनादि माया से सोता हुआ स्वस्वरूप और परस्वरूप आदिक किसी को नहीं जाननेवाला इस चेतन को (स्वागत) सम्बन्ध हेतुना) अपने से जाने हुए रक्ष्य-रक्षक भाव रूप सम्बन्ध का कारण करके (त्यक्तुम्) छोड़ने के लिये (असमर्थः) असमर्थ है (अतः) इससे (एव) ही निश्चय करके (आलिंग्य) भीतर से इसको आलिंगन कर (अनुभवात्) अनुभव की अपेक्षा से (अपि) भी (स्वीयत्वख्यापनानुसार वृत्तिः) हमारा करके जैसा भासमान हो वैसा बराबर अनुवर्ती न करना (एव) ही निश्चय करके (समीचीना) अच्छा है (इति) ऐसी (सत्ताम्) सत्ता को (रक्षन्) रक्षा करता हुआ (समदुःखी) इनके दुःख में उसके बराबर ही दुःखी हो (एतेषु) इन सबों के (असत्कर्मसु) बुरे कर्मों में (प्रवर्तमानेषु) प्रवृत होने पर (निवर्तनाक्षमः) हटाने में असमर्थ हो (अनुमतिम्) अनुमति को (कुर्वन्) करता हुआ (उदासीनवत्) उदासीन की तरह (स्थित्वा) रहकर (व्यावर्तयितुम्) उनको लौटाने के लिये (अवकाशम्) अच्छे अवकाश को (दृष्ट्वा) देखकर (पुण्यम्) पुण्य (इति) ऐसा (नाम) नाम (करणार्हम्) करने योग्य (एकम्) एक (पापम्) पाप को (अपि) भी (अदृष्ट्वा) नहीं देखकर (मुखे) सांप से डँसे हुए मरे प्रायः मनुष्यों को मन्त्रादियों से जगाने की प्राण स्थिति की परीक्षा करने के लिये मुख में ललाट को (वेधित्वा] वेधकर (दृष्ट्वा) देखने पर भी (केन) किसी (अपि) भी (मार्गेण) छेद के रास्ता से (द्रवादर्शने) रक्त की आर्द्रताको नहीं देखने पर (अप्राप्यम्)

यह हमको नहीं मिलेगा (इति) ऐसा रोकर (नेत्रजलेन) आँख के आँसू के साथ (निवर्तते) लौटते हैं (स्वस्य) अपने के (किञ्चित्) कुछ भी (अवकाशलाभे) अवकाश मिलनेपर (मद्ग्रामम्) वह गाँव वह गाँव ऐसा चेतन बहुत गाँवों का नाम लेते समय श्रीरङ्गवेङ्कट गिरि आदि अपने अपने दिव्य देशों में किसी एक को कहने पर उतना ही लेकर हमारे गाँव को (अवोचः) कहा है (स्वम्) वह ऐसा अनेकों के नाम कहने पर किसी एक का नाम अपना नाम होने से उतने ही मात्र से (नाम) हमारे नाम को (अवोचः) कहा है (महाजान्) कई भागवत लोग जंगलका रास्ता चलने पर उनको मारकर लूटने के लिये चोरों के उद्योग करने पर अपने कार्य से जाता हुआ एक राजभट उसके पीछे देखने पर यह उनको रक्षा करने के लिए आ रहा है ऐसा समझकर डरकर चोरों के भागनेपर उतने मात्र से उस राजभटने मेरे दासों की (अरक्षः) रक्षा की है (तच्छमम्) किसी एक ने धूपकाल में अपनी खेती सूखने पर जल के स्थान से खेत में लाने के लिये बहुत दूर से नाला खोदकर पानी को बहाते हुए मरुभूमिसे बहुत दूर चलकर इतना जल मिलनेपर हमारे प्राण बचेंगे ऐसा कहने योग्य थकावट से आनेवाले भागवत लोग खेती वाले न जाने जैसे नालेके पानी से अपने चरणारविन्द को धोकर थकावट को दूर कर जाने पर उतनेही मात्र से हमारे भक्तोंके परिश्रमको (न्यवर्तयः) दूर किया है (तेषाम्) किसी एक ने जुआ चतुरंग खेलने के लिये हवाके अपेक्षित होनेसे बाहर चबूतरा बनाकर रखने पर वर्षासे पीड़ित हो वहाँ छायामें बैठेंगे ऐसा विचार कर भागवत लोगोंके वहाँ बैठकर जाने पर उतने ही मात्र से ही उन हमारे दासों के (स्थातुम्) ठहरने के लिये (छायाम्) छाया को (अदाः) दिया है (इतिवत्) इस तरह (कानिचित्) कई एक अज्ञात सुकृतों को (आरोप्य) उनके ऊपर आरोपण कर (अंके) आम नहीं लेकर रास्ते में जानेवाले के अंचल में (आम्रम्) आम को (निक्षिप्य) छिपा कर आम चुराया है ऐसा कहना (सुवर्णवणिक्) सोना का व्यापार करनेवाला सोनार किसी एक की परीक्षा के लिए सोने लाने पर (स्वर्णम्) उस सोने को (घषणोपले) सोने की परीक्षा करनेवाली पत्थर की कसौटी में (विघृष्य) घिस कर (मधूच्छिष्टेन) मोम से निकाल कर (कालान्तरे) साँझ होते ही पाव रत्ती भर हुआ ऐसा समझकर (यथा) जैसे (एकींकरोति) एक गोली करता है (तथा)

वैसे ही (प्रतिजन्मपरम्परया) एक दो जन्म नहीं चेतनों की प्रतिजन्म-परंपरा में (याद्दच्छिक, प्रासंगिकानुषंगिकसुकृतविशेषान्) थकावट को दूर किये रहने को छाया दिया इस तरह उत्पाद्यमान याद्दच्छिक और भगवत् के गाँव को कहा था नाम को कहा इस तरह प्रासंगिक तथा दासों की रक्षा की इस तरहके आनुषंगिक सुकृत विशेषों को (कल्पयित्वा) कल्पना कर (स्वयम्) आप ही (एव) निश्चय करके (तत्) उस (एकम्) एक को (दश) दस या बहुत (कृत्वा) कर (वर्तयेत्) चलाते हैं। इसीसे कहा है कि—त्रिपाद्विभूति में परिपूर्णानुभव वर्तमान होने पर भी वह अकिंचित्कर हो देशान्तर्गत पुत्र के विषय में जैसा पिता का हृदय होता है वैसा संसारियों के विषय में हृदय चलकर इनके विश्लेष में असह्य हो इनके साथ मिल कर विनियोग करने के लिये करण कलेवरों को देकर उसको लेकर कार्य करने के योग्य शक्तिविशेषों को प्रदानकर नेत्रगोचर होनेपर शपथकर हटादेंगे समक्ष नेत्र का अविषय हो सोनेवाले शिशु को माता आलिंगन कर जैसे सोती है वैसे अपने जाने हुए सम्बन्धरूपहेतु से न छोड़ भीतर में आलिंगन कर अनुभव की अपेक्षा अनुवर्तन करना अच्छा समझ त्याग न कर सत्ता की रक्षा करते हुए इनके दुःख में दुःखी हो इनको असत्कर्मों में प्रवृत होने पर हटाने को असमर्थ हो अनुमति दान कर उदासीन की तरह रहकर लौटाने का अवकाश देखकर पुण्य कहने योग्य एक पाप को भी न देखकर ललाट को वेधकर देखने पर किसी प्रकार की आर्द्रता को न देखने से हाथ से छूट गया ऐसा समझकर आँखके आँसूके साथ लौटते हैं आप कुछ भी अवकाश पाने पर हमारे गाँव का नाम कहा हमारा नाम कहा हमारे दासों की रक्षा की उनकी थकावट को दूर किया उनके रहने को स्थान दिया इस तरह सुकृतों को आरोपण कर आंचल में आम रखकर सोनार सोना को कसौटी में घिसकर मोम से उठाकर पाव रत्ती हुआ समझकर जैसा गोली करता है वैसा प्रत्येक जन्म की परम्परा में याद्दच्छिक प्रासंगिक आनुषंगिक रूप सुकृत विशेषों को कल्पना कर आप ही एक को दस कर चलाते हैं ॥४०४॥

अब प्रबन्धकर्त्ता अज्ञात सुकृत द्वारा ईश्वर अङ्गीकार करता है इस अर्थ को देख सकते हैं क्या इस शंका में कहते हैं कि—

ललिताचरितादिष्वयमर्थः संकोचं विना द्रष्टव्यः ॥ ४०५ ॥

अर्थ—(ललिताचरितादिषु) विदर्भराज की पुत्री काशीराज की पत्नी ललिता देवी के चरितादियों में (अयम्) अज्ञान सुकृत द्वारा परमात्मा अङ्गीकार करता है यह (अर्थः) अर्थ (संकोचम्) संकोच (विना) बिना विस्तारपूर्वक (द्रष्टव्यः) देखने योग्य है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर कैसा ललिता देवी का चरित लिखा है? इस प्रश्न का उत्तर श्री विष्णु धर्म में लिखा है कि—विदर्भराज की पुत्री काशीराज की पत्नी ललिता देवी सपत्नी तीन सौ स्त्रियों से अति सौन्दर्य पतिवश्यता, देह तेज से और सर्वगुण सम्पतिवाली हो दिन रात भगवत् की सन्निधि में अनेक दीप जलाकर उस कार्यमें तत्पर हो रही थी, उसको देखकर तुम्हारा यह सौन्दर्य और इस दीपारोपण में प्रीति इसका कारण क्या है? ऐसा सपत्नियों के पूछने पर वह जाति-स्मृति में जन्म लेने से है सुन्दरियों! जो कुछ हमारा पूर्ववृत्त है उसे कहती हूँ सुनो—

सौवीरराजस्य पुरा मैत्रेयोऽभूत्पुरोहितः। तेन चायतनं विष्णोः कारितं देविकातटे ॥ अहन्यहनि शुश्रूषां पुष्पधूपानुलेपनैः। दीपदानादिभिश्चैव चक्रे तस्य वसन् द्विजः ॥ पूर्वकाल में सौवीर राजा के पुरोहित मैत्रेय ऋषिने देवीकी नदीके किनारे श्रीविष्णुभगवान् का मन्दिर बनाया और प्रतिदिन फूल, धूप, जल, चन्दन, दीपदान आदि से नारायण की शुश्रूषा करने लगा॥ **कार्तिके दीपितो दीप उपात्त-स्तेन चैकदा। आसीन्निर्वाण भूयिष्टो देवस्य पुरतो निशि ॥ देवतायतने चासं तत्राहमपि मूषिका ॥ प्रदीपवर्तिग्रहणे कृतबुद्धिर्वरा-ननाः। गृहीता च मया वर्तिः पृषदंशो रुराव च। नष्टा चाहं ततस्तस्य मार्जारस्य भयानुगा ॥ वक्त्रप्रान्तेन नश्यंत्या स दीपो प्रेरितोमया। जज्वाल पूर्ववद्दीप्त्या तस्मिन्नायतने पुनः ॥** एक कार्तिक मासमें मैत्रेय ऋषिसे जलाया हुआ दीप परमात्माके सामने रातमें

बुझने लगा मैं उस मन्दिर में मूषिका होकर रहती थी। दीप की बत्ती को ले जाने के लिए उद्योग करती हुई मुख से बत्ती को खींचा था, इतने हीमें बिल्ली ने पुकारा उस बिल्ली के डर से मैं मर गई मरती हुई मेरे मुख से बत्ती खींचा जाकर दीपक प्रज्वलित हुआ ॥ **मृताचाहं ततो जाता वैदर्भी राजकन्यका। जातिस्मरा कान्तिमती भवतीनां वरा गुणैः ॥** मैंने विदर्भदेश के राजा की कन्यारूप से जन्म लिया जाति स्मृति के साथ कान्तिमयी आप लोगों के सौन्दर्यादि गुणों से श्रेष्ठ हुई ॥ **एषः प्रभावो दीपस्य कार्तिके मासि शोभनाः। दत्तस्य विष्णवायतनेय-स्येयं व्युष्टिरुत्तमा। असंकल्पितमप्यस्य प्रेरणंयत्कृतं मया। विष्णवायतनदीपस्य तस्यैतद्भुज्यते फलम् ॥ ततो जातिस्मृतिर्जन्म मनुष्ये शोभना वपुः ॥ वश्यः पतिर्मे सर्वासां किं पुनर्दीपदायिनाम्।** हे सुन्दरियों कार्तिक मास में श्रीविष्णु भगवान् के मन्दिर में जलाये हुए दीप का यही प्रभाव है कि इच्छा के बिना भी मुझसे प्रेरित हो दीपक जलने से इस फल को पा रही हूँ। जाति स्मृति मनुष्य जन्म सुन्दर शरीर और पतिवशमें आप लोगों को अपेक्षा मुझमें अधिक हैं और जान बूझ कर दीप जलाने वाले को क्या नहीं होगा ॥ यही ललिता चरित है। इस चार सौ पाँचवें सूत्र का 'ललिताचरितादिषु' इस पद में जो आदि शब्द है उससे सुव्रता नामवाली ब्राह्मण की लड़की के चरित में और गरुड़पुराण में श्रीरंगजी के महात्म्य में जो एक स्त्री का चरित है उस चरित में भी अज्ञात सुकृत के फल को विस्तारपूर्वक देख सकते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर और किस प्रकारका सुव्रता नामवाली ब्राह्मणकी लड़की का चरित लिखा है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि— इतिहास समुच्चय में लिखा है कि तत्ववेत्ता एक ब्राह्मण की लड़की सुव्रता नामवाली बाल्यावस्थामें मातृहीना हुई। वह दुख जैसे न मालूम हो वैसे परम दयालु पिता पोषण करता रहा। विवाह समय प्राप्त होने पर पिता के मरण से अत्यन्त शोक से पीड़ित हो ॥ **येन संवर्द्धिता बाल्ये येनास्मिन्परिरक्षिता। तेन पित्रा वियुक्ताहं न जीवेयं**

कदाचन ॥ नद्यां वा निपतिष्यामि समिद्धे वा हुताशने पर्वताद्वा-पतिष्यामि पितृहीना निराश्रया ॥ जिससे बाल्यावस्था में मैं बढ़ायी गयी और जिससे मेरी रक्षा हुई उस पिता के मरने पर मैं कभी भी न जीऊँगी। नदी में या धधकती हुई आग में या पहाड़ के उपर से बाप से रहित बिना आश्रयवाली मैं गिरूँगी ॥ ऐसा विचार कर जब सुव्रता शरीर छोड़ने के लिए तैयार हुई तब—आगत्य करुणाविष्टो यमः सर्वहितेरतः। स्थाविरो ब्राह्मणो भूत्वा प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥ सब जीवों के हित करने में रत यमराज करुणा से युक्त हो वृद्ध ब्राह्मण के रूप से पास में आकर यह वचन बोले—अलं बाले विशालाक्षि रोदने-नाति विह्वले। न भूयः प्राप्यते तातस्तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ॥ तस्मात् त्वं शोकमुत्सृज्य श्रोतुमर्हसि सुव्रते। पितृभ्यां विप्रयोगोऽयं येनाभूत्कर्मणा तव ॥ पुरात्वं सुन्नरी नाम वेश्या परमसुन्दरी ॥ नृत्यगीतादिनिपुणा वीणावेणुविचक्षणा ॥ हे विशाल नेत्रवाली बाले, व्याकुल हो रोना बन्द करो, तुम्हारा पिता अब फिरसे तुमको नहीं मिलेगा, इससे शोक मत करो ॥ हे सुव्रते इससे शोक को छोड़कर तुम सुनो जिस तेरे कर्म से माँ और बाप से तुझे वियोग हुआ है ॥ पूर्वकाल मे तुम सुन्दरी नामवाली अत्यन्त सुन्दर वेश्या थी। नाच गाना आदि में निपुण और वीणा तथा वेणु बजाने में चतुर थी। तुम एक ब्राह्मण के लड़के को वश कर उसके साथ भोगती थी। स्पर्धाके मारे तुम्हारे निमित एक शूद्रने उस ब्राह्मण के लड़के को जान से मारा। इसके बाद उस लड़के के माँ बाप ने लड़के को मारने वाली तुमको समझकर तेरे लिये शाप दिया कि हमारे लड़के को मारनेवाली तू दूसरे जन्म में माँ और बाप से हीन हो अत्यन्त शोकातुर होवोगी उसी शापसे तुमको यह शोक उत्पन्न हुआ है। इस यमराजके वचन को सुनकर सुव्रता ने पूछा कि हे भगवन् अत्यन्त पापिनी मैंने किस सुकृत क्रमसे ब्राह्मण योनि में जन्म लिया है। ऐसा सुव्रता के पूछने पर यमराज ने कहा है कि—शृणु तस्य महाप्राज्ञ निमित्तं गदतो मम। येन त्वं ब्राह्मणस्यास्य

कुले जाता महात्मनः ॥ हे महा प्राज्ञे सुव्रते, जिस कारण से महात्मा ब्राह्मण के इस कुल में तुमने जन्म लिया मुझसे कहे हुए उस कारणको तुम सुनो ॥ ज्ञानाधिक निरपेक्ष सर्वत्र समदर्शी भगवद् ध्यान परायण गाँव में एक रात रहते हुए हमेशा घूमनेवाले एक भागवत एक रात में तुम्हारे घरके बाहर चबूतरा पर सोये। तब वहाँके राजाके सिपाही उस भागवत को चोर समझकर बाँधे। इसके बाद तुम वहाँ जाकर बन्धन से उस भागवत को छुड़ाकर अपने महल में ले आई और बहुत प्रकार के तूने आश्वासन दिलाया। उस सुकृत कर्म से तुमने ब्राह्मण योनि में जन्म लिया है। यही सुव्रता नामवाली ब्राह्मण को लड़की का चरित है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि गरुड़पुराणमें श्रीरंगजी के महात्म्य में जो एक स्त्रीका चरित है किस प्रकार का लिखा हुआ है? इस प्रश्नका उत्तर गरुड़पुराण में इस प्रकार से लिखा है कि—एक स्त्री यमराज के दूतों से अत्यन्त पीड़ित होकर आकाश की तरफ रक्षा करनेवाले कोई हैं ऐसा पुकारती हुई जाती थी। अश्वत्थ तीर्थ में बहुत दिनों से तपस्यारत मालती ऋषि ने उसको देखकर कृपा कर एक दिन की तपस्या के फलको उसे दिया। उसी समय यमराज के दूत बन्धु हो गये। दक्षिण का मार्ग सुखोत्तर हुआ। यातना वाला शरीर छूटकर विलक्षण रूप वाली हो गयी। तब उस स्त्री को लेकर वे दूत सब यमराज के पास में गये तब —

पितेव धर्मराजोऽभूतस्नास्तत्प्रियदर्शनः। सान्त्वयन् स महातेजा व्याजहार च तां प्रति ॥ भद्रे त्वया सुष्टु कृतं न किञ्चिदिह विद्यते। इतो द्वादशजन्मान्ते त्वां कश्चित्सिद्ध आविशत् ॥ विष्णु भक्तो निवासार्थंराज्यां तु तव वेश्मनि। तत्सन्निधानप्रभवस्तव साधुसमागमः। साहि वै ब्रह्मविदुषी श्रीमद्रङ्गमुपाश्रिता ॥ तत्र तीर्थोत्तमं श्रीमदश्वत्थं नाम संश्रिता। धर्मज्ञा धर्मपरमा यस्यास्ते संगमो अभवत् ॥ पिता के समान यमराज का अति प्रिय दर्शन हुआ और महा तेजस्वी उस स्त्री को आश्वासन दिलाते हुए कि—हे भद्रे इस जन्म में तूने किसी प्रकार का अच्छा कर्म नहीं किया। इस जन्म से पहले बारहवें जन्म के अन्त में कोई सिद्ध पुरुष तेरे पास में आया ॥

वह विष्णु भगवान का भक्त रात में तुम्हारे घर में निवास करने के लिए ठहरा। उस विष्णु भक्त की सन्निधिके प्रभावसे तुम्हारा साधुका समागम हुआ और निश्चय करके वही तुम ब्रह्मज्ञानी हो श्रीरंगजी को चली गयी॥ वहाँ पर अत्यन्त श्रेष्ठ अश्वत्थ नाम के तीर्थ में तुमने स्नान किया और धर्मात्मा हो धर्म को जाननेवाली हुई जिस तेरे से संगम आज हुआ॥ यही गरुड़पुराण में श्रीरंगजी के महात्म्य में कहा हुआ एक स्त्री का चरित्र है। इसीसे कहा है कि—ललिता चरितादियों में इस अर्थ को विस्तारपूर्वक देख सकते हैं॥४०५॥

अब श्रीवचनभूषणकार इस निर्हेतुक विषयीकार के वैभव को न जाननेवाले इसको मानकर भी इसके अनुसन्धान से विद्ध नहीं होते हैं ऐसा कहते हैं।

अज्ञा मनुष्यास्तूष्णीं दत्तवानिति तिष्ठन्ति ॥४०६॥

अर्थ—(अज्ञाः) निर्हेतुक विषयीकार का वैभव नहीं जानने वाले (मनुष्याः) मनुष्य सब (तूष्णीम्) व्यर्थ ही (दत्तवान्) दिये हैं (इति) ऐसा समझकर (तिष्ठन्ति, ठहरे रहते हैं इसीसे कहा है कि अज्ञ मनुष्य व्यर्थ ही दिये हैं ऐसा समझकर ठहरे रहते हैं॥४०६॥

अब जगदाचार्यजी इस निर्हेतुक विषयीकारके वैभव को जाननेवाले के विद्ध होने के प्रकार को कहते हैं कि—

ज्ञानिनः "अद्य मां पदार्थं कृत्वा स्वं मदन्तः स्थापितवान्" "किं पुण्यमकरवं ममहृदये भाति" "मध्य आगत्योज्जीवयन्नाथः" 'अज्ञातज्ञापकः स्वामी' त्वत्कृतान्दासोऽहं न जानामि' 'अपदार्थभूतं मां पदार्थं कृत्वा दास्यं स्वीकृतवान्' 'मम दुष्टं मनो निवर्तितवान्' 'अनन्यप्रयोजनतयाऽश्रयन्मनोदत्तवान्' इति विस्मितास्तिष्ठन्ति ॥ ४०७ ॥

अर्थ—(ज्ञानिनः) निर्हेतुक विषयीकार वैभव को यथार्थ रीति से जाननेवाले ज्ञानीलोग (अद्य) आज (मम्) अनादि काल से अवस्तु भूत मुझको (पदार्थम्) सुन्दर वस्तु (कृत्वा) बनाकर (स्वम्) नित्य सूरियोंसे अपरिच्छेद्य अपने को (मद्) नित्य सूरियों की अपेक्षा अति नीच हमारे (अन्तः) मनके भीतर में (स्थापितवान्) रखा है (किम्) कौन (पुण्यम्) पुण्य (अकरवम्) हमने किया है कि जिसको समझकर (मम) हमारे हृदय में प्रवेश कर (भाति) अलभ्य वस्तु को प्राप्त हुए की तरह प्रकाश कर रहे हैं (मध्ये) विषयासक्त हो संचार करनेवाले मुझको बीच में (आगत्य) आकर (उज्जीवयन्) उद्धार करनेवाले (नाथः) श्रीमन्नारायण स्वामी हैं (अज्ञातज्ञापकः) नहीं जानी हुइ वस्तु का बोध करनेवाले(स्वामी) मालिक हैं (त्वत्) शेषी तुमसे (कृतान्) शेषभूत मेरे विषय में किये हुए उपकारों को (दासः) तुम्हारा सेवक (अहम्) मैं (न) नहीं (जानामि) जानता हूँ (अपदार्थभूतम्) अवस्तुभूत (माम्) मुझको (पदार्थम्) एक चीज (कृत्वा) बनाकर उस सत्ता को स्थिर करनेके लिये (दास्यम्) अपने कैंकर्य को (स्वीकृतवान्) स्वीकार किये हैं और क्षुद्र विषयों को बराबर समझने वाले (मम्) हमारे (दुष्टम्) दुष्ट (मनः) संकल्प बिकल्पात्मक मन को (निर्वर्तितवान्) विषयों से दूर किये हैं (अनन्य-प्रयोजनतया) नहीं अन्य प्रयोजन करके (आश्रयन्मनः) आदर पूर्वक आपको ही अनुभव करनेवाले मनको (दत्तवान्) दिये हैं (इति) ऐसा श्रीमन्नारायण के किये हुए उपकारों का अनुसन्धान कर (विस्मिताः) विस्मित हो (तिष्ठन्ति) अत्यन्त विद्ध होते हैं। इसीसे कहा है कि—ज्ञानी लोग आज हमको वस्तु बनाकर अपनेको हमारे भीतर में रखा है, कौन पुण्य हमने किया है कि हमारे हृदय में प्रकाश करते हैं, बीच में आकर उद्धार करनेवाले स्वामी हैं, अज्ञान ज्ञापन करनेवाले स्वामी हैं तुम्हारे किये हुए उपकारों को दास मैं नहीं जानता हूँ, नाचीज मुझको चीज बनाकर दास्य स्वीकार किये हो, हमारे दुष्ट मन को दूर किये हो, आदर पूर्वक भजन करनेवाले मन को दिये हो, ऐसा विद्ध होते हैं ॥४०७॥

अब जगद्गुरुजी इस निर्हेतुक विषयीकार को स्थिर करने के लिय एक ऐतिह्य को स्मरण कराते हैं कि—

भाष्यकारकाल एकस्मिन् दिने श्रीरंगनाथस्य

यात्रापर्यन्तं प्रतीक्ष्य म ामण्डपस्याधस्तात् ज्ञानाधिकेषु सर्वेषु समूहतया स्थितेष्वेतदर्थप्रस्तावे वार्ता स्मर्तव्याः ॥४०८॥

अर्थ— (भाष्यकारकाले) सकल वेदान्त तात्पर्यार्थ संशय विपर्यय बिना चलने के समय यतिराज श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य के समय में (एकस्मिन्) एक (दिने) दिन (श्रीरंगनाथस्य) श्रीरंगनाथ भगवान् के (यात्रापर्यन्तम्) पधारने के समय पर्यन्त (प्रतीक्ष्य) देखते हुए (महामण्डपस्य) बड़े सभा मण्डप के (अधस्तात्) नीचे (ज्ञानाधिकेषु) अधिक ज्ञान वाले (सर्वेषु) समस्त श्री वैष्णवों के (समूहतया) समूह इकट्ठा (स्थितेषु) स्थित रहने के समय में (एतदर्थप्रस्तावे) इस अर्थ के प्रस्तुत होने पर (वार्ताः) कही हुई वार्ता (स्मर्तव्याः) स्मरण करने योग्य हैं। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि वह कौनसीवार्ता है जिसकोश्रीरंगनाथजीके बड़े मण्डप के भीतर स्वामी लोगोंने इकट्ठेहोकरश्रीभाष्यकार समयमें कहा है ? इस प्रश्न का उत्तर "दीयमानं दुःखं न निवर्तयसि चेत्" "तरुतुपरंतडायेल्" इस गाथाके व्याख्यान में संग्रह से पूर्वाचार्य ने कहा है कि–श्रीरंगनाथजी के बड़े मंडप के भीतर ज्ञानाधिकसमस्त श्री वैष्णवों के इकट्ठे रहने पर उनके बीचमें से एक श्रीवैष्णव यह आत्मा अनादि कालसे किसके द्वारमें किसके पधारने की प्रतीक्षा करती हुई रही है। मालूम नहीं आज प्राप्तशेषी स्वामी के पधारनेको देखता रहा है, कौन से पुण्य का फल है, ऐसा कहने पर नित्य संसारी इस चेतन की भगवद्विषय में रुचि उत्पन्न होनेका कारण क्या है ? ऐसा उनमें विचार होने लगा। यादृच्छिक सुकृत कहने वाले और अज्ञात सुकृत कहने वालों के बीच में 'किडांबितेरुमाल् नाम के स्वामीजी ने कहा है कि हमको भगवद्विषय के सदृश सुकृत देव ऐसा कोई एक देवता आश्रयणकरने योग्य है क्या ऐसा किडांविपेरुमाल् स्वामीजी के कहने पर पिल्लैतिरुनरैयूररैयर' स्वामीजी ने कहा है कि सुकृत कहे जाने वाले श्रीमन्नारायण भगवान ही हैं। श्रीभाष्यकार के समय में श्रीरंगनाथजी के बड़े मण्डप के भीतर स्वामी लोगों ने इकठ्ठा होकर यही वार्ता की है। इसीसे कहा है कि— भाष्यकार के समय में एक दिन श्रीरंगनाथभगवानकेयात्रापर्यन्त देखते हुए बड़े मण्डपके भीतर समस्त ज्ञानाधिकों के इकट्ठे रहने के समय इस अर्थ के प्रस्तुत होने पर

कही हुई वार्ताएँ स्मरण करने योग्य हैं ॥४०८॥

अब प्रबन्धकर्ता पूर्वोक्त अर्थ को समाप्त करते हैं कि—

तस्मादज्ञातानि सुकृतान्येवावलंबनं कुर्वन् कटाक्षते ॥४०९॥

अर्थ—(तस्मात्) उस कारण से (अज्ञातानि) नहीं जाने हुए (सुकृतानि) सुकृतों को (एव) निश्चय करके (अवलंबनम्) इस चेतन को अंगीकार करने के लिए अवलंबन (कुर्वन्) करते हुए ईश्वर विशेष (कटाक्षते) कटाक्ष करते हैं। इसीसे कहा है कि—इस कारण से नहीं जाने हुए पुण्यों को अवलंबन कर कटाक्ष करते हैं ॥४०९॥

अब लोकाचार्यस्वामीजी इस प्रकार नहीं जाने हुए पुण्यों को हेतुकर कटाक्ष करने पर अङ्गीकार सहेतुक नहीं होगा क्या ? इस शंका के प्रसंग में कहते हैं कि—

एतानि च यथा फलितानि भवन्ति तथा खल्विमं प्रथमतः सोऽसृजत् ॥४१०॥

अर्थ—(च) और (एतानि) ये यादृच्छिकादिक सुकृत इस चेतन को (यथा) जैसे (फलितानि) फलित (भवन्ति) होते हैं (तथा) वैसे ही (खलु) निश्चय करके (इमम्) करण कलेवर युक्त इस जीवात्मा को (प्रथमतः) सृष्टि के पहले (सः) उस परमात्मा ने (असृजत्) बनाया है। इसी से कहा है कि—ये भी इसको जैसे फलित होते हैं वैसे ही इस चेतन को पहले बनाया है ॥४१०।

अब जगदाचार्यजी अचित् की तरह रहने की दशा में इस चेतनके उज्जीवन के उपयोगी करण कलेवरों को परम दया से ईश्वर ने दिया है इन बात को अनुसंधान करने पर इस चेतन को क्या होगा, उसको कहते हैं कि—

तन्निरूपितं चेदस्यैकमपि न कर्तव्यमिति वर्तते ॥४११

अर्थ - (तत्) जड़ की तरह रहने के समय में उज्जीवनोपयोगी करण कलेवरों को अत्यन्त दया से माधव भगवान ने दिया है इस बात को (निरूपितम्) इस जीवात्मा ने अनुसंधान किया (चेत्) यदि तो (अस्य)

भगवद्धीनसत्तादिवाले इस चेतनके अपने उज्जीवनके विषयमें (एकम्) एक कोई (अपि) भी (न) नहीं (कर्तव्यम्) करने योग्य कार्य है (इति) ऐसा (वर्तते) वर्तता है। इसीसे कहा है कि—उसको निरूपण करनेपर इस जीवात्मा का कर्तव्य कुछ भी नहीं है ॥४११॥

अब जगद्गुरुजो ईश्वर की सृष्टि से अङ्गीकार के कारण इस चेतन में होनेवाले यादृच्छिकादिमात्र नहीं और भी कई होते हैं, ऐसा दिखाने को या पूर्वोक्त ये सब होने के प्रकार को उपपादन करने के लिये कहते हैं कि—

प्राचीनतया कृष्यते रोप्यते फलतीत्येवं वर्तमाने क्षेत्रे विकीर्णान्यंकुरितानि फलपर्यन्तानीव यथैतानि स्वत एव फलितानि भवन्ति तथा भक्तिकर्षकेण प्राचीनस्यास्य सृष्टिकरणप्रकारः ॥४१२॥

अर्थ— (प्राचीनतया) पहले की तरह (कृष्यते) हल आदिकसे खेतको खोदना (रोप्यते) बोना (फलति) फल लगाना (इति) ऐसा (एवम्) इस प्रकार के (वर्तमाने) रहने पर (क्षेत्रे) खेतमें किसानों के बिना कृषि किये हुये भी (विकीर्णानि) नीचेगिरे हुए धान्य(अंकुरितानि) अपने ही उगकर (फलपर्यन्तानि) फल पर्यन्त के (इव) सदृश (यथा) जैसे (भवन्ति) होते हैं (तथा) वैसे ही (एतानि) ये सब (स्वतः) पूर्वोक्त यादृच्छिकादि बिना ईश्वर के कृषि चेतनके विषयमें आपहा(फलितानि) उत्पन्न होकर फलित होते हैं और (भक्तिकर्षकेण) तेल की धार के समान बीचमें छिन्न-भिन्न नहीं होनेवाली भक्तिके कर्षक परमेश्वर करके (प्राचीनस्य) प्रवाहरूपसे प्रवर्तमान संसार रूप पुराना (अस्य) इस खेतके (सृष्टिकरणप्रकारः) सृष्टि करनेका प्रकार है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि प्रकार किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह लिखा है कि—प्रकारोभेदसादृश्यम् ॥ भेद और सादृश्य को प्रकार कहते हैं। इस प्रकार के पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर होने पर तो फिर से प्रश्न होता है कि सादृश्य किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह लिखा है कि— तद्भिन्नत्वेसति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वं तादृश्यत्वम् ॥ उससे भिन्न हो और उसमें रहनेवाले धर्म से

युक्त हो उसको सादृश्य कहते हैं ॥ इसीसे कहा है कि पहले की तरह हलसे खेत को खोदना बोना, उगाना आदि विशिष्ट खेत में नीचे गिरा हुआ धान्य अपने से जनकर फलपर्यन्त जैसा होता है तैसे ही ये सब आप ही उत्पन्न हो भक्ति कर्षक द्वारा पुराना इस खेत की सृष्टि करने का प्रकार है ॥४१२॥

अब प्रबन्धकर्ता वे कौन हैं इस बात को कहते हैं कि—

तानि कानीति चेत् ॥४१३॥

अर्थ— (तानि) वे (कानि) कौन हैं (इति) ऐसा (चेत्) यदि प्रश्न हो तो इसका उत्तर चार सौ चौदहवें सूत्रमें लिखा है। इसी से कहा है कि— वे कौन हैं ऐसा यदि हो ॥४१३॥

अब लोकाचार्यस्वामीजी चार सौ तेरहवें सूत्र में किये हुए प्रश्न का उत्तर देते हैं कि—

पूर्वं कृतपुण्यापुण्यफलानि चिरकालं भुक्त्वोत्तरकाले वासनामादाय प्रवर्तनयोग्यकार्यशून्यदशायां वयं केऽस्मत्स्थितिः कीदृश्यस्माकमुपरि गन्तव्यं किमिति जायमानाः केचन निरूपणविशेषाः सन्ति ते वा पूर्वोक्तानि वा ॥४१४॥

अर्थ — (पूर्वम्) पहले (कृतपुण्यापुण्यफलानि) के किये हुए पुण्य और पाप रूप कर्म के फलों स्वर्ग नरकादियों में (चिरकालम्) बहुत दिन तक (भुक्त्वा) भोगकर (उत्तरकाले) आगे के काल में (वासनाम्) पहले के कर्म की वासना को (आदाय) लेकर (प्रवर्तनयोग्यकार्यशून्यदशायाम्) पुण्य पाप कर्मोंमें प्रवृत होगा ऐसा कहने योग्य स्वच्छ कर्म हो कर्मफलानुभव में हाथ खींचकर रहने की दशा में (वयम्) हम सब (के) कौन हैं और [अस्मत्स्थितिः] हम सबों की स्थिति [कीदृशी] कौन सी है और [अस्माकम्] हम सबोंके [उपरि] आगे [गन्तव्यम्] जाने योग्य उज्जीवन का मार्ग [किम्] कौन है [इति] ऐसा [जायमानाः] अपने आप उत्पन्न

हुए (केचन) कई (निरूपणविशेषाः) निरूपण विशेष (सन्ति) होते हैं (ते) वे हैं (वा) या(पूर्वोक्तानि वा) पहले कहे हुए यादृच्छिकादिक सुकृत होते हैं। इसीसे कहा है कि—पहले के किये हुए पुण्य और पाप के फलों को चिरकाल भोगकर उत्तर काल में वासना को लेकर प्रवृत होगा ऐसा कहने योग्य हस्तच्युत दशामें हम, कौन, हमारी स्थिति, क्या, हमें आगे जानेका मार्ग कौन ऐसा कई निरूपण विशेष होते हैं ये सब या पहले कहे हुए यादृच्छिक आदिक हैं ॥४१४॥

अब जगद्गुरुजी इस भगवत्के निर्हेतुक विषयीकारके क्रमको शास्त्र में कहा है, इस शंका के सन्दर्भ में कहते हैं कि—

'यथा हि मोषकाः पान्थ' इत्यारभ्यैतस्य क्रमो-भगवच्छास्त्र उक्तः ॥३१५॥

अर्थ—(यथा) जैसे (हि) निश्चय करके (मोषकाः) चोर सब (पान्थे) रास्ते में (इति) इस श्लोकसे (आरभ्य) आरम्भ कर (एतस्य) इस भगवन्निर्हेतुक विषयीकार के (क्रमः) क्रम को (भगवच्छास्त्रे) एक सौ आठ संहिता रूप जो पंचरात्र भगवच्छास्त्र हैं उसमें जो एक अहिर्बुध्न्य नाम की संहिता है, उसमें (उक्तः) श्रीनारदजी से अहिर्बुध्न्य नामक रुद्र ने कहा है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि श्रीनारदजी से अहिर्बुध्न्य नामक रुद्रने क्या कहा है? इस प्रश्नका उत्तर पंचरात्र ग्रन्थकी अहिर्बुध्न्य संहिता के चौदहवें अध्यायमेंस्पष्ट लिखा है कि—**तिरोधानकरी शक्तिः सा निग्रहसमाह्वाया। पुमांसंजीवसंज्ञं सा तिरोभावयति स्वयम् ।१६।** जीवके स्वरूप को ढकने वाली शक्ति को निग्रह शक्ति कहते हैं और वही शक्ति अपने आप जीवात्मा के स्वरूप को ढक देती है। **एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः ॥२८॥ जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ॥२९॥ समीक्षितस्तुदासोऽयं करुणावर्ष-रूपया। कर्मसाम्यंभजत्येव जीवोविष्णुसमीक्षया ॥३२॥ शक्तिभावः स वै जीवमुत्तारयति संसृतेः। कर्मणी च समे तत्र तूष्णीं भावमुपागते ॥३३॥** इस प्रकार के संसार चक्र में स्थित अपने कर्म से

घूमते हुए दुःखाकुल जीव के ऊपर श्रीविष्णु भगवान् की कृपा उत्पन्न होती है ॥ उस कृपा के द्वारा उनके कटाक्ष का विषय हो यह जीवात्मा कर्म के साम्य को निश्चय करके पाती है ॥ वह अनुग्रह नामवाली शक्ति इस जीवात्मा को संसार से उद्धार करती है और तूष्णीं भाव को प्राप्त होने पर दोनों कर्म सम हो जाते हैं ॥ और भी लिखा है कि—

यथा हि मोषकाः पान्थे परिबर्हमुपेयुषि । निवृत्तमोषणोद्योगास्तदा सन्त उदासते ॥३४॥ अनुग्रहात्मिकायास्तु शक्तेः पातक्षणे तदा । उदासाते समीभूय कर्मणी ते शुभाशुभे ॥३५॥ तत्पातान्तरे जन्तुर्युक्तो मोक्षसमीक्षया । प्रवर्तमानवैराग्यो विवेकाभिनिवेशवान् ॥३६॥ आगमाननुसंचिन्त्य गुरूनप्युपसद्यच । लब्धसत्तः प्रकारैस्तैः प्रबुद्धो बोधपालनः ॥३७॥ जैसे बोझे को निश्चय करके चुराने वाले चोर लोग पथिक के प्राप्त होने पर चोरी करने के उद्योगसे तब उदासीन हो जाते हैं । वैसे ही भगवदनुग्रह स्वरूप शक्ति इस चेतन के पास आने पर इसको अपने मार्ग में खींचनेवाले पुण्य और पाप ये दोनों कर्म इसको छोड़कर उदासीन होते हैं । उस अनुग्रहात्मिकाशक्ति के अपने पास आते ही यह चेतन रुचिवाला हो प्रवृत वैराग्यवाले होकर विवेक में आशायुक्त होता है । और शास्त्रों को अच्छे प्रकार से चिन्तवन कर सदाचार्य का समाश्रयण कर सत्ता को प्राप्त हो ज्ञान को प्राप्त हो, उस ज्ञान की रक्षा करते हुए सारग्राही हो उचित उपाय को स्वीकार कर संसार से पार होकर परम पद को प्राप्त करता है ॥ इसीसे कहा है कि जैसे निश्चय करके चोर सब रास्ते में पथिक प्राप्त होने पर यहाँ से आरम्भ कर इस भगवन्निर्हेतुक विषयीकारके क्रमको नारदपंचरात्र में कहा है ॥४१५॥

अब प्रबन्धकर्त्ता निर्हेतुक विषयीकार के साक्षात्पात्रभूत आप्ततम अग्रेसर दिव्य सूरि श्रीशठकोप स्वामीजी की सूक्ति को कहते हैं कि—

"अकाण्डमेव कृपां करोति" इत्यमुमर्थं स्पष्टमवोचत् ॥४१६॥

अर्थ— (अकाण्डम्) निर्हेतुक (एव) ही निश्चय करके श्रीमन्नारायण

भगवान् इस चेतन के ऊपर (कृपाम्) दया को (करोति) करते हैं (इति) ऐसा (अमुम्) इस निर्हेतुक विषयीकार रूप (अर्थम्) रहस्यार्थ को (स्पष्टम्) संशय विपर्यय रहित सब लोग जैसे जाने वैसे स्पष्टतया (अवोचत्) श्रीशठकोप स्वामीजी ने कहा है। इसीसे कहा है कि—निर्हेतुक ही कृपा करते हैं, ऐसा इस अर्थको स्पष्टतया कहा है ॥४१६॥

अब जगदाचार्यजी उस दिव्य सूक्ति के अनन्तर सूक्ति में अभिप्राय को नहीं जाननेवालों की शंका को अनुवाद कर परिहार करते हैं कि—

"कुर्वताम्" इति कृपाया हेतुः सुकृतमित्युक्तिर्नास्ति किमिति चेद् "अकाण्डमेव" इत्यस्य विरोधः भगवदाभिमुख्यं सुकृतेन जायते ॥४१७॥

अर्थ—(कुर्वताम्) करनेवालों के (इति) ऐसी (कृपायाः) कृपा का (हेतुः) कारण (सुकृतम्) सुकृत है (इति) ऐसा (उक्तिः) वचन (न) नहीं (अस्ति) है (किम्) क्या (इति ऐसा (चेत्) यदि प्रश्नहो तो (अकाण्डम्) निर्हेतुक (एव) ही (इति) ऐसा जो चार सौ सोलहवें सूत्रमें पद है अस्य) इस पद का (विरोधः) विरोध होगा और (भगवदाभिमुख्यम्) अनादि काल से विमुख हुआ यह चेतन भगवद्विषय में जो अभिमुख होता है सो (सुकृतेन) चेतन के सुकृत से (न) नहीं (जायते) उत्पन्न होता है। इसी से कहा है कि—करनेवालों की ऐसी कृपा का हेतु सुकृत है ऐसी उक्ति नहीं है क्या इस शंका में तो निर्हेतुक यह पद सगत नहीं हो सकता है और भगवदाभिमुख्य चेतन के सुकृत से नहीं उत्पन्न होता है।।४१७॥

अब प्रबन्धकर्त्ता आभिमुख्यका भगवत्कृपा कारण है और अद्वेषका सुकृत कारण है ऐसा समझकर कहनेवालोंके वाक्यका अनुवाद करते हैं।

किन्तु भगवत्कृपया, अद्वेषः सुकृतेनेति चेत्तस्य फलविशेषस्य तत् कारणमिति वक्तुं नाशक्यते ।४१८।

अर्थ—(किन्तु) लेकिन (भगवत्कृपया) भगवान् की निर्हेतुक कृपा से (अद्वेषः) भगवत् को अद्वेष उत्पन्न होता है (सुकृतेन) अद्वेष इस चेतन के सुकृत से उत्पन्न होता है (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो तो (तस्य) उस

(फलविशेषस्य) आत्मोज्जीवन का अंकुर भगवत् उद्वेग रूप महाफल विशेष का (तत्) वह अति क्षुद्र यादृच्छिकादिक सुकृत (कारणम्) कारण है (इति) ऐसा (वक्तुम्) कहने के लिये (न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकते हैं। इसीसे कहा है कि— लेकिन भगवत्कृपा से अद्वेष होता है, सुकृत से उत्पन्न होता है ऐसा कहने पर उस फल विशेष का वह सुकृत कारण है ऐसा कहने के लिये नहीं समर्थ हो सकते हैं ॥४१८॥

अब जगद्गुरुजी शास्त्र में विहित न हो चेतन से ज्ञात न होनेवाले इस यादृच्छिकादिका सुकृत नाम परमात्मा रखे हैं। इस बात को कहते हैं कि—

शास्त्राविहितस्यास्मदज्ञातस्य सुकृतमित्यस्माभिर्नाम कथं क्रियते इति चेन्न वयमीश्वर इति श्रुतम् ।४१९।

अर्थ – (शास्त्राविहितस्य) शास्त्र में नहीं विधान किया हुआ तथा (अस्मत्) हमारे से भी (अज्ञातस्य) नहीं जाने हुए यादृच्छिक आदिक का (सुकृतम्) सुकृत (इति) ऐसा (अस्माभिः) हम सब (नाम) नाम (कथम्) कैसे (क्रियते) कर सकते हैं (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहा तो (वयम्) इसका सुकृत नाम रखने वाले हम सब (न) नहीं हैं। बल्कि (ईश्वरः) सर्व मुक्ति प्रसंग होनेके लिये परमेश्वरने सुकृत ऐसा नाम रखा है (इति) ऐसा (श्रुतम्) तत्त्वदर्शी आचार्यों के मुख से हम सबने सुना है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर इस निर्हेतुक विषयीकार रूप अर्थ को आचार्यों ने कहा है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "अकांडमेवकृपां करोति" निर्हेतुक भगवत् कृपा करते हैं। इस गाथा में श्रीशठकोपाचार्य स्वामीजी ने निर्हेतुक विषयीकार रूपइस अर्थ को स्पष्ट कहा। इसीसे कहा है कि शास्त्र विधान रहित और हमसे न जाना हुए इसका सुकृत ऐसा नाम हम कैसे रख सकते हैं, इस शंका में हमने नहीं ईश्वर रखा है ऐसा सुना है ॥४१९॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी निर्हेतुक विषयीकार रूप इस अर्थ के विषय में दिव्यसूरियों को गाथाओं में अन्योन्य विरुद्ध की तरह भान होने वाले का परिहास इस अर्थ के स्थापन करने के लिए अवश्य कहने योग्य प्रमाण तर्कों को इस स्थल में नहीं कहने के कारण को कहते हैं कि—

एतदर्थविषयतया दिव्यसूरीणां गाथासु परस्पर-विरोध इव भासते तत्र वक्तव्यान् परिहारानन्यांश्च वक्तव्यान् विस्तरभयान्न वदामः ॥४२०॥

अर्थ—(एतदर्थविषयतया) निर्हेतुक विषयीकार रूप इस अर्थ के विषय में (दिव्यसूरीणाम्) सर्वज्ञ दिव्यसूरियों की (गथासु) भगवदंगीकार के प्रकाशक गाथाओं में अर्थात् "अकाण्डमेव कृपा करोति" निर्हेतुक कृपा करते हैं "किं पुण्यमकरवम्" क्या पुण्य मैंने किया है "मम हृदये भाति" हमारे हृदय में प्रकाशमान होते हैं "तिरुमालिरुंशोलैमलैइत्यवदम्" सुन्दर वाहु पर्वत का नाम कहा है " माधव इत्युक्तिमेवादाय" माधव इस उक्ति मात्रको लेकर 'समीचीनधर्मं न कृतवान्' अच्छा धर्म मैंने नहीं किया "बहुजन्मव्रतमकरवम्" बहुत जन्मोंमें मैंने व्रत किया है। "अहंकेन तपसा पश्यामि" हम किस तपस्यासे देखेंगे "अहमेव तपः कृतवान्" मैंने ही तपस्या की है" इत्यादियों से भगवदंगीकार हेतु एक भी अपने पास नहीं है ऐसा कहना अपने पास कुछ है ऐसा कहना इस तरह की गाथाओं के अभिप्राय को नहीं जाननेवालोंको (परस्परविरोधः)आपसमें विरुद्ध की (इव) तरह (भासते) भासमान होता है। तत्र) उनमें (वक्तव्यान्) कहे जानेवाले (परिहारान्) परिहारों को (च) और (अन्यान्) इस निर्हेतुकता की स्थापन करने के लिए अन्य (वक्तव्यान्) अवश्य कहने योग्योंको भी (विस्तारभयात्) विस्तार के डर से (न) नहीं (वदामः) कहते हैं। अब इस चार सौ बीसवें सूत्र में यह प्रश्न होता है कि—कहे जाने वाले परिहार कौन से हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—"माधव" "पर्वत" ये व्यावृत्ति उक्तिमात्र होने से उनको आरोपण कर ऊपर आकर गिरने वाली भगवत् कृपा ही अंगीकार का हेतु नही हैं यह बात सिद्ध है। और बहुत जन्मों में भी व्रत किया है इसका अर्थ यह है कि बहुत जन्म लेने के लिए मैंने व्रत किया है। तथा महीनों तपस्या की है इसका अर्थ यह है कि सुन्दर द्राविड़माला चरणारविन्दों में कहने का भाग्यवाला हूँ। ये ही कहे जानेवाले परिहार हैं। इस प्रकार के पहले प्रश्न का उत्तर होने पर दूसरा प्रश्न होता है कि इस निर्हेतुकताके स्थापन करने के लिये अन्य अवश्य कहने योग्य कौन से हैं ? इस प्रश्न का उत्तर नारदपंचरात्र की

अहिर्बुध्न्य संहिताके चौदहवें अध्याय में लिखा है कि— **एव संसृति-भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः ॥२८॥ जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ॥२९॥ निर्हेतुककटाक्षेण मदीयेन महामते । आचार्य-विषयीकारात्प्राप्नुवन्तिपरां गतिम् ॥ नासौपुरुषकारेण नचाप्यन्येन हेतुना । केवलं स्वेच्छयैवाहं प्रेक्ष्ये कंचित्कदाचन ॥** इस प्रकार संसार चक्रमें स्थित दुःख से व्याकुल हो घूमनेवाले चेतन के ऊपर विष्णु की निर्हेतुक कृपा उत्पन्न होती है ॥ हे महामते हमारे निर्हेतुक कटाक्षसे होनेवाले आचार्य विषयीकारसे परगति को प्राप्त होते हैं ॥ मैं पुरुषकार से या और किसी हेतुसे भी कटाक्ष नहीं करता हूँ ॥ ये सब प्रमाण केवल अपनी इच्छा से ही कभी किसी पर कटाक्ष करता हूँ अवश्य कहने योग्य है। इसीसे कहा है कि —इस अर्थ के विषय में दिव्यसूरियोंकी गाथाओं में परस्पर विरुद्ध की तरह भासता है। उनमें कहे जानेवाले परिहारोंको और अन्य भी अवश्य कहो योग्यों को विस्तारपूर्वक कहते हैं ॥ ४२० ॥

अब प्रबन्धकर्त्ता ईश्वर इस चेतन के उज्जीवन के लिये विमुख दशा में भी कृषि करते हैं, इस बातको विस्तारपूर्वक कहते हैं, उसी को समाप्त करते हैं कि—

तस्मादस्य विमुखदशायामप्युज्जीवनार्थं कृषिं कुर्वाण ईश्वरेऽनुसंहिते सदा निर्भरस्तिष्ठेत् ॥४२१॥

अर्थ —(तस्मात्) इस कारण से (अस्य) इस चेतन की (विमुखदशायाम्) अपने विषय में विमुख होने की अवस्था में (अपि) भी (उज्जीवनार्थम्) चेतन के उज्जीवन के लिए (कृषिम्) कृषि को (कुर्वाणे) करनेवाले (ईश्वरे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा का (अनुसंहिते) अनुसन्धान करने पर एवं भूत वह परमेश्वर हमको ऐसा बना कर कर्मानुसार संसारी नहीं बनावेगा। ऐसा भगवत् के गुण में विश्वास करके (सदा) हमेशा (निर्भरः) निर्भर हो (तिष्ठेत्) रह सकता है। इसी से कहा है कि इस कारण से इसकी विमुख दशा में भी उज्जीवन के लिये कृषि करनेवाले ईश्वर का अनुसन्धान करने पर हमेशा निर्भर हो रह सकता है ॥ ४२१ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार पहले कहे हुए अर्थ में विश्वास होने के लिये दिव्यसूरि श्रीशठकोप स्वामीजी के अनुसन्धान विशेष को कहते हैं कि—

"अग्रे व्यापने प्रविश्य" एकं ग्रहीतुं विचार्य यथा ग्रामं रुन्धन्ति तथा व्याप्तिरपि सृष्ट्यवतारादिवत्स्वार्थमिति हि ज्ञानाधिकानामनुसन्धानम् ॥४२२॥

अर्थ—(अग्रे) सामने (व्यापने) व्याप्ति में (प्रविश्य) पैठ कर (एकम्) एक आदमी को (ग्रहीतुम्) पकड़ने के लिये (विचार्य) विचार कर (यथा) जैसे (ग्रामम्) उस आदमी के गाँव को (रुन्धन्ति) घेरते हैं (तथा) वैसे ही (व्याप्तिः) एक आत्मा को वश करने के लिये सपूर्ण जड़ चेतन में ईश्वर की व्यापकता (अपि) भी है (सृष्ट्यवतारादिवत्) सृष्टि और अवतारादियों की तरह (स्वार्थम्) अपने लिये (इति) ऐसा (हि) निश्चय करके (ज्ञानाधिकानाम्) ज्ञानाधिक दिव्यसूरि श्रीशठकोप स्वामी जी का (अनुसन्धानम्) अनुसन्धान किया हुआ है। इस चार सौ बाईसवें सूत्र में जो 'सृष्ट्यवतारादिवत्' यह पद है उसमें आदि शब्द से गुण और चेष्टित आदिक को समझना। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि कहाँ पर श्रीशठकोप स्वामी जी ने सृष्टि को और अवतारों को अपने लिये अनुसन्धान किया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "त्रिविधनीरभूमौ" इस दशक की पहली गाथा में सृष्टि को अपने लिये और दूसरी तथा तीसरी गाथाओं में अवतारों को अपने लिये श्रीशठकोपस्वामी जी ने अनुसन्धान किया है। इसी से कहा है कि—सामने रोक कर एक आदमी को पकड़ने का विचार कर जैसे गाँव को घेरते हैं वैसे ही ईश्वर की व्याप्ति भी है। सृष्टि और अवतारादियों की तरह अपने लिये ही ऐसा ज्ञानाधिक लोग अनुसन्धान करते हैं ॥४२२॥

अब जगदाचार्य जी यह कहते हैं कि कर्म फल की तरह कृपा का फल भी अवश्य अनुभव करने योग्य होता है।

कर्मफलवत्कृपाफलमप्यनुभाव्यमेव ॥४२३॥

अर्थ—(कर्मफलवत्) अपने किये हुए पुण्य और पापरूप कर्म का फल जैसे अवश्य अनुभव करने योग्य होता है वैसे ही (कृपाफलम्) नित्य

सूरियों के साथ समान भोग भागी बनाने के हेतु निर्हेतुक भगवत्कृपा का फल (अपि) भी (एव) निश्चय करके अवश्य (अनुभाव्यम्)अनुभोग करने योग्य होता है। इसीसे कहा है कि—कर्मफल की तरह कृपाफल भी अवश्य अनुभोग करने योग्य होता है ॥४२३॥

अब जगद्गुरु जी इस प्रकार कृपा अनादिकाल से होने पर भी कर्म को करने वाले चेतन और कर्म फल को देनेवाले ईश्वर इन दोनों के स्वातंत्र्य से रुकी रही अब आगे भी ऐसे ही रुक गयी तो क्या होगा इस शंका में कहते हैं कि—

कृपानिःसरति चेदुभयोरपि स्वातंत्र्येण तथा निरोद्धुं न शक्यते तथोभयकूलमप्युपमर्द्य प्रवहति ॥४२४॥

अर्थ—(कृपा) कृपा (निःसरति) बहने पर (चेत्) तो (उभयोः) जीव और ईश्वर इन दोनों के (अपि) भी (स्वतंत्र्येण)स्वातंत्र्य से (यथा) जैसे (निरोद्धुम्) रोकने के लिये (न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकते हैं (तथा) वैसे ही (उभयकूलम्) स्वातंत्र्य रूप दोनों किनारों को (अपि) भी (उपमर्द्य) तोड़कर (प्रवहति) ऊपर ऊपर अधिक बहती है। इसी से कहा है कि—कृपा बहने पर दोनों के स्वतंत्र्य से भी जैसे न रोकी जाय तैसे दोनों किनारों को तोड़कर अधिक बहती है ॥४२४।

अब प्रबन्धकर्त्ता भय और अभय के हेतु को कहते हैं कि—

भयहेतुः कर्म, अभयहेतुः कारुण्यम् ॥४२५॥

अर्थ (भयहेतुः) ईश्वर ही उपाय और उपेय हैं ऐसे रहने वाले अधिकारी को और भी संसार अनुवर्तन करे तो क्या किया जाय ऐसा अनादिकाल संसार के भय का कारण (कर्म) अपने कर्म का स्मरण है। और (अभयहेतुः) संसार हमारे पर्यन्त नहीं आ सकेगा इस देह के छूटने पर भगवत्प्राप्ति में संदेह नहीं है, ऐसा निर्भय होने का कारण (कारुण्यम्) कर्म को न देख कर अंगीकार कर संसार की जड़ काटकर अपने चरणों में मिला लेने के उपयुक्त भगवत् के निर्हेतुक कारुण्य का स्मरण है। इसी से कहा है कि—डर का कारण कर्म है और निडरता का कारण कारुण्य है ॥४२५॥

अब जगदाचार्य जी भय और अभय ये दोनों इस चेतन को कहाँ

तक रहेंगे इस बात को कहते हैं कि—

भयाभयोभयमपि पर्यायेण प्राप्तिपर्यन्तं स्यात् ॥४२६

अर्थ—(भयाभयोभयम्) भय और अभय ये दोनों (अपि) भी (पर्यायेण) क्रम से इस चेतनको (प्राप्तिपर्यन्तम्) भगवत् प्राप्ति होने पर्यन्त (स्यात्) रहेंगे। इसीसे कहा है कि–डर और निडरता ये दोनों भी क्रमसे प्राप्ति पयन्त रहगे ॥४२६॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी इस प्रकार भय और अभय दोनों भी पर्याय से प्राप्ति पर्यन्त क्यों रहेंगे ? भगवत् के गुणों के विश्वाससे हमेशा निर्भय नहीं रह सकते हैं क्या ? इस शंका के सन्दर्भ में कहते हैं कि—

निवर्त्यज्ञानं भयहेतुः निवर्तकज्ञानमभयहेतुः ।४२७।

अर्थ – (निवर्त्यज्ञानम्) भगवत् के कारुण्य से निवृत होने योग्य अविद्या, कर्म, वासना, रुचि, प्रकृति सम्बन्ध, ज्ञान (भयहेतुः) और भी संसार अनुवर्तन करेगा तो क्या किया जायगा, ऐसा डरका कारण है और

अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ भगवद्गी०अ० १८ श्लो० ६६ ॥ मैं तुझे सब पापों से छुड़ाऊँगा, तू शोक मतकर ॥ ६६ ॥

ऐसा कहने वाले सर्वेश्वर के (निवर्तकज्ञानम्) निवर्तक कारुण्य विषय का ज्ञान (अभयहेतुः) निर्भय होने का कारण है। इसीसे कहा है कि— निवर्त्यज्ञान भय हेतु है और निवर्तक ज्ञान अभय हेतु है ॥ ४२७ ॥ इति श्रीवचनभूषणे भगवन्निर्हेतुककृपावैभवनाम पंचमप्रकरणे निर्हेतुक कृपावैभवः समाप्तः ॥

॥इति श्रीवचनभूषणे भगवन्निर्हेतुक कृपावैभवनाम पञ्चमप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ अथ आचार्योपायवैभवनामषष्ठप्रकरणम् ॥

॥ अथ आचार्योपायवैभवनामषष्ठप्रकरणे चरमप्राप्यप्रापकवैभवः ॥

अब श्रीमल्लोकाचार्यस्वामीजी कहते हैं कि— **स्वतंत्रस्योपायत्वेना श्रयणकाले एव खल्वयं प्रसंगोऽस्ति ॥ श्रीवचनभू० सू० ४२८ ॥** इस सूत्र से लेकर—अयं प्रथमं स्वरूपं पल्लवितं करोति पश्चात्

पुष्पितं करोति अनन्तरं फलपर्यन्तं करोति ॥ श्रीवचन भू०सू०४८४॥

इस प्रबन्ध की समाप्ति सूत्रपर्यन्त आचार्योपायवैभवनामके छठवें प्रकरण को कहा है, उसमें पहले चरम प्राप्यप्रापक साबित करने के लिये यह कहते हैं कि स्वतंत्रको उपायतया आश्रयण करने पर निश्चय करके भय और अभय का प्रसंग होता है।

स्वतंत्रस्योपायत्वेनाश्रयणकाले एव खल्वयं प्रसंगोऽस्ति ॥४२८॥

त्रिदण्डहस्तं सितयज्ञसूत्रम् काषायवस्त्रं लसदूर्ध्वपुंड्रम् । रथाङ्ग-शंखाङ्कितबाहुमूलम् रामानुजार्यं शरणं प्रपद्ये ॥१॥

अर्थ—(स्वतंत्रस्य) कर्मके अनुसार संसारी बनाना और कारुण्यानुगुण संसार से अलग कर श्रीचरणों में मिला लेना इन दोनों के समर्थ निरंकुश स्वतंत्र परमात्मा को (उपायत्वेन) इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति के उपायतया (आश्रयणकाले) आश्रयण करने के समय में (एव) ही (खलु) निश्चय करके मोक्ष तक (अयम्) भय और अभय ये दोनों बराबर होते रहेंगे यह (प्रसंगः) प्रसंग (अस्ति) होता है। इसी से कहा है कि स्वतंत्र को उपायतया आश्रयण करने पर निश्चय करके भय और अभय का प्रसंग होता है ॥४२८॥

अब प्रबन्धकर्त्ता प्रमाण से प्रमेय का अर्थ निश्चय होता है, पूर्वोक्त इस अर्थ को किससे निश्चय करते हैं इस आकाँक्षा में कहते हैं कि—

भोजनकाले एकां वार्तां भोजनाभावकाले एकां वार्तां च वदन्तो दश सन्ति हि तेषां गाथा आदायार्थो न निश्चीयते ॥४२९॥

अर्थ—(भोजनकाले) अज्ञान निवृत्तिपूर्वक अत्यन्त आनन्द प्राप्त भगवदनुभवैकधारक दिव्यसूरियोंके भगवदनुभवरूप भोजन करने के समय में (एकाम्) एक (वार्ताम्) बात को (वदन्तः) कहने वाले (दश) दस

(सन्ति) हैं (च) एक (वार्तामि) बात को कहने वाले (हि) निश्चय करके दस हैं (तेषाम्) उन दिव्यसूरियों की (गाथाः) गाथाओं को (आदाय) लेकर (अयम्) आचार्य ही उपायहैं यह (अर्थः) अर्थ (न) नहीं (निश्चीयते) निश्चय करते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि किस किस गाथा में दिव्यसूरि लोग परमात्मा की अपेक्षा उनके भक्त हौ शेषी और उपायोपेय भूत भी हैं ऐसा अत्यादर पूर्वक कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह लिखा है कि —**प्रतिजन्मावकाशं मां दासत्वेन स्वीकुर्वन्तः परमाः ॥** प्रतिजन्मावकाश में हमारे दास्य स्वीकार करने के योग्य स्वामी हैं॥ **प्रतिदिनं प्रतिजन्मावकाशमस्मान् दासत्वेन स्वीकुर्वन्तो नाथाः सर्वदास्मान् रक्षन्त उपकारकाः ॥** प्रतिदिन प्रतिजन्मावकाश में हम सबों को दास्य स्वीकार करने योग्य स्वामी हमेशा हम सबों को रक्षा करनेवाले उपकारक मालिक हैं ॥**अपर्याप्ति अस्मान् दासत्वेन स्वीकृत्य जन्मान्तरेषु रक्षन्तः ॥** आयास बिना हम सबों को दासतया स्वीकार कर जन्म जन्मान्तरों में रक्षा करेंगे ॥ **उज्जीवयन्तो विश्वसनीयाः ॥** और (भोजनाभावकाले) भगवत् के अलाभरूप भोजन के अभाव समय में (एकाम्) उज्जीवित करने वाले विश्वास करने योग्य हैं ॥ **जन्मजन्मन्यपकृष्टकुलोत्पन्ना अपि ॥** जन्म-जन्म में नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी ॥**तदासा लघुमहामनुष्या मां दासत्वेन स्वीकुर्वन्तोऽत्रसंचरन्ति रक्तकमलसदृशनेत्रयुक्तश्रीवामनस्यात्यन्तपरिमलयुक्तसद्योविकसितकमलचरणयोरधस्तात्प्रवेशस्तत्सदृशः किं पापिष्ठस्य मम ॥** उसके दास लघु महा मनुष्य हमको स्वीकार करते हुए यहाँ पर संचार करते हैं तो लाल कमल की तरह आँख से युक्त श्रीवामन भगवान के पराग से भरे हुए तुरन्त के खिले हुए सुन्दर कमल के समान चरणारविन्दों के नीचे प्रवेश करना होगा पापी मेरे को क्या ॥ **चिन्तनोपयुक्त मनस्कास्त एव मम स्वामिनः ॥** जो लोग उनको स्मरण करते हैं वे ही लोग मेरे स्वामी हैं॥ **ज्ञानस्य प्रकाशमानस्वरूपं चिन्तयन्तो नायकाः ॥** ज्ञान के

प्रकाशमान स्वरूप को स्मरण करने वाले हमारे मालिक हैं। **आदरेणाश्रयत आश्रयसमीचीन हृदय ॥** आदर से सेवा करने वालों की सेवा करो हे समीचीन हमारे हृदय ॥ **महापुरुषस्य नामोचारयतो महतः कदापि विश्लेषयितुं न शक्तोऽस्मि ॥**परमात्मा के नामोच्चारण करने वाले महात्माओं को कभी भी नहींछोड़ सकता हूँ ॥ **नेत्राभ्यां सभ्यग्दृष्टवा हस्ताभ्यामाश्रयतो यदा चिंतयति तदा पापं न तिष्ठति ॥** आँखों से अच्छे प्रकार देखकर दोनों हाथों से सेवा करने वालों को चिन्तवन करने से पाप नहीं ठहरता है ॥ **गोष्ठी दृष्टा चेदिदमेव युष्माकं नेत्रयोः फलम् ॥** यदि गोष्ठी देखा तो यही हम सबों की दोनों आँखों का फल है ॥ **भक्तचरणरजोऽवगाहने प्राप्ते गङ्गाजलस्नानानुरागेण किम् ॥** भक्तों के चरण की धूलि में स्नान कर पावे तो गंगाजल में स्नान करने से क्या ॥ **आनंदपूर्णभक्तरक्तचरणौस्तुत्वा बर्द्धयतिमन्मनः ॥** आनन्द से भरे हुए भक्तों के लाल चरणों की स्तुति करके मेरा मन बढ़ता है ॥ इन गाथाओं में दिव्यसूरि लोगों ने परमात्मा की अपेक्षा उनके भक्त ही हमारे शेषी और उपायोपेय भी हैं ऐसा अत्यन्त आदर से कहा है। इसी से कहा है कि—भोजन करते समय में एक वर्ता, नहीं भोजन करते समय में एक वार्ता कहने वाले दस हैं उनकी गाथाओं को लेकर इस अर्थ को नहीं निश्चय करते हैं ॥४२९॥

अब जगद्गुरुजी दस दिव्यसूरियों के वचन को लेकर आचार्य ही उपाय हैं इस अर्थ को नहीं निश्चय करते हैं, तो किसके वचन को लेकर निश्चय करते हैं इस आकांक्षा में कहते हैं कि—

तान् विहस्य तिष्ठति खल्वेकस्तस्य गाथामादायामुमर्थं निश्चिनुमः ॥४३०॥

अर्थ—(तान्) उन भूतयोगी १ सरोयोगी २ महायोगी ३ श्रीभट्टनाथ योगी ४ श्रीभक्तिसारयोगी ५ कुलशेखरयोगी ६ योगी वाहयोगी ७ भक्तांघ्रिरेणुयोगी ८ परकालयोगी ९ श्रीपरांकुशमुनियोगी १० को पहले एक आचार्य के चरणों का आश्रयण कर सर्वदा सुखी न हो अपने सौन्दर्य से पागल बनानेवाले भगवद्विषय में पहले से ही अवगाहन कर उनको अनुभव-दशा में एक कहना अलाभ दशा में एक कहना ऐसा ये दिव्यसूरि लोग क्लेश पाते हैं, ऐसा समझकर आश्चर्ययुक्त हो (विहस्य) विहँस कर (तिष्ठति) रहते हैं (खलु) निश्चय करके (एकः) एक श्रीमधुरकवि स्वामीजी (तस्य) उस श्रीमधुरकविस्वामीजी के (गाथाम्) गाथारूप ग्रन्थिपूर्ण अल्परज्जु "कण्णिनुण शिरुताम्बु" प्रबन्धको (आदाय) लेकर आचार्य ही उपायोपेय हैं। (अमुम्) इस (अर्थम्) अर्थको (निश्चिनुमः) संशयविपर्यय रहित निश्चय करते हैं। क्योंकि अपनी गाथा में श्रीमधुर-कवि स्वामीजीने कहा है कि तस्यस्पृहणीयचरणौ निरन्तरमाश्रितः ॥ उन आचार्य श्रीशठकोपसूरि के स्पृहणीय श्रीचरणों को ही उपाय और उपेय समझकर आदर किया है ॥ अन्यं देवं न जानामि ॥ अन्य देवताओं को नहीं जानता हूँ इसीसे कहा है कि —उनको हँसनेवाले एक श्री मधुर कवि स्वामीजी हैं उनकी गाथा को लेकर इस अर्थ को निश्चय करते हैं ॥४३०॥

अब श्रीवचनभूषणकार इस प्रकार प्रमाण से सिद्ध अर्थ को उचि न्याय से स्थिर करते हैं कि—

स्वरूपस्य प्राप्यस्य चानुरूपः स्यात् खलु प्रापकः ।४३१॥

अर्थ—(स्वरूपयस्य) स्वरूपके (च) और (प्राप्यस्य) प्राप्यके (अनुरूपः) सदृश (खलु) निश्चय करके (प्रापकः) उपाय (स्यात्) होना चाहिये। अर्थात् भगवदनन्यार्हशेषत्व ही स्वरूप है और इस स्वरूपके दृश प्राप्य भी अपने आचार्य चरणोंमें क्रियमाण कैंकर्य है। इस प्रकार स्वरूप और प्राप्य निश्चय होने से दोनोंके सदृश अपने आचार्यका चरण युगल होना चाहिये। इसीसे कहा है कि स्वरूप और प्राप्य के सदृश हो प्रापक होना चाहिये ॥४३१॥

अब जगदाचार्यजी पूर्वोक्त अर्थ के विषय में एक एतिह्य को कहते हैं कि—

आंध्रपूर्णः कूरेशं दाशरथिं चोभयकूलस्थाविति वदति ॥४३२॥

अर्थ—(आंध्रपूर्णः) श्रीशठकोपसूरिजी के चरणों में श्रीमधुरकवि स्वामीजी जैसे रहे थे वैस प्राप्य और प्रापक दोनों रामानुज स्वामीजो के चरण ही हैं, ऐसा विश्वास कर अन्य देवता को मैं नहीं जानता हूँ, ऐसे रहनेवाले अत्यन्त ज्ञानी आंध्रपूर्ण स्वामीजी (कूरेशम्) रामानुजस्वामीजी के पैरकी छाया और पैर की रेखाकी तरह अधीनावृत होकर श्रीरामानुज स्वामीजी के वंशमें होकर कैंकर्य करूँगा। ऐसा उपायोपेय श्रीरामानुज स्वामीजी के चरण और उन चरणों में क्रियमाण कैंकर्य ही है। ऐसा समझकर रहनेवाले श्रीकूरेशस्वामोजी को (च) और (दाशरथिम्) श्री दाशरथिस्वामीजी को (उभयकूलस्थौ) चरमावधि और प्रथमावधिमें हाथ रखने वाले उभयकूलस्थ हैं (इति) ऐसा (वदति) कहते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि आंध्रपूर्ण स्वामीजीने श्रीकूरेशस्वामीजीको और दाशरथिस्वामीजी को क्यों उभयकुलस्थ कहा है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—श्रीकूरेशस्वामीजी और दाशरथिस्वामीजी इन दोनों ने कभी एक समय में संसार के ताप से अत्यन्त दुःखित होकर भगवत् की सन्निधिमें जाकर प्रार्थना की। और भगवत् के सौन्दर्यादिकोंको देखकर प्रवण हो गये। केवल आचार्यके चरण ही प्राप्य और प्रापक हैं ऐसा नहीं समझा। इसीसे श्रीकूरेशस्वामीजो को और श्रीदाशरथि स्वामीजी को श्रीआंध्रपूर्ण स्वामीजी ने उभयकुलस्थ कहा है! इसी से कहा है कि—आंध्रपूर्ण कूरेश और दाशरथिजी को उभयकुलस्थ कहते हैं ॥४३२॥

अब प्रबन्धकर्ता प्राप्यके स्वरूप को कहते हैं कि—

प्राप्यस्य प्रथमपर्व आचार्यकैंकर्यं मध्यम पर्व भगवत्कैंकर्यं चरमपर्व भागवतकैंकर्यम् ॥४३३॥

अर्थ (प्राप्यस्य) शेषत्वैकनिरूपणीय आत्मवस्तु का पुरुषार्थभूत कैंकर्यरूप प्राप्य का (प्रथमपर्वः) पहला अंश (आचार्यकैंकर्यम्) आचार्यका कैंकर्य है और (मध्यमपर्वः) मध्यमअंश (भगवत्कैंकर्यम्) भगवानका कैंकर्य है तथा (चरमपर्वः) अन्तिम अंश (भागवतकैंकर्यम्) भागवतोंका

कैंकर्य है। इसीसे कहा है कि प्राप्यका पहला पर्व आचार्यकैंकर्य, मध्यम पर्व भगवत्कैंकर्य, चरमपर्व भागवत कैंकर्य हैं ॥४३३॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी इस प्रकार आचार्यकैंकर्य ही चरमपर्व है ऐसा शास्त्र से नहीं कहने पर भी यह कैसा हो सकता है, इस शंका में कहते हैं कि—

स्वरूपप्राप्तिं शास्त्रेषु पुरुषार्थत्वेन वदति यथा प्राप्तिफलतया कैंकर्यमागच्छति तथा साध्यविवृद्धित्वेन चरमपर्व आगच्छति ॥४३४॥

अर्थ—(स्वरूपप्राप्तिम्) अपने असाधारण आकार की आविर्भावरूप प्राप्ति को (शास्त्रेषु) वेदान्तशास्त्रमें (पुरुषार्थत्वेन) पुरुषार्थतया (वदति) कहने पर (यथा) जैसे (प्राप्तिफलतया स्वरूप प्राप्ति के फलरूप से भगवदनुभव जनित प्रीति से (कैंकर्यम्) होनेवाला कैंकर्य (आगच्छति) आता है (तथा) वैसे ही (साध्यविवृद्धित्वेन) शेषीभूत भगवान का स्वविषयकिंचित्कार की अपेक्षा स्वभक्त विषयकिंचित्कार संतोषजनक होने से उस भगवत्कैंकर्यरूप साध्य का वृद्धिरूप होकर मध्यपर्व भूत भागवत कैंकर्य आता है और उन सम्पूर्ण भागवतों के अपने विषय कैंकर्य की अपेक्षा अपने उपकारक आचार्य विषय में कैंकर्य ही सन्तोषजनक होने से उस साध्यका विशेष वृद्धिरूप होकर (चरमपर्व) चरमपर्वभूत आचार्य कैंकर्य (आगच्छति) आता है। अब यहाँ पर पहला प्रश्न यह होता है कि कहाँ पर लिखा है कि परज्योतिको पाकर अपने रूपसे प्रकट होता है? इस प्रश्नका उत्तर वेदान्त शास्त्र में लिखा है कि—

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ वे० अ० ४ पा० ४ सू० १ ॥

परज्योतिको पाकर अपने रूप से प्रकट होता है शब्द प्रमाण होने से, वह शब्द यह है कि— **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते ॥ छां० उ० प्र० ८ खं० १२ मं० २ ॥** पर ज्योतिको प्राप्त होकर अपने रूप से प्रकट होता है ॥ इस प्रकारके पहले प्रश्नका उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि पुरुषार्थ किसको कहते हैं और वह कितने प्रकार का होता है? इस प्रश्नका उत्तर अर्थपञ्चक में लिखा है कि

पुरुषेणार्थनीयः पुरुषार्थनीयः पुरुषार्थः स च धर्मार्थकामात्मानुभव भेदात् पञ्चविधः ॥ जीवात्मासे चाहना करने योग्य वस्तु को पुरुषार्थ कहते हैं और वह धर्म १, अर्थ २, काम ३, जीवात्मा का अनुभव ४, भगवान्का अनुभव ५ इस भेदसे पाँच प्रकार का है ॥ इसीसे कहा है कि—स्वरूप प्राप्ति को शास्त्रों में पुरुषार्थ तथा कहने पर भी जैसे प्राप्ति के फलरूप से होनेवाला कैंकर्य आता है वैसे ही साध्यके विशेष बुद्धिरूपतया चरम पर्व आता है ॥४३४॥

अब प्रबन्धकर्त्ता चरमपर्वभूत आचार्यके कैंकर्य लाभकी दुर्लभता को कहते हैं कि—

इदं च दुर्लभम् ॥ ४३५ ॥

अथ—(च) और (इदम्) यह चरम पर्वभूत आचार्य का कैंकर्य (दुर्लभम्) दुर्लभ है। इसीसे कहा है कि यह तो दुर्लभ है ॥४३५॥

अब जगद्गुरुजी चरम पर्वभूत आचार्य के कैंकर्यलाभकी दुर्लभताकी विवरण करते हैं कि—

विषयप्रवणस्य तं विहाय भगवद्विषय आगमने यावान् परिश्रमोऽस्ति तावान्न भवति प्रथमपर्व विहाय चरमपर्वणि आगमने ॥४३६॥

अर्थ—(विषयप्रवणस्य) क्षुद्र विषयोंके बाहरकी विलक्षणता में मग्न हो लौटा न सके जैसे उनमें प्रवण होनेवाले को (तम्) उसको (विहाय) छोड़कर (भगवद्विषये) भगवान् के विषय में (आगमने) आने में (यावान्) जितना (परिश्रमः) दुःख (अस्ति) है (तावान्) उतना दुःख (न) नहीं (भवति) होता है (प्रथमपर्व) प्रथमपर्व भूतभगवान्के कैंकर्यको (विहाय) छोड़कर (चरमपर्वणि) चरमपर्व भूत आचार्यकैंकर्य में (आगमने) आने पर ॥ इसीसे कहा है कि विषयप्रवणके उसको छोड़कर भगवद्विषय में आने के दुःख की तरह नहीं प्रथमपर्व को छोड़ कर चरम पर्व में आने की दुर्लभता है ॥४३६॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि वहाँ दोष देखने से लौटा

सकते हैं और यहाँ वैसा नहीं कर सकते हैं।

तत्र दोषदर्शनेन निवृत्तिः स्यात् अत्र तत्कर्तुं न शक्यते ॥ ४३७ ॥

अर्थ—(तत्र) वहाँ क्षुद्रविषयोंमें (दोषदर्शनेन) अल्प अस्थिर आदिक दोषों को देखने से (निवृत्तिः) निवृत्ति (स्यात्) हो सकती है और (अत्र) विलक्षण विग्रह युक्त समस्त कल्याणगुणात्मक नित्य अपरिच्छेद्यभगवद्विषय में दोष का लेश भी न होने से (तत्) वह दोष निवृत्ति (कर्तुम्) करने के लिये (न) नहीं (शक्यते) समर्थ हो सकते हैं। इसी से कहा है कि—वहाँ दोष देखनसे लौट सकते हैं और यहाँ वैसा नहीं कर सकते हैं ॥४३७॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि दोष होने पर भी गुण की तरह ग्रहण करने योग्य होता है।

दोषसत्वेऽपि गुणवदुपादेयो भवति ॥ ४३८ ॥

अर्थ—(दोषसत्वे) विश्लेष की असह्यता से भान होनेवाले कोई दोष भगवान् में होने पर (अपि) भी (गुणवत्) गुण की तरह (उपादेयः) ग्रहण करने योग्य (भवति) होता है। क्योंकि लिखा है कि— **क्रूरं मन्मनः स एवेति तिष्ठति ॥** क्रूर हमारा मन भगवान् ही को चाहता है॥ अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इनमें क्या प्रमाण है कि दोष रहने पर भी भगवत् में दोष का अभाव है? इस प्रश्न का उत्तर यह लिखा है कि— **संख्यातुं नैवं शक्यन्ते गुणा दोषाश्च शार्ङ्गिणः। आनंत्यात्प्रथमो राशिरभावदेव पश्चिमः ॥** परमात्मा के गुण और दोष नहीं गिने जा सकते हैं, गुण अनन्त होने से गुण की राशि परमात्मा हैं और दोष बिल्कुल नहीं है॥ इसी से कहा है कि—दोष होने पर भी गुण की तरह ग्रहण करने योग्य होता है॥ ४३८ ॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि लोक से विपरीत यहाँ पर है।

लोकविपरीतं खल्वत्र वर्तते ॥ ४३९ ॥

अर्थ—(लोकविपरीतम्) लोकमें दोष छोड़ने योग्य और गुण स्वीकार

करने योग्य होता है, परन्तु लोक से विरुद्ध गुणको तरह दोष भी (खलु) निश्चय करके (अत्र) इस भगद्विषय में (वर्तते) ग्रहण करने योग्य होता है। इसी से कहा है कि लोक से विपरीत निश्चय करके यहाँ पर है ॥४३९॥

अब श्रीवचनभूषणकार सब कुछ करने पर भी दोष गुण की तरह ग्रहण करने योग्य कैसे हो सकता है इस विषय में कहते हैं कि—

गुणस्योपादेयत्वप्रयोजको हेतुर्दोषस्याप्यस्ति हि ॥४४०॥

अर्थ— (गुणस्य) परमात्मा के गुण के (उपादेयत्वप्रयोजकः) ग्रहण करने योग्य होने को प्रेरणा करनेवाला (हेतुः) कारण प्राप्त शेषी में होना रूप है (दोषस्य) परमात्मा के दोष के (अपि) भी ग्रहण करने योग्य होने की प्रेरणा करनेवाला कारण प्राप्तशेषी में होना रूप ही (हि) निश्चय करके (अस्ति) है। अर्थात् जैसे गुण परमात्मा में हैं। इस कारण से गुण ग्रहण करने योग्य होते हैं वैसे ही दोष भी परमात्मा में है, इस कारण से दोष भी ग्रहण करने योग्य हैं। इसी से कहा है कि गुण के उपादेय होने का कारण निश्चय करके दोष में भी है ॥४४०॥

अब लोकाचार्यस्वामीजी ने विश्लेषदशा में देखे जानेवाले नैघृण्यादि दोष को स्वीकार कर वह गुण की तरह उपादेय होने के प्रकार को कहा है। वह नैघृण्यादि दोष परमात्मा में बिल्कुल नहीं है ऐसा आप्त वचनों से दिखाते हैं। उसमें पहले परांकुशमुनि स्वामीजी के वचन को दिखाते हैं कि—

निर्घृण इत्युक्त्वा विरामात्पूर्वं गुणवानिति वक्तव्यतया स्थितः ॥४४१॥

अर्थ—(निर्घृणः) निघृण है(इति) ऐसा (उक्त्वा) कहकर (विरामात्) मुख के बन्द करने से (पूर्वम्) पहले (गुणवान्) दयावाले गुणी हैं (इति) ऐसा (वक्तव्यतया) कहने योग्य (स्थितः) ठहरा था। इसीसे कहा है कि— निघृण ऐसा कहकर मुख के बन्द करने से पहले दयावान् ऐसा कहने योग्य स्थित था ॥४४१॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि इस प्रकार कहने योग्य बनानेवाली कृपा है ऐसा समझकर स्नेह और उपकार स्मृति को कहते हुए।

एवं वक्तुमर्हता कृता कृपयेतिस्नेह उपकार-स्मृतिश्चावर्तत खलु ॥४४२॥

अर्थ— (एवम्) इस प्रकार कही हुई गुण हानि का तिरस्कार कर गुण को (वक्तुम्) कहने के लिए (अर्हता) योग्य (कृता) बनाई गयी है (कृपया) कृपा (इति) ऐसा (स्नेहः) प्रेम (च) और (उपकारस्मृतिः) उपकार की स्मृति भी (आवर्तत) की गई है (खलु) निश्चय करके। इसी से कहा है कि इस प्रकार कहने योग्य बनानेवाली कृपा है, ऐसा समझकर स्नेह और उपकार स्मृति को करते हुए निश्चय करके ॥४४२॥

अब जगद्गुरुजी सीता देवी के वचन को कहते हैं कि—

निर्घृणतया शंकित्वा कथनदशायामपि कारणं स्वगतत्वेनोक्तम् ॥४४३॥

अर्थ— (निर्घृणतया) विश्लेष दशा में अति व्याकुल हो श्रीसीता देवीजीने श्रीरामजी को निर्दयी को (शंकित्वा) शंकाकर (कथनदशायाम्) कहने की अवस्था में (अपि) भी (कारणम्) कारण (स्वगतत्वेन) अपने में (उक्तम्) कहा है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर श्रीसीताजी श्रीरामजी से संयोग नहीं होने में अपने को कारण मानती हैं? इस प्रश्न का उत्तर देखिये, वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि— **ख्यातः प्राज्ञः कृतज्ञश्च सानुक्रोशश्च राघवः। सद्वृत्तो निरनुक्रोशः शंके मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ वाल्मी० सुन्दरकां० ५ सर्ग २६ श्लो० ११॥**

बुद्धिमान्, दयावान्, कृतज्ञ, अच्छे आचरणवाले श्रीरामजी निर्दयी हैं ऐसी शंकाकरतीहूँ, परन्तु ऐसी शंकाकरने का कारण हमारी भाग्य-हानि है ॥११॥ और भी श्रीसीताजी ने कहा है कि—**ममैव तु न दुःखानामस्ति मन्ये विपर्ययः ॥ वाल्मी०सुं०कां० ५ स० ३६ श्लो० १४॥**

मैं मानती हूँ कि मेरे दुःख का अभी अन्त नहीं हुआ है ॥१४॥

ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः ॥ वाल्मीकि सुन्दर कां० ५ स० ३८ श्लो० ४६ ॥ मेरा ही किया हुआ कोई बड़ा भारी पाप है इसमें सन्देह नहीं है ॥ इसमें प्रमाणित हो गया कि श्रीसीताजी श्रीरामजी से संयोग नहीं होने का कारण अपने ही को मानती हैं। इसी से कहा है कि निर्घृणतया शंका कर कहने की अवस्था में भी कारण को अपने में कही हैं ॥ ४४२ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि गुण और दोष ये दोनों क्षुद्र पुरुषार्थ को और परम पुरुषार्थ को भी नष्ट करते हैं।

गुणदोषावुभावपि क्षुद्रपुरुषार्थं पुरुषार्थकाष्ठां च नाशयतः ॥ ४४४ ॥

अर्थ—(गुणदोषौ) अपने सौन्दर्यादिकों को अपने आश्रितों को पूर्ण अनुभव कराना रूप संश्लेषगुण और उस अनुभव के अलाभ से व्याकुल होने के समय आप मुख न दिखाना रूपविश्लेषदोष (उभौ) ये दोनों (अपि) भी (क्षुद्रपुरुषार्थम्) भगवद्विषय सौन्दर्य से क्षुद्रविषय में वैराग्य होने से क्षुद्र पुरुषोंके चाहने योग्य विषयों को (च) और (पुरुषार्थकाष्ठाम्) भगवानके विषयमें मग्न कराकर पुरुषार्थ की काष्ठारूप तदीय शेषत्वरूप में स्थिति को (नाशयतः) नाश करते हैं। इसीसे कहा है कि—गुण और दोष ये दोनों भी क्षुद्र पुरुषार्थ को और पुरुषार्थ काष्ठा को नष्ट करते हैं ॥ ४४४ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार चरम पुरुषार्थ को नष्ट करने वाले को कहते हैं कि—

नित्यशत्रुत्वेनखलु वर्तते ॥ ४४५ ॥

अर्थ - (नित्यशत्रुत्वेन) तदीयकैंकर्यनिष्ठका भगवत्सौन्दर्य नित्य शत्रुरूप से (खलु) निश्चय करके (वर्तते) रहता है। इसीसे कहा है कि नित्यशत्रुरूप से निश्चय करके रहता है ॥ ४४५ ॥

अब जगद्गुरुजी प्राप्य के अनुरूप प्रापक का निर्णय करते हैं कि—

एवं प्राप्येनिर्णीतेऽस्य सदृश आवश्य : खलुप्रापकः।४४६।

अर्थ— (एवम्) इस प्रकार (प्राप्ये) आचार्यका कैंकर्य ही प्राप्य है ऐसे प्राप्य के (निर्णीते) निश्चय करने पर (अस्य) इस प्राप्यके (सदृशः) सदृश (आवश्यकः) जरूर (खलु) निश्चय (प्रापकः) आचार्य ही प्रापक होना चाहिये। इसी से कहा है कि— इस प्रकार प्राप्यके निर्णय करने पर उसके सदृश प्रापक भी होना चाहिये ॥४४६॥

अब जगदाचार्यजी चार सौ छियालिसवें सूत्रमें कहे हुए को नहीं मानने में जो हानि है, उसको कहते हैं कि—

अन्यथा प्राप्यप्रापकयोरैक्याभावप्रसंगः ॥४४७॥

अर्थ—(अन्यथा) इस प्राप्यके सदृश आचार्य को प्रपाक नहीं मानकर परमात्माको प्रापक मानने पर (प्राप्यप्रापकयोः) प्राप्य और प्रापक इन दोनों के (ऐक्याभावप्रसंगः) ऐक्यके अभावका प्रसंग हो जायगा और वास्तव में प्राप्य और प्रापक ये दोनों एक ही विषय हैं। इसीसे पिल्लैयमुदनाराचार्यजी कहते हैं कि-**प्राप्यमन्यन्नास्त्वच्चरणौ विना तत्प्राप्यप्रदोपायश्च नास्ति त्वच्चरणौ विना** ॥ आपके चरणोंके विना अन्य प्राप्य नहीं है। और उस प्राप्यके देनेवाले प्रापक भी आप के चरणों के बिना अन्य प्राप्य नहीं है॥ इसी से कहा है कि— न हो तो प्राप्य और प्रापक इन दोनों का ऐक्य नहीं होगा ॥४४७॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी ईश्वर को उपायतया आश्रयण करने की अपेक्षा आचार्यको उपायतया आश्रयण करने से अधिक लाभ क्या होगा इस शंका के संबन्ध में कहते हैं कि—

ईश्वरस्याश्रयणंहस्तं गृहीत्वा कार्यसाधनवत्, आचार्यस्याश्रयणं चरणं गृहीत्वा कार्यसाधनवत् ।४४८।

अर्थ—(ईश्वरस्य) परमात्माका (आश्रयणम्) आश्रयण करना (हस्तम्) हाथको (गृहीत्वा) पकड़ कर (कायसाधनवत्) कार्य कराने की तरह है। अर्थात् परमात्मा सौलभ्यगुणवाला होने से मृदुमन वाला होकर कार्य कर सकते हैं अथवा स्वतंत्र होनेसे तिरस्कार भी कर सकते हैं और (आचार्यस्य) आचार्यका (आश्रयणम्) आश्रयण करना

(चरणम्) पैरोंको (गृहीत्वा) पकड़ कर (कार्यसाधनवत्) कार्य करनेकी तरह है। अर्थात् आचार्य के चरण पर गिर कर प्रार्थना करने से दयाके वश होकर आचार्य अवश्य कार्य कर सकते हैं। इसी से कहा है कि— ईश्वर का आश्रय करना हाथ पकड़ कर कार्य कराने की तरह है और आचार्य का आश्रयण करना चरणों में गिर कर कार्य कराने की तरह है ॥ ४४८ ॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि परमात्मा और जीवात्मा इन दोनों के आचार्य उपकारक हैं।

आचार्य उभयोरप्युपकारकः ॥ ४४६ ।

अर्थ—(आचार्यः) एवं उपायतया पूर्वोक्त आचार्य (उभयोः) शेषी ईश्वर और शेष जीव इन दोनों के (अपि) भी (उपकारकः) उपकारक हैं। इस चार सौ उन्चासवें सूत्र में बहुत से लोग यह कहते हैं कि परमात्मा ही जीव है, इससे जीव को अलग मानना ठीक नहीं है। इसका उत्तर यह है कि जिन्होंने वेद और शास्त्रों को नहीं पढ़ा है वे जो चाहें सो कहें परन्तु जिन लोगों ने वेद और शास्त्रों को पढ़ा है वे लोग जानते हैं कि ब्रह्म, जीव और माया ये तीनों तत्त्व अनादि हैं। इस विषय में अधोलिखित प्रमाणोंको सज्जन लोग अवलोकन करें— **द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋग्वे० मं० १सू० १६४ मं० २०॥** शरीर रूप एकही वृक्षमें ये जीव और ब्रह्म दोनों मिल कर रहते हैं तथा दोनों के साथ मित्रता है परन्तु इन दोनों में से जीव कर्म फल को स्वादवाला समझ कर खाता है और परमात्मा न खाते हुए अत्यन्त प्रकाश स्वरूप बना रहता है ॥ २० ॥ यह मंत्र मुण्डक० ३ खं० १ मं० १ में भी लिखा है। और भी लिखा है कि— ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ कठोप० अ० १ वल्ली ३ मं० १ ॥ पञ्चाग्निविद्या और जो त्रिणाचिकेता विद्या को जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता लोग हैं वे लोग उत्कृष्ठ सुकृतों के लोक में ऋतको पान करते

हुये हृदय के भीतर गुहा में बैठी हुई जीवात्मा को छाया और परमात्मा को आतप कहते हैं ॥ १ ॥ और श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि— पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ श्वे० अ० १ मं० ६ ॥ अपने को और परमात्मा को पृथक् मानकर तब जीवात्मा मोक्ष पाती है ॥६॥ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थ-युक्ता ॥ श्वे० अ० १ मं० ६ ॥ दो चेतन अनादि अजन्मा हैं, उनमें एक सर्वज्ञ और ईश है और दूसरा अल्पज्ञ तथा अनीश है और भोक्ता के भोगों के अर्थों से युक्त एक अजा और भी है ॥ ६ ॥ अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ श्वे० अ० ४ मं० ५ ॥ सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण मिली हुई प्रकृति किसी से जन्म नहीं लेती है और अपने समान रूपवाली बहुत सी प्रजा को उत्पन्न करती है और एक अजन्मा जीव इस प्रकृति का भोग करता हुआ इसके पीछे फँसकर लगा रहता है और दूसरा अजन्मा परमात्मा जीव से भोग भोगते हुए इस प्रकृति को समझकर इसको त्याग देता है ॥ ५ ॥ सामने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ श्वे० अ० ४ म० ७ ॥ एकही शरीर रूपी वृक्ष में जीवात्मा भी रहती है परन्तु ईश नहीं होने से मोह करता हुआ शोक करता है जब अपने से दूसरा नित्यतृप्त शोक रहित ईश्वर को और उसकी महिमा को देखता है तब शोक रहित हो जाता है ॥७॥ यह मन्त्र मुण्डक ३ खं० १ मं० २ में भी लिखा है और कठोपनिषद में लिखा है कि—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ कठो० अ० २ व० ५ मं० १३ ॥ जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत से नित्य चेतन जीवों की कामनाओं को परिपूर्ण करता है उस परमात्मा को जो धीर लोग अपने में स्थित देखते हैं उन्हीं धीरों को निरन्तर शान्ति प्राप्त होती है औरों को नहीं ॥ १३ ॥ भगवद्गीता में भी लिखा है कि— प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥ भगवद्गी० अ० १३ श्लो० १९ ॥ प्रकृति और पुरुष इन दोनों को भी अनादि जानो ॥ १९ ॥ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥ भगवद्गी० अ० १५ श्लो० ७ ॥ इस जीव लोक में मेरा ही अंश अनादि जीव है ॥७॥ द्वाविमौ

पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एवं च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ भगवद्गी० अ० १५ श्लो० १६ ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ १७ ॥ लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं एक क्षर और दूसरा अक्षर है, उसमें ब्रह्मा से लेकर चिंटी पर्यन्त क्षर पुरुष हैं और कूटस्थ मुक्तात्मा अक्षर पुरुष हैं यह ऋषियों ने कहा है ॥ १६ ॥ और क्षर तथा अक्षर इन दोनों से अन्य उत्तम पुरुष है जिसको परमात्मा ऋषियों ने कहा है ॥१७॥ परमात्मा से अलग जीव का लक्षण भी लिखा है कि— बालाग्रशतभागस्यशतधाकल्पितस्य च। भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ श्वे० अ० ५ मं० ६ ॥ बालके अग्र भाग के सौवें भाग का जो सौवाँ हिस्सा है उसी भाग को जीव जानना और वह अनन्त है ॥ ६ ॥ गौतम महर्षि ने कहा है कि— इच्छाद्वेषप्रयत्नसुख-दुःखज्ञानानि आत्मनोलिंगम् इति ॥ न्याय० अ० १ आह्नि० १ सू० १० ॥ इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख, दुःख ज्ञानये जीवात्मा के चिह्न हैं ॥१०॥ और कणाद महर्षि ने कहा है कि — प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगती-न्द्रियान्तरविकारास्सुखदुखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च आत्मनोलिंगानि) ॥ वै० शे० अ० ३ आह्नि० २ सू० ४ ॥ प्राण वायु तथा अपान वायु और आँख मूँदना तथा खोलना और जोना तथा मनकी गति और इन्द्रियान्तर विकार तथा सुख दुःख इच्छा द्वेष और प्रयत्न ये सब जीवात्मा के चिह्न हैं ॥४॥ और कपिल महर्षि ने भी कहा है कि पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ सां० अ० ६ सू० ४५ ॥ जीव बहुत व्यवस्था होने से ॥४५॥ नाद्वैत-मात्मनोलिंगात्तद्भेदप्रतीतेः ॥ सां० अ० ५ सू० ६१ ॥ अद्वैततत्व नहीं है आत्मा के चिह्न होने से और प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होने से ॥६१॥ वामदेवादिर्मुक्तोनाद्वैतम् ॥ सां० अ० १ सू० ॥१५८॥ वामदेव आदिक मुक्त हो गये हैं इससे भी एक हा तत्त्व नहीं है ॥१५८॥ जन्मादि-व्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ सां० अ० १ पा० १ सू० १५० । जन्म मरण आदिक व्यवस्था होने से जीवात्मा बहुत सिद्ध होती है। ॥१५० और वेदान्तसूत्र में महर्षि वेदव्यासजी ने ब्रह्म से अलग जीव बताया है कि— अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ वेदा० अ० १ पा० १ सू० १६ ॥ इस जीव में इस ब्रह्म के संयोग को उपनिषद् शासन करती है ॥१६॥ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ वेदा० अ० १ पा० १ सू० २० ॥ जीवन के भीतर ब्रह्म का धर्मोपदेश होने से ॥२०॥ भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ वेदा अ० १ पा० १ सू० २१ ॥ और भेदव्यपदेश होने से जीव ब्रह्म से अन्य है

॥ २१ ॥ गुहाप्रविष्टात्मानौहितद्दर्शनात् ॥ वेदा०अ०१ पा० २ सू० ११। निश्चय दोनों जीवात्मा और परमात्मा ने शरीर के भीतर गुहा में प्रवेश किया है क्योंकि दोनों का दर्शन होता है ॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्म से जीव अलग है। इसी से कहा है कि—आचार्य ईश्वर और जीव इन दोनों के भी उपकारक हैं ॥ ४३९ ॥

अब श्रीवचनभूषणकार ईश्वर और जीव को आचाय किस वस्तु का उपकार करते हैं उस वस्तु को कहते हैं कि—

ईश्वरस्य शेषवस्तूपकृतवान्, चेतनस्य शेषिणमुपकृतवान् ॥ ४५० ॥

अर्थ—(ईश्वरस्य) उत्तरोत्तर सृष्टि अवतार आदिक को वश करने के लिये विचार करने पर एक भी आत्म वस्तु नहीं मिलने से दुःखी होनेवाले ईश्वर के (शेषवस्तु) शेषभूत जीवात्मा को (उपकृतवान्) अज्ञात-ज्ञापन द्वारा शुद्ध कर इष्ट विनियोग के योग्य उपकार किया है और (चेतनस्य) भगवत् के ज्ञान के अभाव से अनादिकाल से असत् सम गिरे हुए चेतन के (शेषिणम्) भगवत् संबन्ध को जना कर शेषीभूत भगवान् को (उपकृतवान्) उपकार करके दिखाया है। इसीसे कहा है कि—ईश्वर के शेष वस्तु का उपकार किया है और जीव के शेषीवस्तु को उपकार किया है ॥ ४५० ॥

अब जगदाचार्य जी और भी दूसरे प्रकार से आचार्य के वैभव को कहते हैं कि—

ईश्वरश्च स्वयमाचार्यत्वाशां कृत्वा तिष्ठति ॥ ४५१ ॥

अर्थ—(च) और (ईश्वरः) परमेश्वर (स्वयम्) अपने ही (आचार्य स्वाशाम्) आचार्यत्व की आशा को (कृत्वा) कर (तिष्ठति) ठहरते हैं इसीसे कहा है कि—परमात्मा स्वयं आचार्यत्व को चाहते हैं ॥४५१॥

अब जगद्गुरुजी चार सौ एकावनवें सूत्र में कहे हुए अर्थ को कहाँ पर देख सकते हैं, इस शंका के संबंध में कहते हैं कि—

अत एव हि गुरुपरंपरायामन्वितत्वं गीताऽभय-प्रदानकथनं च ॥ ४५२ ॥

अर्थ—(अतः) ईश्वर स्वयं आचार्यत्व को चाहते हैं इस कारण से (एव) ही (हि) निश्चय (गुरुपरम्परायाम्) गुरुपरम्परा में (अन्वितत्वम्) श्रीमन्नारायण भगवान अन्वित हैं (च) और (गीताऽभयप्रदानकथनम्) भगवद्गीता का उपदेश अर्जुन को किये हैं और श्रीविभीषणसूरि के कारण से अभय प्रदान का उपदेश किये हैं। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कहाँ पर नारायण का गुरुपरंपरा में अन्वय है? पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि—**अस्मद्देशिकमस्मदीयपरमाचार्यानशेषान्गुरून्, श्रीमल्लक्ष्मणयोगिपुंगवमहापूर्णौ मुनिं यामुनं। रामं पद्ममविलोचनं मुनिवरं नाथं शठद्वेषिणं, सेनेशं श्रियमिन्दिरासहचरं नारायणं संश्रये** ॥ इस श्लोक में पठित गुरुपरंपरा में और— **अस्मद्गुरुभ्यो नमः १ अस्मत्परमगुरुभ्यो नमः २ अस्मत्सर्वगुरुभ्यो नमः ३ श्रीमते रामानुजाय नमः ४ श्रीमते महापूर्णाय नमः ५ श्रीमते यामुनमुनये नमः ६ श्रीमते राममिश्राय नमः ७ श्रीमते पुण्डरीकाक्षाय नमः ८ श्रीमते नाथमुनये नमः ९ श्रीमते शठकोपाय नमः १० श्रीमते विष्वक्सेनाय नमः ११ श्रियै नमः १२ श्रीधराय नमः १३** ॥ इस वाक्य में पठित गुरुपरंपरा में स्पष्ट नारायण भगवान् का अन्वय है। इस प्रकार पहले प्रश्न का उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि इसमें क्या प्रमाण है कि भगवद्गीता भगवान् की कही हुई है? इस प्रश्न का उत्तर यह लिखा है कि— **गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ महाभार०भीष्मपर्व०** ॥ भगवद्गीता भले प्रकार पढ़ कर अथ और भाव सहित अन्तः करण में धारण करने योग्य है जो कि स्वय पद्मनाभ विष्णु भगवान् के मुखारविन्द से निकली हुई है, फिर अन्य शास्त्रों के विस्तार स क्या प्रयोजन हे ॥ और भी लिखा है कि—

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् । गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते । श्रीविष्णुभगवान् के मुखारविन्द से भारत में भगवद्गीता नाम का अमृत निकला जिस भगवद्गीता नाम के गंगोदक को पीकर फिर से जन्म नहीं होता है ॥ और साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी ने भी कहा है कि— **अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः । ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ भगवद्गी० अ० १८ श्लो० ७० ॥** और हे अर्जुन जो पुरुष इस धर्म युक्त हम दोनों को संवाद रूप भगवद्गीता को पढ़ेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊँगा ऐसा मेरा मत है ॥७०॥ इससे सिद्ध हो गया कि भगवद्गीता श्रीकृष्ण भगवान् की कही हुई है । इस प्रकार के दूसरे प्रश्न का उत्तर होने पर, तीसरा प्रश्न होता है कि कहाँ पर किस प्रकार के भगवान् ने अभय प्रदान का उपदेश किया है ? इस प्रश्न का उत्तर वाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड के अठारहवें सग के तैंतिसवें श्लोक में श्रीरामचन्द्र जी ने कहा है कि— **सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ वाल्मी-युद्ध का० ६ स० १८ श्लोक ३३ ॥** एक बार भी मैं आपका दास हूँ जो ऐसी याचना करता है उस प्रपन्न जन के लिये संपूर्ण जीवों से मैं अभय प्रदान करता हूँ, यह मेरा व्रत है ॥ ३३ ॥ ऐसा अभय प्रदान किया है ! इसीसे कहा है कि—इस कारण से ही गुरुपरंपरा में भगवान् का सम्बंध है और भगवद्गीता तथा रामायण में अभय प्रदान का उपदेश किया है ॥ ४५२ ॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी फिर भी एक दूसरे प्रकार से आचार्य के वैभव को कहते हैं कि—

आचार्यस्य सदृशप्रत्युपकारकरणं विभूतिचतुष्टयमीश्वरद्वयं चास्ति चेद्धि ॥४५३॥

अर्थ (आचार्यस्य) लोलाविभूति और त्रिपाद्विभूति इन दोनों विभूतियों को और श्रीमन्नारायण भगवान् को शिष्य के अधीन करने वाले आचार्य के (सदृशप्रत्युपकारकरणम्) किये उपकारक के समान

प्रत्युपकार तब भी कर सकते हैं कि (चेत्) यदि (हि) निश्चय करके (विभूतिचतुष्टयम्) चार विभूति हों (च) और (ईश्वरद्वयम्) दो ईश्वर (अस्ति) हों। परन्तु चार विभूति या दो ईश्वर हैं ही नहीं। क्योंकि लिखा है कि— **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ यजु० ३१ मं० ३ ॥** यह जो कुछ संसार जीवों के सहित है सो इस परमात्मा की एक पाद विभूति है और दिवलोक में मोक्षरूप अमृत त्रिपाद्विभूति है ॥ ३ ॥ इससे साबित हो गया कि—दो विभूतियाँ है। पुनः श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि—**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥ श्वेताश्व० अ० ६ मं० ११ ॥** एक देव परमात्मा सब जीवों में छिपा हुआ है यह सर्व व्यापी है और जीवों की अन्तरात्मा है ॥११॥ **एको वशी निष्क्रियाणां बहूनाम् ॥२॥** निष्क्रिय बहुतों को वश में करनेवाला परमात्मा एक है ॥ १२ ॥ **एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ॥ ऋग्वे० मं० सू० मं० ४ ॥** एक सम्पूर्ण परमात्मा हैं, उसने समुद्र में प्रवेश किया है और वही परमात्मा इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है ॥ ४ ॥ **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ॥ एतरेयोप अ० १ खं० १ मं० १ ॥** पहले परमात्मा एक था ॥ १ ॥ **ऐकमेवाद्वितीयम् ॥ छान्दो० अ० ६ प्र० ६ खं० २ मं० १ ॥** परमात्मा एक ही था ॥१॥ आत्मैवेदमग्र आसीत् ॥ वृह० अ० १ ब्रा० ४ मं० १ ॥ पहले एक परमात्मा ही था ॥ ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ॥ शत० ११ ॥ १ । ११ । १ ॥ पहले एक ब्रह्म था ॥ और भी लिखा है कि ॥ शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ॥ नारायणोप० मं० २ ॥ शुद्ध देव एक नारायण हैं दूसरा कोई ईश्वर नहीं हैं ॥ २ ॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि परमात्मा एक है। इससे यह प्रमाणित होता है कि आचार्य के सदृश प्रत्युपकार कोई भी नहीं कर सकता है। यह लिखा है कि—यो दद्याद्भगवज्ज्ञानं कुर्याद्धर्मोपसेवनम्। कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यान्न तत् तुल्यं कथचन ॥ जो भगवद् ज्ञान और धर्मोपदेश करते हैं उनके लिये सम्पूर्ण पृथ्वी देने पर भी उसके सदृश नहीं है ॥ इसीसे कहा है कि—आचार्य के सदृश प्रत्युपकार तब कर सकते हैं जब कि चार विभूतियाँ और दो परमेश्वर हों ॥४५३॥

अब प्रबन्धकर्ता और भी एक प्रकारसे आचार्य के वैभव को कहते हैं कि—

ईश्वरसंबन्धो बन्धमोक्षयोरुभयोरपि साधारणः आचार्यसंबन्धो मोक्षस्यैव हेतुः ॥४५४॥

अर्थ—(ईश्वरसंबन्धः) पूर्वोक्त ईश्वरका आश्रयण (बन्धमोक्षयोः) कर्मके अनुगुण संसारी बनाना रूप बन्धन और कारुण्यके अनुगुण मुक्त बनाना रूप मोक्ष (उभयोः) बन्ध और मोक्ष दोनोंके (अपि) भी (साधारणः) साधारण है। और(आचार्यसंबन्धः) महोपकारक आचार्यका आश्रयण (मोक्षस्य) मोक्षका (एव)ही केवल (हेतुः) कारण है। इन चार सौ चौवनवें सूत्र में बहुत से लोग यह कहते हैं कि मोक्षसे भी जीव फिरसे लौट आते हैं। इस विषय में यह कहना है कि प्रत्येक दर्शनकार ने अपनी-अपनी तरह के मोक्ष मानते हुए भी मोक्षसे जीव फिर से लौट आते हैं ऐसा कोई भी नहीं मानते हैं। जैसे कि जो नास्तिक आत्मा को नहीं मानते हैं उनके यहाँ मृत्यु हो जाना ही मोक्ष हो जाना है। जैन शास्त्र आवरण क्षयको मोक्ष मानते हैं एवं मुक्त जीवकी लोकों से अतीय आकाशमें स्थिति मानते हैं और आवरण क्षय होनेसे मुक्त स्वतः ही उपर चला जाता है ऐसा मानते हैं। बुद्धदेव भावना चतुष्टयसे शून्यरूप पर निर्वाण प्राप्त होने को मोक्ष कहते हैं। आत्मोच्छेदको माध्यमिक मोक्ष कहता है। विज्ञानवादी निर्मल ज्ञानके उदय को ही मोक्ष कहते हैं। नित्यनिरतिशय सुखकी प्राप्तिको मोक्षभट्ट और सर्वज्ञमुनि मानते हैं। रसेश्वर महाराज जीवन्मुक्तिको प्रधान मोक्ष मानते हैं। प्रत्यभिज्ञानदर्शनवाले महेश्वर की स्वातंत्र्य प्राप्त दासताको मोक्ष कहते हैं। शैव सारूप्यको मोक्ष मानते हैं। भरत ऋषि शरीर और इन्द्रियोंसे आत्माके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। अविद्या से जीव बना हुआ है अविद्या के निवृत होने पर जीव का अभाव हो जाता है उसका वास्तविक तत्व ब्रह्म है, वही एक रहता है। अविद्याके समूल नाश से जीव भाव का नाश होना ही निर्वाण मोक्ष है, इसे शंकराचार्य स्वामीजी मानते हैं। महती देवता के साथ साम्य प्राप्त कर लेने को ही वैयाकरण मोक्ष कहते हैं। योग शास्त्र और सांख्य शास्त्र के अनुसार संस्कार सहित मन से नष्ट

हो जाने पर कार्य कारणात्मक गुणों का प्रधान मेल हो जाने पर पुरुष की स्वरूप-प्रतिष्ठा होती है, इसको कैवल्य मोक्ष कहते हैं। दुःख की अत्यन्त निवृत्तिको वैशेषिक और नैयायिक मोक्ष कहते हैं। मीमांसक जमिनि महर्षि कर्मसे जिस स्वर्गका कभी नाश नहीं होता है उस स्वर्गको प्राप्तिको मोक्ष कहते हैं। ब्रह्म के साथ अखण्डानन्द के भोग को सायुज्य मोक्ष कहते हैं। ब्रह्म के समान लोक में यानी ब्रह्म के लोक में रहने को सालोक्य मोक्ष कहते हैं। जिस तरह जगदीश शंख चक्र गदा, पद्म युक्त हैं उसी तरह के रूपसे रहने को सारूप्य मोक्ष कहते हैं। भगवान् के समीप रहने को सामीप्य मोक्ष कहते हैं और भगवान् रामानुजाचार्य स्वामीजी परम पुरुषार्थ लक्षण मोक्ष किसको कहते हैं कि, जो प्रारब्ध कर्म विशेषके अवश्य पीछे होनेवाले पुण्य और पापके नाश होने पर है, उत्पन्न होता है, परिणाम होताहै, बढ़ता है, क्षीण होता है, विनाश होता है, इस उक्त प्रकारसे छ भाव विकार का स्थान और आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीन प्रकारके दुःखका आश्रय यह शरीर है और भगवान्के स्वरूपको ढँक कर विपरीत ज्ञान को उत्पन्न करने वाला संसार को बढ़ानेवाला इस स्थूल शरीरकी उपेक्षा करके यानी छोड़कर सुषुम्ना नाड़ी करके ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर उसी छेदसे निकल कर सूक्ष्म शरीरसे आकाश में जाने के लिए मार्ग को पाकर सूर्य के मण्डल के भीतर जाकर सूक्ष्म शरीरको और अनादिकालके संसारकी वासना रूप रेणुको विरजा नदी के स्नान से दूर कर समस्त दैहिक, दैविक, भौतिक तापोंको दूर करनेवाले अमानव पुरुष के हाथ के स्पर्श को पाकर निर्मल सत्वगुणात्मक पञ्चोपनिषन्मय ज्ञान और आनन्दको उत्पन्न करने वाला केवल एक भगवानके अनुभव में तत्पर तेजोमय दिव्य शरीरको पाकर किरीट कुण्डल आदिक भूषणों को धारण किये हुये श्री वैकुण्ठ निवासी देवोंके आगे आकर मिलन पर वह चेतन महामणिवाले मण्डपको पाकर लक्ष्मीजी सहित भूदेवी और नीलादेवी के नायक को समस्त देव गण जिनको सेवा कर रहे हैं और तेजके प्रवाहमें प्रकट हो रहा है रूप जिनका ऐसे श्रीवैकुण्ठ नाथ भगवानको सर्वदा अनुभव करके नित्य कैङ्कर्य भगवान्के करनेका स्वभाव विशेषसे स्थिति करना, इसी को मोक्ष कहते हैं। अब अधोलिखित प्रमाणोंको कृपया सज्जन लोग अवलोकन करें। जिस से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मोक्ष होने पर फिर से जीव-जन्म

मरण नहीं लेते हैं ॥ **न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥ सांख्यो० अ० ६ सू० १७ ॥** मुक्तजीवको फिर से बन्धनका संयोग नहीं होता है। अनावृत्ति अर्थात् नहीं लौटते हैं, ऐसी श्रुति होनेसे।१७।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ न्याय० अ० १ आह्नि० १ सू० २२ ॥

दुःखजन्म प्रभृति दोष मिथ्या ज्ञानकी अत्यन्त जो निवृत्ति है, उसको मोक्ष कहते हैं ॥२२॥ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ वेदा० अ० ४ पा० ४ सू० २२ ॥ मुक्तका फिर मे जन्म नहीं होता है, वेद प्रमाण होने से ॥२२॥ धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ केनो० खं० १ मं० २ ॥ धीर ज्ञानी पुरुष इस लोकसे जाकर अमृत होते हैं, अर्थात् फिर से नहीं मरते हैं ॥२॥ यंज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ कठोप० अ० २ वल्ली० ६ मं० ८ ॥ जिसको जानकर जीव संसार बन्धन से छूटता है और अमृत को प्राप्त करता है ॥८॥ य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ कठ० अ० २ व० ६ मं० ९ ॥ जो कोई इस परमात्मा को जानते हैं वे अमृत होते हैं ॥९॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथमर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ कठ० अ० २ व० ३ मं० १५ ॥ जब यहाँ पर इस चेतन के हृदय की सब गाठें छूट जाती हैं तब वह मनुष्य अमर हो जाता है इतना ही अनुशासन है ॥१५॥ एतस्मान्न पुनरावर्तन्त ॥ प्रश्नोप० १ मं० १० ॥ इस मोक्ष स्थान से फिर नहीं लौटते हैं ॥१०॥ तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ मुण्डकोप० मुं० ३ खं०. २ मं० ९ ॥ शोक और पाप को तर कर हृदय की गांठों से छूटकर अमृत होता है ॥९॥ न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ॥ छान्दो० अ० ७ प्रपा० ७ खं० २६ मं० २ ॥ ज्ञानी मृत्यु और रोग को नहीं देखता है इसीसे दुःख को भी नहीं देखता है। ज्ञानी सबको देखता है और सब प्रकार से सबको प्राप्त करता है ॥२॥ ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ छा० अ० ८ प्र० ८ खं० १५ मं० १ ॥ मुक्त जोव ब्रह्मलोक पाता है फिर जन्म मरण चक्र में नहीं लौटता है, नही लौटता है ॥१॥ अथमर्त्योऽमृतोभवति॥ बृह० अ० ४ ब्रा० ३ कं० ७ ॥ मुक्त होने पर वह मनुष्य अमृत होता है ॥७॥ ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ बृह० ३ कं० १३ ॥

जो कोई उस परमात्मा को जानते हैं वे अमृत होते हैं ॥१४॥ तेषु ब्रह्मलोकेषुपराः परावतो वसन्तितेषां न पुनरावृत्तिः ॥ वृह० अ० ६ ब्रा०२ कं० १५ ॥ मुक्त जीव ब्रह्म लोक में निवास करते हैं फिर से उन लोगों का जन्म मरण में नहीं लौटना होता है ॥१५॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ श्वेता अ० १ मं० ८ ॥ नारायण देव को जानकर ज्ञानी पुण्यपाप रूप सब बन्धनों से छूटता है। ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानिः ॥ श्वेता० अ० १ मं० ११ ॥ परमात्मा को जानकर ज्ञानी के सब पुण्य पाप रूप बन्धन नष्ट हो जाते हैं ॥११॥ और भगवद्गीता में लिखा है कि—यं प्राप्य न निवर्तन्त तद्धाम परमं मम ॥ भगवद्गी० अ० ८ श्लोक २१ ॥ जिसको पाकर मनुष्य जन्म मरण में नहीं आत हैं, वह मेरा सबसे श्रेष्ठ स्थान है ॥२१॥ और यजुर्वेद में भी लिखा है कि—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० अ० ३१ मं० १७ ॥ मैं उस महान पुरुष को जानता हूँ जो प्रकाशस्वरूप है और अन्धकार से परे है। उस श्रीमन्नारायण भगवान् को हो जान कर यह चेतन मृत्यु को अतिक्रमण करता है अर्थात् जन्म मरण से छूटता है। परमपद प्राप्ति के लिये दूसरा कोई रास्ता नहीं है ॥२८॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मोक्ष होने पर वे जीव फिर से नहीं लौटते हैं। इसीसे कहा है कि—परमात्मा के सम्बन्ध बन्धन और मोक्ष इन दोनों के साधारण हैं और आचार्य का सम्बन्ध एक मोक्ष का ही हेतु है ॥३५३॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि भगवत् की प्राप्ति आचार्य से है।

भगवल्लाभ आचार्येण ॥४५५॥

अर्थ– (भगवल्लाभः) निरुपाधिक शेषी निरंकुश स्वतंत्र भगवान् का लाभ (आचार्येण भगवत्पमुद्ध्यैक प्रयोजन मंगलाशासन के लिये किंकर होना चाहिये ऐसा समझ कर अपने को अंगीकार कर परमात्मा का व्यामोह विषय बनानेवाले अपने आचार्य से होता है। इसी से कहा है कि भगवत् की प्राप्ति आचार्य से है ॥३५५॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि आचार्य की प्राप्ति भगवान से है।

आचार्यलाभ ईश्वरेण ॥४५६॥

अर्थ — (आचार्यलाभः) भगवल्लाभहेतु परमप्राप्यभूत सदाचार्य का लाभ (ईश्वरेण) निर्हेतुक दया करनेवाले परमेश्वर से होता है। इसीसे कहा है कि— आचार्य की प्राप्ति ईश्वर से है ॥४५६॥

अब जगद्गुरुजी उपकार करने में परमात्मा और आचार्य ये दोनों बराबर हैं क्यों इस शंका के सम्बन्ध में कहते हैं कि—

उपकार्यवस्तुगौरवेणाचार्यादत्यन्तमुपकारक ईश्वरः ॥४५७॥

अर्थ— (उपकार्यवस्तुगौरवेण) परमात्मा और आचार्य इन दोनों से उपकार की हुई वस्तु को तौलने पर आचार्य से उपकृत वस्तु बन्ध और मोक्षका हेतु प्रथमपर्व भगवद्विषयकीअपेक्षा भगवान्से उपकृत वस्तु मोक्षैक हेतु चरमपर्व आचार्य रूप विषय के गौरव से (आचार्यात्) परमात्मा के उपकार करनेवाले आचार्य से (अत्यन्तम्) अधिक (उपकारक) आचार्य का उपकार करनेवाले (ईश्वरः) महोपकारक परमात्मा हैं। इसीसे कहा है कि उपकार्य वस्तु के गौरव से आचार्य की अपेक्षा परमात्मा अधिक उपकारक हैं ॥४५७॥

अब लोकाचार्यस्वामीजी यह कहते हैं कि आचार्य संबन्ध रहने पर तो ज्ञान भक्ति और वैराग्यों को संपादन कर सकते हैं और आचार्य का सम्बन्ध नष्ट होने पर ज्ञान, भक्ति और वैराग्यों से प्रयोजन नहीं है।

आचार्यसम्बन्धः स्थितश्चेज्ज्ञानभक्तिवैराग्याणि उत्पादयितुं शक्यानि, आचार्यसम्बन्धो नष्टश्चेत् तेषां सत्वेऽपि प्रयोजनं नास्ति ॥४५८॥

अर्थ— (आचार्यसम्बन्धः) पूर्वोक्त प्रकार उत्तारक और उपकारक अपने आचार्य के चरणारविन्द में अपना सम्बन्ध (स्थितः) ठहरा रहा है (चेत्) यदि तो (ज्ञानभक्तिवैराग्याणि) आत्मा के अलंकार भूत तत्व ज्ञान अप्राप्त विषय वैराग्य और प्राप्तविषय भक्तिरूप आत्मगुणों को (उत्पादयितुम्) सदाचार्य के अनुग्रहादिक के क्रम से उत्पादन करने के

लिये (शक्यानि) समर्थ हो सकते हैं और (आचार्य सम्बन्धः) सर्वमंगलहेतु अपने आचार्य के चरणारविन्द में अपना सम्बन्ध (नष्टः) अपने अज्ञान से नष्ट हो (चेत्) यदि तो (तेषाम्) उन ज्ञानभक्तिवैराग्यों को (सत्वे) पूर्व पुण्यफल के द्वारा होने पर (अपि) भी भगवान् का अंगीकार का हेतु न होने से (प्रयोजनम्) प्रयोजन (न) नहीं(अस्ति) है। इसीसे कहा है कि— आचार्य का सम्बन्ध स्थिर हो तो ज्ञानभक्ति वैराग्यों को संपादन कर सकते हैं, और आचाय का सम्बन्ध नष्ट हो तो ज्ञानभक्तिवैराग्यों के होने पर भी प्रयोजन नहीं है ॥४५८॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि केवल प्रयोजन के अभावमात्र ही नहीं है बल्कि आचार्य का सम्बन्ध नष्ट होने पर, वे ज्ञानभक्तिवैराग्य अवद्यकर होते हैं।

मांगल्यसूत्रं स्थितं चेद् भूषणानि कृत्वा धर्तुं योग्यानि, मांगल्यसूत्रं गतं चेद् भूषणानि सर्वाण्यवद्यकराणि ॥४५९॥

अर्थ— (मांगल्यसूत्रम्) पतिव्रता स्त्री के पति के संबन्ध को जनाने वाला एक मांगल्यसूत्र तागपाट (स्थितम्) स्थिर हो (चेद्) यदि तो गहना नहीं रहने परभी द्रव्य मिलने पर (भूषणानि)आभूषणों को (कृत्वा) बना कर (धर्तुम्) धारण करने के लिये (योग्यानि) योग्य हो सकते हैं और (मांगल्यसूत्रम्) पतिव्रता स्त्री के पति के सम्बन्ध को जनानेवाला मांगल्यसूत्र (गतम्) नष्ट हो (चेद्) यदि तो विधवा के अलंकार के सदृश धारण किये हुए (सर्वाणि) संपूर्ण(भूषणानि) गहने (अवद्यकराणि) निन्दा करानेवाले होते हैं। इसीसे कहा है कि–मांगल्य सूत्र हो तो भूषणों को बनाकर धारण कर सकते हैं और मांगल्यसूत्र नष्ट होने पर सब भूषण निन्दा करानेवाले होते हैं ॥४५९॥

अब जगद्गुरुजो आचार्य का सम्बन्ध होने पर भी स्वरूप को विकास करनेवाले ईश्वर हो हैं तो आचार्य का सम्बन्ध नष्ट होने पर भी इतने आत्मगुण विशिष्ट के स्वरूप को प्रकाश नहीं करेंगे क्या ? इस शका के संदर्भ मे कहते हैं कि—

कमलस्य विकाशक आदित्य एव जलवियोगे यथा तच्छोषयति, तथा स्वरूपविकासकृदीश्वर एवाचार्यसंबन्धनाशे तद् ग्लपयति ॥४६०॥

अर्थ— (कमलस्य) जल में उत्पन्न होनेवाले जलैकधारक कमल के (विकाशकः) नियम से प्रफुल्लित करनेवाले (आदित्यः) सूर्य ही (एव) निश्चय करके (जलवियोगे) जल का सम्बन्ध छूटने पर (यथा) जैसे प्रफुल्लित नहीं करते हैं, बल्कि (तत्) उस कमल को (शोषयति) सुखाते हैं (तथा) वैसे ही (स्वरूपविकासकृत्) आचार्य के सम्बन्ध से सत्ता को प्राप्त होकर अपनी सत्ता के धारक आचार्य का सम्बन्ध रहने से शिष्य के स्वरूप को ज्ञान के विकास द्वारा प्रफुल्लित करनेवाले (ईश्वरः) परमात्मा ही एव) निश्चय करके (आचार्यसम्बन्धनाशे) स्वसत्ता धारक आचार्य के सम्बन्ध नष्ट होने पर (तत्) शिष्य के उस स्वरूप को ज्ञान के विकास द्वारा प्रफुल्लित नहीं करते हैं। बल्कि (ग्लपयति) उस स्वरूप को सुखाते हैं, क्योंकि यह लिखा है कि— नारायणोऽपिविकृतिं याति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः। कमलं जलादपेतं शोषयति रविर्न तोषयति ॥ गुरु से अलग हुए दुष्ट बुद्धिवाले के विषय में नारायण भी विकृत होते हैं। जल से अलग हुए कमल को सूर्य विकसित नहीं करते हैं, सुखाते हैं॥ सन्त शिरोमणि तुलसीदासजी भी लिखते हैं — भानु कमल कुल पोषनि हारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥ २।१६।७॥ इसीसे कहा है कि— कमल को विकसित करनेवाले सूर्य ही जल का सम्बन्ध छूटने पर जैसे कमल को सुखाते हैं, वैसे ही स्वरूप को विकसित करनेवाले ईश्वर ही आचार्य के सम्बन्ध नष्ट होने पर उस स्वरूप को सुखाते हैं ॥४६०॥

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि आचार्य के सम्बन्ध बिना भगवत् सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

अनेन विना भगवत्संबन्धो दुर्लभः ॥४६१॥

अर्थ—(अनेन) महोपकारक आचार्य के सम्बन्ध (बिना) नष्ट होने पर (भगवत्संबन्धः) इसके द्वारा होनेवाला भगवत् सम्बन्ध भी (दुर्लभः) नष्ट होता है। इसीसे कहा है कि — इस आचार्य सम्बन्ध के बिना भगवत् संबन्ध दुर्लभ है ॥४६१॥

अब प्रबन्धकर्ता भगवत् विषय के सम्बन्ध की आवश्यकता को दिखाने के लिये तद्विषयक प्रश्न का अनुवाद करते हैं कि—

द्वयमपिनालं किं, मध्ये महाकुटुम्बी किमर्थमिति चेत् ॥४६२॥

अर्थ— (द्वयम्) आत्मोज्जीवन के लिये भगवत्संबन्ध के स्थापक आचार्य सम्बन्ध और आचार्य संबन्ध से स्थापित भगवत्संबंध ये दोनों (अपि) भी (न) नहीं (अलम्) वश है (किम्) क्या ? (मध्ये) प्राप्य मध्यम-पर्व में (महाकुटुम्बी) कहा हुआ भागवत का सम्बन्ध (किमर्थम्) किस प्रयोजन के लिये है ? (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो तो इस प्रश्न का उत्तर आगे के सूत्र में लिखा है। इसीसे कहा है कि दोनों भी वश नहीं है क्या ? बीच में भागवत सम्बन्ध किस प्रयोजन के लिये है ऐसा यदि हो तो ॥४६३॥

अब जगद्गुरुजी चारसौ बासठवें सूत्र में किये हुए प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि—

लताया उपध्ने आरोपणसमये यथाऽल्पशाखाऽपेक्षिता तथाचार्यान्वयस्याप्ययमपेक्षितः ॥४६३॥

अर्थ— (लतायाः) दूसरे का आलंबन करके बढ़नेवाली लता के (उपध्ने) पास में एक बड़े आलंबन में (आरोपणसमये) चढ़ाने के समय में (यथा) जैसे (अल्पशाखा) छोटी सी डाल की (अपेक्षिता) अपेक्षा होती है (तथा) वैसे ही (आचार्यान्वयस्य) महादाश्रय भूत आचायके श्री चरणों में आश्रयण करने के समय में (अपि) भी (अयम्)पहले आचार्य के सन्बन्ध दुःशक होने से भागवत लोग समीप में रह कर अपने साथ मिला कर आचार्य के विषय में मिलाते हैं, इसलिये यह भागवतसंबन्ध (अपेक्षितः) अवश्य अपेक्षित है। इसीसे कहा है कि लता का आलंबन में चढ़ाने के समय में जैसे छोटी सी डालकी अपेक्षा होती है वैसे ही आचार्य सम्बन्ध का भी यह भागवतसंबन्ध अपेक्षित है ।४६३॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी पहले पहल सदाचार्य का अभिमान ही चेतन के उज्जीवन का उचितोपाय समझ कर सबको विश्वास होने के लिये यह अर्थ अपने को आप्त पुरुषों के उपदेश से प्राप्त हुआ है, ऐसा कहते हैं कि—

स्वाभिमानेनेश्वराभिमानं नाशयतोऽस्याचार्याभिमानं विना गतिर्नास्तीति कृष्णपादस्वामिनि बहुवारं वदति श्रुतम् ॥४६४॥

अर्थ — (स्वाभिमानेन) अनादिकालके अपने अभिमानसे (ईश्वराभिमानम्) परमेश्वर के अभिमान को (नाशयतः) नाश करनेवाले (अस्य) इस चेतन के (आचार्याभिमानम्) परमदयालु अपने उज्जीवन के लिए यत्न करनेवाले आचार्य के अभिमानको (विना) छोड़कर (गतिः) और कोई उज्जीवन का उपाय (न) नहीं (अस्ति) है। (इति) ऐसा (कृष्णपादस्वामिनि) सकल शास्त्रविदग्रेसर श्रीकलिवैरि स्वामीजी के चरणों में आश्रयण कर उनके परतंत्र समस्त शास्त्र के तात्पर्य को उनके मुँह से सुन कर तन्निष्ठ हमारे आचार्य श्रीकृष्णपाद स्वामीजी से आचार्याभिमानको (बहुवारम्) अनेक बार (वदति) कहनेपर (श्रुतम्) मैंने सुना है। इसी से कहा है कि —अपने अभिमानसे ईश्वर के अभिमान को नाश करनेवाले इस चेतन की आचार्याभिमान के बिना गति नहीं है, ऐसा श्रीकृष्णपादस्वामीजी के अनेक बार कहने पर सुना है ॥४६४॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि भगवान्की प्राप्ति के लिए भक्ति उपाय नहीं है।

स्वस्वातंत्र्यभयेन भक्तिश्च्यवते ॥४६५॥

अर्थ — (स्वस्वातंत्र्यभयेन) भगवत्की प्राप्ति के उपायतया कही हुई भक्ति अपने यत्न करके साध्य होनेसे भगवदेक पारतंत्र्य विरोधी अपनमें स्वतंत्रताको उत्पन्न करती है। इस स्वस्वातंत्र्यके डरसे (भक्तिः) भक्ति (च्यवते) इस चेतनको भगवत् प्राप्ति का उपाय नहीं होती है। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि भक्ति किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अर्थपंचकमें लिखाहैकि–**भक्तियोगोनाम तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपानुभवस्य प्रीतिरूपत्वापादनं तत्स्वरूपे विचारिते प्रारब्धकर्मनिर्वृत्त्यौपयिकतया साधनसाध्येऽनुष्ठाय तत्संकोचविकासोपयोगि**

परिणामकरणम् ॥ अर्थ पंचक० ॥ भक्तियोग उसको कहते हैं कि जैसे तेलकी धारा जब गिरती है तब उस समय उसके बीच में कोई छिद्र नहीं दिखता है, वैसे ही परमात्मा को हमेशा याद करते रहने रूप अनुभव के सदा प्रीति स्वरूप को प्राप्त करना और परमात्मा के स्वरूप विचार करने पर प्रारब्धके कर्मकी निवृत्तिके उपाय करके साधन और साध्यको अनुष्ठान कर प्रारब्धकर्म से भगवान् के स्मरण करने में यदि किसी प्रकारसे संकोच हो गया हो तो उसको दूर करके श्रीमन्नारायणका सर्वदा ध्यान करना है ॥ इसी से कहा है कि—अपने स्वातंत्र्य के डरसे भक्ति उपाय नहीं होती है ॥ ६५॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि भगवत् प्राप्ति के लिये प्रपत्ति भी उपाय नहीं है।

भगवत्स्वातंत्र्यभयेन प्रपत्तिश्च्यवते ॥४६६॥

अर्थ—(भगवत्स्वातंत्र्यभयेन) बन्धन और मोक्ष इन दोनों के निर्वाहक भगवान अपनी स्वतंत्रतासे फिर भी संसारी बनावेंगे तो क्या किया जायेगा इस डर से (प्रपत्ति.) अपने पारतंत्र्यके अनुरूप महाविश्वास रूप प्रपत्ति (च्यवते) भगवत् प्राप्ति के लिये उपाय नहीं होती है। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि प्रपत्ति किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अर्थ-पंचक में लिखा है कि— **अथ प्रपत्युपायो नाम एवं कर्मज्ञान सहकारिणि भक्तियोगेऽशक्तानामप्राप्तानांसुकरःशीघ्रफलप्रदः उपायस्य सकृत्त्वात् उपायानुष्ठानसमनन्तरं जायमानभगवद्विषयानुभवानां प्राप्यकोटिघटितत्वात्सुशकः स्वरूपानुरूपश्चभवति ॥ अर्थपंचक० ॥**

अब प्रपत्ति उपाय इस प्रकार से कर्म और ज्ञान के सहकार चाहनेवाले भक्तियोग में जो मनुष्य समर्थ नहीं है और भगवत्स्वरूपको प्राप्त नहीं किये हुये हैं उन सबों के लिय सहज और शीघ्र फल देनेवाला है। यह प्रपत्तिरूप उपाय एक ही बार किया जाता है। इससे प्रपत्तिरूप उपाय के करनके तुरंत ही पीछे उत्पन्न जो भगवान् के विषयों का अनुभव उन सब अनुभवों के प्राप्य कोटि में घटित होने से सब मनुष्यों के लिये प्रपत्तिरूप उपाय करना सहज है और अपने स्वरूप के अनुरूप भी है ॥ इसी से

कहा है कि—भगवत् की स्वतंत्रता के भय से प्रपत्ति उपाय नहीं होती है ।।४६६।।

अब श्रीवचनभूषणकार यह कहते हैं कि अपने आचार्य के विषय में अपनेसे किया हुआ आश्रयण भी उपाय नहीं है।

आचार्यविषये स्वकृतमाश्रयणमहंकारगर्भत्वात्कालं प्रतिगृह्य मुद्रिकाधारणवत् ।।४६७।।

अर्थ—(आचार्यविषये) महोपकारक आचार्य के विषयमें (स्वकृतम्) उपायतया अपनेसे किया हुआ (आश्रयणम्) समाश्रयण (अहंकार गर्भत्वात्) अहंकारसे गर्भित होनेसे (कालम्) अपनेको विनाश करनेवाली मृत्युको (प्रतिगृह्य) दान लेकर (मुद्रिकाधारणवत्) उस सोनासे अंगूठी बनाकर धारण करनेकी तरह निन्दाकारक होता है। इसी से कहा है कि—आचार्य के विषय में अपने से किया हुआ आश्रयण अहंकार से गर्भित होने से मृत्यु को दान लेकर अंगूठी धारण करने की तरह दोषवत् होता है ।।४६७।।

अब जगद्गुरुजी यह कहते हैं कि आचार्याभिमान ही उत्तारक है।

आचार्याभिमान एवोत्तारकः ।।४६८।।

अर्थ—(आचार्याभिमानः) मोक्षके साधनतया शास्त्रसिद्ध भक्त्यादिकोंमें एक भी उपाय नहीं होने पर अत्यन्तदयालुनिर्हेतुक चेतन को स्वीकार कर नाश रहित रक्षा करनेवाले आचार्य का अभिमान ही (एव) निश्चय करके (उत्तारकः) इस चेतन को संसार सागर से उद्धार करता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि आचार्याभिमान किसको कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अर्थपंचक में लिखा है कि—**आचार्याभिमानो नाम एतेष्वेकस्मिन्नपि शक्तिरहितं कञ्चन तस्य च्युतिमेतस्य प्राप्तावीश्वरस्य जायमानां प्रीतिं चानुसन्धाय स्तनन्धयप्रजाया व्याधौ सति तं स्वदोषत्वेनानुसन्धाय स्वभैषधसेवाकर्त्री मातेव एतस्मिन्निमित्तं स्वयमेवोपायानुष्ठानं कृत्वा रक्षितुं शक्तस्य**

परमदयालोर्महाभागवतस्याभिमानेऽन्तर्भूय उचितोपायं ज्ञापयतिचेत् तं पश्याम इत्युक्तप्रकारेण सकलप्रवृत्तिनिवृत्तीनां तदाधीन्यापादनं भागवतः स्वयं प्राप्यत्वेऽपि सकलदेवतान्तर्यामित्वेन प्राप्यत्वबदस्याचार्याभिमानस्य स्वातंत्र्येणोपायत्वेऽप्ययं सर्वेषामुपायानां सहकारी स्वतंत्रश्च भवति ॥ अर्थपंचक० ॥ आचार्याभिमान उसको कहते हैं कि ये जो कर्म, भक्ति, प्रपत्ति उपाय हैं, इन सबों में एक उपायको भी करने के लिये शक्ति रहित किसी उस जीवकीच्युतिको और इस जीव के प्राप्त करने पर ईश्वर की उत्पन्न प्रीतिको भी अनुसन्धान कर स्तनका दूध पीनेवाले बालकके शरीर में रोग होने पर उस रोगको अपने दोषसे उत्पन्न समझ कर अपने औषध खानेवाली माता के समान जो अपने सरल स्वभाव से आचार्य की सेवा करता है और कोई उपाय उद्धार करनेका मनमें नही समझता है उस जीवके लिये अपने ही आचार्य निश्चय करके शिष्यके दोषका दूर करने के लिये उपायोंका अनुष्ठान कर दीन भक्तजीवोंकी रक्षा करनेके लिये समर्थ परमदयालु परमभागवत आचार्यके अभिमानमें होकरके रहे तब शिष्य के लिये भगवत्-प्राप्ति के योग्य उपाय को आचार्य उपदेश करते हैं। तो उस उपदेश को हम सब साक्षात्कार करते रहते हैं। इस उक्त प्रकार से समस्त अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति को आचार्य के अधीन सर्वदा आपादन करना और भगवान् आप ही प्राप्यफल स्वरूप है तौभी सब ब्रह्मादिक देवताओं के अन्तर्यामी भीतर विराजमान होने से प्राप्यस्वरूपफल श्रीमन्नारायण भगवान् के समान आचार्याभिमान ईश्वर की प्राप्ति में स्वतंत्र खास करके उपाय होने पर भी यह आचार्याभिमान रूप उपाय सब कर्म, भक्ति, प्रपत्तिरूप भगवान् की प्राप्ति के उपायों का सहायक है और स्वतंत्र भी है ॥ इसीसे कहा है कि—आचार्याभिमान ही संसार से पार करने वाला है ॥४६८॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी दृष्टान्त द्वारा यह कहते हैं कि सुलभ आचार्यको छोड़कर दुर्लभ परमेश्वरकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

हस्तगतार्थं त्यक्त्वा भूमिनिक्षिप्तमर्थं न

बहुमन्येत ॥४६९॥

अर्थ– (हस्तगतार्थम्) हाथ में प्राप्त धनकी तरह अति सुलभ आचार्य को समझकर (त्यक्त्वा) अनादर से छोड़कर (भूमिनिक्षिप्तम्) पृथ्वीमें गाड़े हुए (अर्थम्) धन की तरह दुर्लभ भगवान् को आश्रयण करने की इच्छा (न) नहीं (बहु) बहुतसी (मन्येत) करनी चाहिये। क्योंकि लिखा है कि—**सुलभं स्वगुरुं त्यक्त्वा दुर्लभं य उपासते। लब्धं त्यक्त्वा धनं मूढो गुप्तमन्वेषते क्षितौ ॥** जो मनुष्य सुलभ अपने गुरुको छोड़कर दुर्लभ परमात्मा की उपासना करता है, वह हाथ में मिले हुए धनको छोड़ कर भूमिमें गाड़े हुए धनकी अपेक्षा करता है॥ इसीसे कहा है कि—हाथ में मिले हुए धन को छोड़कर पृथ्वीमें गाड़े हुए धनकी चाह नहीं करनी चाहिए ॥४६९॥

अब प्रबन्धकर्त्ता दूसरे दृष्टान्त के द्वारा यह कहते हैं कि सुलभ आचार्य को छोड़कर दुर्लभ भगवान् की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

पिपासोत्पत्तिसमये करस्थमुदकमुपेक्ष्य जीमूतजलं सागरसलिलं सरित्सलिलं वापीकूपपयांसि च न वांच्छेत ॥४७०॥

अर्थ—(पिपासोत्पत्तिसमये) अत्यन्त प्यास लगने के समय में (करस्थम्) उसी समय पीने योग्य पात्रमें डाले हुए हाथमें प्राप्त (उदकम्) जल को सुलभ समझकर (उपेक्ष्य) छोड़कर (जीमूतजलम्) भूमि में गिरकर नष्ट होने वाले आकाश में स्थितमेघ के जल को (च) और (सागरसलिलम्) भूमिमें होने पर भी दूरमें स्थित समुद्रके जलको और (सरित्सलिलम्) समीप होने पर भी वर्षासे अन्यकालमें सुखी हुई नदीके जलको और (वापीकूपपयांसि) सदा होने पर भी वहाँ जाकर पीने योग्य बावड़ी और कूप के जलों को और चकार से खनिति आदिक साधन से खोदकर निकालने योग्य भूमि में स्थित जल को कभी (न) नहीं (वांच्छेत) अपेक्षा करनी चाहिये। अर्थात् प्यास लगने पर हाथमें मिले

हुए जल की तरह सुलभ आचार्य को छोड़ कर आकाश में स्थित मेघ के जलके समान परमाकाशस्थपरब्रह्मकी और भूमि में होते हुए भी सबको नहीं प्राप्त होने योग्य क्षीर समुद्र के समान व्यूह ब्रह्म की तथा समीप में होते हुए भी तत्काल में सबको नहीं मिलनेवाले नदी के जल के समान विभव ब्रह्मको और सदा होने पर भी बिना रस्सीसे नहीं मिलने वाले कूप के जल के समान अर्चावतार ब्रह्म की और भूमि में स्थित जल के समान अष्टांगयोग करके जानने योग्य अन्तर्यामी ब्रह्मकी कभी भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इस विषयमें लिखा है कि— **चक्षुर्गम्यं गुरुं त्यक्त्वा शास्त्रगम्यं तु यः स्मरेत्। हस्तस्थमुदकं त्यक्त्वा घनस्थं सोऽभिवाञ्छति ॥** जो मनुष्य आँख से देखने योग्य गुरुको छोड़ कर शास्त्र से जानने योग्य परमात्मा को स्मरण करता है, वह हाथमें मिले हुए जल को छोड़कर मेघके जल की अपक्षा करता है॥ इसीसे कहा है कि—प्यास लगने पर हाथमें मिले हुये जल को छोड़ कर मेघके जल या समुद्रके जल या नदीके जल या वावड़ी और कूपके जलकी नहीं चाहना करनी चाहिये॥४७०॥

अब जगदाचार्यजी यह कहते हैं कि पर व्यूह विभव अन्तर्यामी अर्चावतार ये सब आचार्य ही को समझना।

गानश्रवणस्थलमाक्रोशश्रवणस्थलमुत्पतनस्थलमवरोधनस्थलं भोजयितृस्थलं च सर्वं प्राप्तविषय एवेति वर्तते ॥४७१॥

अर्थ—(गानश्रवणस्थलम्) नित्य और मुक्त जीवोंके हमेशा अनुभव करने योग्य सामवेदके गाना सुनने स्थलरूप परब्रह्म के स्थल और (आक्रोश-श्रवणस्थलम्) असुर राक्षसों से पीड़ित ब्रह्मादिक देवताओं के दुःखी शब्दको सुननेके लिए योग निद्रा करनेवाले व्यूह ब्रह्मके स्थल तथा (उत्पतनस्थलम्) ब्रह्मादिक देवताओंके दुःखी शब्दको सुनकर घबड़ाये हुए अवतार लेनेके योग्य विभव ब्रह्मका स्थल तथा (अवरोधनस्थलम्) इच्छित वस्तुके लाभ पर्यन्त रोकनेवाले अर्चावतार ब्रह्म का स्थल (च)

और (भोजयितृस्थलम्) हृदय के भीतर रह कर भक्तों के लिए अपने सौन्दर्यादिकों को दिखा कर अनुभव करानेवाले अन्तर्यामी ब्रह्म का स्थल (सर्वम्) ये सब प्राप्यस्थल (प्राप्तविषयः) अपने को प्राप्त प्राप्यभूत आचार्य ही (एव) निश्चय करके हैं (इति) ऐसा (वर्तेत) समझकर रहना। क्योंकि लिखा है कि—येनैव गुरुणा यस्य न्यासविद्या प्रदीयते। तस्य वैकुण्ठजुदुग्धाब्धि द्वारकाः सर्व एव सः॥ जिस गुरुसे प्रपत्ति उपदेश की जाती है वही गुरु उस चेतनके लिये वैकुण्ठ, क्षीरसागर और द्वारका यह सब है। इसी से लिखा है कि— आचार्यवान् पुरुषोवेद॥ छा० अ० ६ ग्रपा० ६ खं० १४ मं० २॥ आचार्यवाला पुरुष जानता है॥ २॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि — यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वेता० अ० ६ मं० २३॥ श्रीमन्नारायणदेव में जिसकी पराभक्ति है जैसी भक्ति श्रीमन्नारायणदेव में वैसी ही श्रीगुरुदेव में जिसकी हो उसी को निश्चय करके कहे हुए अर्थों का उपदेश महात्मा लोग देते हैं॥ २३॥ पुनः योगशिखोपनिषद् में लिखा है कि—**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवः सदाच्युतः। न गुरोरधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ योगशि० अ० ५ मं० ५६॥ दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्। पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्॥५७॥ यथा गुरुस्थैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः। पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥५८**

गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरुदेव सदा अच्युत हैं, तीनों लोकों में गुरु से अधिक कोई नहीं है॥५६॥ दिव्यज्ञान के उपदेश देनेवाले परमेश्वररूप आचार्य को जो पराभक्ति से पूजा करता है उसको ज्ञान का फल प्राप्त होता है॥५७॥ जैसा गुरु वैसा परमात्मा और जैसा परमात्मा वैसा गुरु अर्थात् गुरु और परमात्मा इन दोनों में भेद नहीं है, इससे बड़ी भक्ति से श्रीगुरुदेवजी की पूजा करनी चाहिये॥५८॥ ब्रह्मविद्योपनिषद्में लिखा है कि— **गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः। ब्रह्मवि० मं० ३१॥** गुरुही साक्षात्नारायण हैं, अन्य नहीं हैं ऐसा श्रुति कहती है॥ ३१॥ और त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्में लिखा है कि—**गुरुःसाक्षदादिनारायणःपुरुषः। त्रिपा० अ०८।**

गुरु साक्षात् आदि नारायण पुरुष हैं ॥८॥ और मनुस्मृति में लिखा है कि— **आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः ॥ मनु०अ०२ श्लो० २२६ ॥** आचार्य परमात्माकी मूर्ति हैं ॥ २२६ ॥ श्रीमद्भागवत में लिखा है कि— **आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत् सर्वदेवमयो गुरुः ॥ श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० १७ श्लो० २७ ॥** आचार्य को परमात्मा समझे, कभी अपमान न करे और मनुष्य बुद्धिसे असूया न करे क्योंकि सर्वदेवमय गुरु हैं ॥२८॥ अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इसमें क्या प्रमाण है कि परमात्मा पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार इस भेदसे पाँच प्रकार के हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देखिये लिखा है कि— **एवं वैकुण्ठनाथोऽसौ राजते परमे पदे । सेव्यमानः सदा नित्यैर्मुक्तैर्भोगपरायणैः ॥ पराशरीयधर्मशा० उत्तर खं० अ० ६ श्लो० ४६ ॥** इस प्रकार भोग परायण नित्य और मुक्त जीवों से सेव्यमान वैकुण्ठनाथ पर वासुदेव भगवान परमपद वैकुण्ठलोक में विराजमान हैं ॥४६॥ यह श्लोक परब्रह्म में प्रमाण है ।व्यूह ब्रह्मके विषयमें भी लिखा है कि-**व्यूहावस्थासु तिष्ठत्सु गुणद्वयमधिष्ठितम् । प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च तथा संकर्षणो विभुः ॥ पराशरी० उत्तरखं० अ० ६ श्लो० ६८ ॥ जगत्सृष्टिस्थितिलयान् कुर्वाणा गुणभेदतः । ऐश्वर्यवीर्यवान्सर्वं प्रद्युम्नः प्रत्यपद्यत ॥६९॥ तेजः शक्तीः समाविश्यह्यनिरुद्धो ऽप्यपालयत् । ज्ञानवान्बलवाँल्लोकग्रसत्संकर्षणोऽव्ययः ॥७०॥** तीनों व्यूहावस्थाओं में रहते हुए गुणद्वय अधिष्ठित प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध और संकर्षण विभु हैं ॥६८॥ तीनों गुणोंके भेदसे संसार की उत्पत्ति तथा पालन और संहारको करते हैं और ऐश्वय तथा वीर्य से युक्त प्रद्युम्नरूप समस्त संसारको उत्पन्न करता है ॥६९॥ तेज तथा शक्तियुक्त अनिरुद्धरूप निश्चय करके संसार का पालन करता है और ज्ञान तथा बलयुक्त विकार रहित संकर्षणरूप संपूर्ण संसार को संहार करता है ॥७०॥ ये श्लोक व्यूहब्रह्ममें प्रमाण हैं और

विभव ब्रह्म के बिषय में लिखा है—**एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोह जातः स उगर्भे अन्त। स एव जातः स जनिष्यमानः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः ॥ यजु० अ० ३२ मं० ४ ॥** यह ईश्वरदेव सब दिशा और विदिशाओं में व्याप्ति लेकर प्रथम कल्प में गर्भस्थ होकर जन्म लेता है और वह ईश्वर रामकृष्ण आदिक रूप से जन्म लिया है और वह ईश्वर कल्किरूप से फिर भी जन्म लेगा, सर्वतो मुख होने के कारण वह ईश्वर प्रत्येक मनुष्यके साथ अदृश्य रूप से रहता है ॥४॥ यह मंत्र विभव ब्रह्म में प्रमाण है। और अन्तर्यामी ब्रह्मके विषयमें लिखा है कि—**तदन्तर्याम्यवस्थाभिर्विष्णोः सर्वगतस्य वै योयो हृत्पुण्डरीकस्थे वेश्मनीडे स विग्रहः ॥ पराशरी अ० ६ श्लो० ६६ ॥** सर्वव्यापक वह विष्णु भगवान् अन्तर्यामि होकर प्राप्त होते हैं वह अन्तर्यामी हृदय कमलमें स्थित जो दिव्य मंगलविग्रह है, वही है ॥६५॥ यह श्लोक अन्तर्यामी ब्रह्ममें प्रमाण है। अर्चावतार ब्रह्मके विषयमें भी लिखा है कि—**नित्यमभ्यर्चयेद्विष्णुं पुराणं पुरुषोत्तमम्। अप्सुव्योम्नि तथार्चायां वह्नौ हृदि तथा गुरौ ॥ पराशरी० उत्तर खं० अ० ५ श्लो० १ ॥** ॥ त्रिकालमर्चयेद्देवं प्रतिमासुविशेषतः ॥२॥ प्रतिमास्वर्चयेद्देवम् ॥२॥ जलमें, आकाशमें, मूर्तिमें, अग्निमें, हृदयमें और गुरुमें सर्वदा पुराण पुरुषोत्तम श्रीविष्णु भगवान की पूजा करे ॥१॥ अत्यन्त प्रेम से सबेरे, दोपहर, साँझ इन तीनों कालमें श्रीविष्णु को पूजा करे ॥२॥ मूर्तियोंमें श्रीविष्णु को पूजा करे ॥ और भी लिखा है कि—**स वै भूमेरजायत ॥** अथर्व० कां० १३ अ० ४ मं० ३५॥ वह अर्चावतार निश्चय करके मिट्टीसे उत्पन्न हुआ ॥३५॥ ये सब अर्चावतार ब्रह्ममें प्रमाण हैं। ग्रन्थके विस्तारके भयसे अधिक प्रमाण मैं नहीं लिखता हूँ, इस विषय में अधिक जिसको जानना हो वह मेरी बनाई हुई अर्थपञ्चककी "मर्मबोधिनी" टीका को देख ले। इसीसे कहा है कि गाना सुनने के स्थल, पुकार सुनने के स्थल, अवतार स्थल, रोकने का स्थल और खिलाने के स्थल ये सब प्राप्त आचार्य ही हैं, ऐसा समझ कर रहना ॥४७१॥

अब जगद्गुरुजी इस प्रकार के अधिकारी को स्वरूपनाशकत्व, स्वरूप वर्द्धकत्व, उदासीनत्व, आदि से प्रतिकूल और उदासीन लोगों को कहते हैं कि—

अस्य प्रतिकूलाः स्वतंत्रा देवतान्तरपरतंत्राश्च अनुकूला आचार्यपरतंत्राः, उपेक्षणीया ईश्वरपरतंत्राः ॥४७२॥

अर्थ— (अस्य) आचार्याभिमाननिष्ठ इस अधिकारी के (प्रतिकूलाः) स्वरूप नाश करनेवाले (स्वतंत्राः) आत्मापहारी स्वतंत्र (च) और (देवतान्तरपरतंत्राः) श्रीमन्नारायण से अन्य देवताओं के भक्त हैं तथा (अनुकूलाः) अपने सम्बन्ध से स्वरूप को बढ़ानेवाले अनुकूल (आचार्य-परतंत्राः) स्वरूप को अच्छी तरह जानकर चरमावधिनिष्ठ सदाचार्य के परतंत्र हैं और (उपेक्षणीयाः) स्वरूपनाशक और स्वरूप वर्द्धक न हो उपेक्षा करने योग्य (ईश्वरपरतंत्राः) चरमपर्व आचार्य पारतंत्र्य में विश्वास छोड़कर प्रथमपर्व ईश्वर पारतंत्र्य में और दृढ़विश्वास करने वाले हैं। इसीसे कहा है कि — इस अधिकारी के प्रतिकूल स्वतंत्र और देवतान्तर पर हैं तथा अनुकूल आचार्यपरतंत्र हैं और उपेक्षा करने योग्य ईश्वर परतंत्र हैं ॥४७२॥

अब श्रीवचनभूषणकार अन्योपायनिष्ठों के ज्ञान तथा अनुष्ठान और आचार्याभिमान निष्ठों के ज्ञान और अनुष्ठान इन दोनों के उपयोग को कहते हैं कि—

ज्ञानानुष्ठाने उभेऽन्येषामुपायांगमस्योपेयांगम् ॥४७३॥

अर्थ— (ज्ञानानुष्ठाने) तत्त्वज्ञान और तदनुरूप अनुष्ठान (उभे) ये दोनों (अन्येषाम्) अन्योपायनिष्ठ औरों के (उपायांगम्) उपेयप्राप्तिपर्यन्त उपायाधिकारी नहीं छूटने के लिये उपाय के अंगभूत होते है और (अस्य) आचार्याभिमान ही उत्तारक है जिसका ऐसे इस अधिकारी के (उपेयांगम्) ज्ञान और अनुस्ठान आचार्य के मुखोल्लासरूप उपेयके अंग होते हैं? अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि उपाय स्वरूप कितने हैं? और कौन-कौन से हैं? इस प्रश्न का उत्तर अर्थपंचक में लिखा है कि—

उपायश्च कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्याचार्याभिमान भेदात्पञ्चविधः ॥ अर्थ-पञ्चक० ॥ कर्म १ ज्ञान २ भक्ति ३ प्रपत्ति ४ आचार्याभिमान ५ इस भेद से उपाय स्वरूप पाँच प्रकार के हैं ॥ इसीसे कहा है कि—ज्ञान और अनुष्ठान ये दोनों अन्योपायनिष्ठों के उपायांग होते हैं और आचार्याभिमान निष्ठों के उपेयांग होते हैं ॥४७३॥

अब लोकाचार्य स्वामीजी आचार्याभिमाननिष्ठ अधिकारी के अवश्य छोड़ने योग्यों को कहते हुये पहले निषिद्धानुष्ठानत्याज्य है, ऐसा कहते हैं कि—

अस्य निषिद्धानुष्ठानं स्वस्येतरेषां च नाशकत्वात्याज्यम् ॥४७४॥

अर्थ — (अस्य) आचार्याभिमाननिष्ठ इस अधिकारी के (निषिद्धानुष्ठानम्) जो तीन सौ उन्नीसवें सूत्र से लेकर तीन सौ पचीसवें सूत्र पर्यन्त कहा हुआ निषिद्धानुष्ठान (स्वस्य) अपने स्वरूप का (च) और (इतरेषाम्) अपने अनुष्ठान को देखनेवाले अन्यों के (विनाशकत्वात्) विनाश करने से (त्याज्यम्) छोड़ने योग्य होता है। इसीसे कहा है कि—इसका निषिद्धानुष्ठान अपने और अन्यों के विनाश करने से त्याज्य होता है ॥४७४॥

अब प्रबन्धकर्ता करनेवाले और देखनेवाले इन दोनों का विनाश निषिद्धानुष्ठान से कैसे होता है इस विषय में कहते हैं कि—

यस्य नाशोऽपचारत्रयेऽप्यन्वयात्, इतरेषां नाशः स्वानादरेण स्वानुष्ठानांगीकारेण च ॥४७५॥

अर्थ — (स्वस्य) आचार्याभिमान में अन्तर्भूतभगवद्भागवताचार्यों के अभिमत विषय अपना (नाशः) विनाश (अपचारत्रये) अनिष्टकरण रूप अतिक्रूर तीनों अपचारों में (अपि) भी (अन्वयात्) सम्बन्ध होने से होता है। और (इतरेषाम्) अपने अनुष्ठान को देखनेवाले अन्यों का (नाशः) विनाश (स्वानादरेण) चरमपर्व पर्यन्त आकर रहने वाले इस भागवतोत्तम के निषिद्धानुष्ठान को देख कर अपने को अनादर करने से (च) और (स्वानुष्ठनांगीकारेण) तत्वज्ञानी यही करता है तो हमको

करने में दोष क्या है? ऐसा समझकर इनके अनुष्ठान को आप ही अङ्गीकार करने से होता है। इसीसे कहा है कि — अपना नाश तीन उपचारों में सम्बन्ध होने से होता है और औरों का नाश अपने को अनादर करने से तथा अपने अनुष्ठान को अङ्गीकार करने से होता है ॥४७५॥

अब जगदाचार्यजी शास्त्र से विहित विषयों का भोग भी त्याग करने योग्य है ऐसा कहते हैं कि—

विहितभोगो निषिद्धभोगवल्लोकविरुद्धो नरकहेतुश्च न भवति तथापि स्वरूपविरुद्धत्वाद्वेदान्तविरुद्धत्वाच्छिष्टगर्हितत्वात्प्राप्यप्रतिबन्धकत्वाच्च त्याज्यः ॥४७६॥

अर्थ— (विहितभोगः) शास्त्र में विहित अपनी विवाहिता स्त्री का भोग (निषिद्धभोगवत्) शास्त्र में निषिद्ध दूसरे की स्त्री के भोग की तरह (लोकविरुद्धः) लोकविरुद्ध (च)और (नरकहेतुः) जलती हुई ताम्बे की स्त्री के साथआलिंगन आदिक घोरदुःखानुभवरूप नरककाहेतु(न) नहीं (भवति) होता है (तथापि) तो भी (स्वरूपविरुद्धत्वात्) अनन्यभोग्यत्वरूप अपने स्वरूप के विरुद्ध होने से और (वेदान्त-विरुद्धत्वात्) वेदान्त में जो शान्त-दान्त ये पद हैं इससे विरुद्ध होने से तथा (शिष्टगर्हितत्वात्) दोष दर्शन और अप्राप्त दर्शन करके विषय भोग को छोड़नेवाले आचार प्रधान पूर्वाचार्यों से निन्दित होने से (च) और (प्राप्तप्रतिबन्धकत्वात्) आचार्य के मुखोल्लास का अनुभव रूप प्राप्य का प्रतिबन्धक होने स (त्याज्यः) आचार्याभिमानी अधिकारी को त्याग करने योग्य है। अब इस सूत्र में यह प्रश्न होता है कि नरक कितने हैं? और कौन कौन स हैं? इस प्रश्न का उत्तर मनुस्मृति में लिखा है कि — स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ मनु० अ० ४ श्लो० ८७ ॥ वह पापात्मा क्रम से इन इक्कीस नरकों में जाता है ॥८७॥ वे नरक ये हैं— तामिस्रअन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ। नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ मनु० अ० ४

श्लो० ८८ ॥ संजीवनं महावीचितपनं संप्रतापनम् । संहातं च सकाकोलं कुड्मलं पूतिमृत्तिकम् ॥८९॥ लोहशंकुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् । असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥ तामिस्र १ अन्धतामिस्र २ महारौरव ३ रौरव ४ कालसूत्र ५ महानरक ६ ॥८८॥ संजीवन ७ महावीची ८ तपन ९ संप्रतापन १० संहात ११ सकाकोल १२ कुड्मल १३ पूतिमृतिका १४ ॥८९॥ लोहशंकु १५ ऋजीष १६ पन्थान १७ शाल्मली १८ नदी १९ असिपत्रवन २० लोहदारक २१ ॥९०॥ इन नरकों का स्वरूपपुराणों में विस्तार से कहा है। यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से मैं नहीं लिखता हूँ, इसीसे कहा है कि– विहितभोग निषिद्ध भोग की तरह लोक विरुद्ध और नरक का हेतु नहीं है तौ भी स्वरूपविरुद्ध वेदान्त विरुद्ध शिष्ट गर्हित और प्राप्य के प्रतिबन्धक होने से त्याग करने योग्य है ॥४७६॥

अब प्रबन्धकर्त्ता यह कहते हैं कि भोग्यता बुद्धि को छोड़कर धर्म बुद्धि से प्रवृत्त होने पर भी अपना स्वरूप नष्ट होता है ।

भोग्यताबुद्धिनिवृत्या धर्मबुद्ध्या प्रवृत्तावपि स्वरूपं नश्यति ॥४७७॥

अर्थ—(भोग्यताबुद्धिनिवृत्या) शास्त्रविहित प्रवृत्ति में कामुक होने से होनेवाली भोग्यताबुद्धि को छोड़कर (धर्मबुद्ध्या) उपासक महर्षि आदिक शिष्ट लोग पितृऋणमोचक संतानोत्पादन के लिये ऋतुस्नाता अपनी स्त्री से मैथुन नहीं करने पर गर्भहत्यादिक दोष होता है ऐसा समझ कर धर्म बुद्धि से जैसे प्रवृत्त होते हैं तैसे ही धर्मबुद्धि से (प्रवृत्तौ) प्रवृत्त होने पर (अपि) भी (स्वरूपम्) अनन्योपायत्वरूप स्वरूप (नश्यति) नष्ट होता है। इसलिये आचार्याभिमाननिष्ठ अधिकारी को किसी प्रकार भी शास्त्रविहित विषय प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। इसीसे कहा है कि –भोग्यताबुद्धि को छोड़कर धर्मबुद्धि से प्रवृत्त होने पर भी स्वरूप नष्ट होता है ॥४७७॥

अब जगदाचार्यजी इस प्रकार स्वरूप होने के डर से छोड़ना मात्र नहीं सप्राप्त विषय में प्रवणचित्त होने से प्राकृत सकल भोग्य वस्तु में प्रतिकूलत्व की आवश्यकता है। स्वरूप नष्ट नहीं होने के लिये ऐसा कहते हैं ।

"क्षेत्राणि मित्राणि" इतिश्लोकोक्तावस्थोत्पत्ति-रावश्यकी स्वरूपनाशाभावस्य ॥४७८॥

अर्थ— (क्षेत्राणि) खेत सब और (मित्राणि) मित्र सब (इति) इस (श्लोकोक्तावस्थोत्पत्तिः) श्लोक में परमात्मा के उद्देश्य करके कही हुई अवस्था की उत्पत्ति (स्वरूपनाशाभावस्य) अनन्योपायत्वरूप के नाश नहीं होने के लिये (आवश्यकी) अवश्य होनी चाहिये। इस चार सौ अट्ठत्तरवें सूत्र में। क्षेत्राणि मित्राणि। ये पद श्लोक के प्रतीक हैं। इससे पहले सम्पूर्ण श्लोक को लिख कर इसके अर्थ को लिखता हूँ कि— क्षेत्राणि धनानि नाथ पुत्राश्च दाराः पशवो गृहाणि। त्वत्पादपद्म-प्रवणात्मवृत्ते भवन्ति सर्वे प्रतिकूलरूपाः॥ हे नाथ श्रीमन्नारायण भगवान् आपके चरणारविन्द में अत्यन्त आसक्त चित्तवाले भक्तों के खेत सब मित्र सब धन सब, पुत्र सब, स्त्री सब, पशु सब और घर सब प्रतिकूल रूप हो जाते हैं॥ इसीसे कहा है कि — क्षेत्र मित्र इस श्लोक में कही हुई अवस्था की उत्पत्ति स्वरूप नाश न होने के लिये अवश्य होनी चाहिय ॥४७८॥

अब श्रीवचनभूषणकार प्राप्यभूमि में प्रावण्यादि तीनों भी इस अधिकारी को अवश्य अपेक्षित हैं, ऐसा दिखाने के के लिये वे उपाय चतुष्टय के भी साधारण हैं, ऐसा कहते हैं कि—

प्राप्यभूमौ प्रावण्यं त्याज्यभूमौ जिहासाऽनु-भवालाभ आत्मधारणायोग्यता चोपायचतुष्टयस्याप्य-पेक्षिताः ॥४७९॥

अर्थ— (प्राप्यभूमौ) अपने प्राप्यशेषी सर्वेश्वर के विराजने के स्थान में (प्रावण्यम्) विना गये हुए नहीं रह सकता हूँ ऐसी अत्यन्त प्रेमपूवक आशा और (त्याज्यभूमौ) भगवद्विषय को छोड़कर रहने के योग्य देश में (जिहासा) इसको छोड़ने से हो बच सकते हैं ऐसी छोड़ने की इच्छा (च) और (अनुभवलाभे) प्राप्त शेषी के विग्रहादि अनुभव के लाभ नहीं होने पर (आत्मधारणायोग्यता) देह धारण भूत भोजन के अभाव में जैसे देह नहीं रह सकता है वैसे ही आत्मा को धारण नहीं कर सकना ये तीनों

(उपायचतुष्टयस्य) चारो उपायोंके अधिकारियोंके (अपि) भी (अपेक्षिताः) अधिकारानुगुण अवश्य अपेक्षित हैं। अब यहाँ पर पहला प्रश्न यह होता है कि इस सूत्र में चार उपायों से किस-किस उपाय को लेते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है कि यहाँ पर उपाय से पहले एक भक्ति को लेते हैं और दूसरा प्रपत्ति को लेते हैं तथा तीसरा आचार्य के विषय में स्वागत स्वीकार को लेते हैं और चौथा आचार्य के विषय में परगत स्वीकार को लेते हैं। इस प्रकार से पहले प्रश्न का उत्तर होने पर तो दूसरा प्रश्न होता है कि प्राप्यभूमि प्रावण्य तथा त्याज्यभूमि में छोड़ने की इच्छा और भगवदनुभवलाभ नहीं होने पर आत्मा को धारण नहीं कर सकना ये तीनों में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर देखिये लिखा है कि– महाकाशशब्दवाच्यवैकुण्ठं द्रष्टुंमम मन एकप्रकारेण मनोरथ करोति ।। महाआकाश शब्द वाच्य वैकुण्ठ को देखने के लिये मेरा मन एक प्रकार से मनोरथ करता है ॥ यह वाक्य प्राप्य भूमि में प्रावण्य के विषय में प्रमाण है तथा ॥ वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः। न शौरिचिन्ता विमुखजन संवासवैशसम् ॥ अग्नि को ज्वाला रूप पिञ्जरे के भीतर रहना श्रेष्ठ है परन्तु नारायण की चिन्ता से विमुख लोगों के सहवासरूप आरी से चिराना श्रेष्ठ नहीं है ॥ यह श्लोक त्याज्यभूमि में छोड़ने की इच्छा के विषय में प्रमाण है और त्वां विहाय धर्तुं न शक्नोमि ॥ आपको छोड़कर मैं आत्मा को धारण नहीं कर सकने के विषय में प्रमाण है। इसी से कहा है कि– प्राप्यभूमि में प्रावण्य तथा त्याज्यभूमि में छोड़ने की इच्छा और अनुभव के अलाभ में आत्मा को धारण नहीं कर सकना ये तीनों चारों उपायों के अपेक्षित हैं ॥४७९॥

अब जगद्गुरुजी आचार्य के विषय में स्वगत स्वीकाररूप उपाय का प्रमाण श्रीभक्तिसार सूरिजी की गाथा को कहते हैं कि—

"अमोघमेकं ज्ञातवान्" इति गाथापूर्वोपायस्य प्रमाणतयानुसन्धेया ॥४८०॥

अर्थ— (अमोघम्) व्यर्थ नहीं होनेवाले (एकम्) एक उपाय को (ज्ञातवान्) मैंने जान लिया है (इति) इस (गाथा) परम आप्त श्री

भक्तिसार स्वामीजीकी गाथा को (पूर्वोपायस्य) आचार्यके विषयमें स्वगत स्वीकार रूप उपाय का (प्रमाणतया) प्रमाण (अनुसन्धेया) समझना अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि, अहंकारगर्भित और अवद्यकर स्वगतस्वीकाररूप उपायफल देने में व्यर्थ नहीं होता है, यह कहाँ पर लिखा है? इस प्रश्न का उत्तर भारद्वाजसंहिता में लिखा है कि— गुरुणा योऽभिमन्येत गुरुं वा योऽभिमन्यते। तावुभौ परमां सिद्धिं नियमादुपगच्छतः॥ गुरु से माना जाता है और गुरु को जो मानता है वे दोनों निश्चय करके परमपद को प्राप्त करते हैं॥ इससे सिद्ध होता है कि परगत स्वीकार के समान स्वगतस्वीकारकृत उपाय भी फल देने में व्यर्थ नहीं होता है। इसीसे कहा है कि- व्यर्थ नहीं होनेवाले उपाय को मैं जान लिया हूँ इस गाथा को स्वगत स्वीकार रूप उपाय का प्रमाण समझना ॥४८०॥

अब जगदाचार्य जी परगतस्वीकार परमोपाय के बहुत से प्रमाणों को कहते हैं कि–

"समीचीनमत्सखि" "प्रतिपक्षिणं दानवम्" इति गाथे स्तोत्ररत्नेऽन्तिमःश्लोकः। 'पशुर्मनुष्यः, इति श्लोकश्चास्य प्रमाणतयानुसन्धेयाः ॥४८१॥

अर्थ – (समीचीनमत्सखि) श्रीगोदादेवीजी से कही हुई 'समीचीनमत्सखी' इस गाथा को और (प्रतिपक्षिणम्) शत्रुभूत (दानवम्) यह श्री भक्तिसार स्वामीजी से कही हुई गाथा को अर्थात् "समीचीनमत्सखि" तथा "प्रतिपक्षिणं दानवम्" (इति) ये (गाथे) दोनों गाथाओं को और (स्तोत्ररत्ने) वेदान्ततात्पर्यरूप स्तोत्ररत्न आलवन्दार स्तोत्र में जो (अन्तिमः) अन्तिम (श्लोकः) अकृत्रिम इत्यादि अरसठवाँ श्लोक है इस श्लोक को (च) और (पशुः) पशु (मनुष्यः) मनुष्य (इति) इस (श्लोक) पौराणिक श्लोक को भी (अस्य) इस आचार्य के विषयमें परगत स्वीकार रूप उपाय का (प्रमाणतया) प्रमाण (अनुसन्धेयाः) समझना। अब यहाँ पर पहला प्रश्न यह होता है कि किस प्रकार श्रीगोदादेवीजी ने ॥ समीचीनमत्सखि ॥ इस गाथा को कहा है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि

सखी नायकी "नहीं छोड़ूँगा" यह वचन और श्रीविष्णु चित्तस्वामीजोके घर में जन्म इन दोनों को अपने इष्ट साधन समझती है। वे फलीभूत न होने से अति शंका कर यह नायकी कैसे फलको प्राप्त होगी ऐसा विचार मग्न हुई। उसको देखकर हमसे अधिक फलको चाहनेवाली हे सखि अनन्तशायी अतएव सबसे परेश्रिय: पति किसी को भी अप्राप्य महिमा वाले हैं। हम लोग देवयोनि में न होकर पर्वत और परमाणुओं के तारतम्यसे क्षुद्र मनुष्य हैं। इसलिये हम कुछ नहीं कर सकती हैं। वह कभी एक बात कह दिये हैं। ऐसा समझ कर हम लोग उनको रोक सकते हैं क्या ? अस्तु हमारे फल का दूसरा उपाय है श्रीविल्लिपित्तूरमें अवतार लेकर सर्वव्यापक वस्तु को अपने हृदय में रखनेवाले श्रीविष्णु-चित्तस्वामीजो हमारे आचार्य होने से अपने स्वामी को एक गाथा कह कर बुलावेंगे या विद्याशुल्क को तो तोड़कर बुलावेंगे या अभिषेक करने के लिये बुलावेंगे अथवा केश बाँधने के लिये या सुलाने के लिये या अपने पुरुषकार को आगे कर बुलावेंगे। उस समय हम उनका दर्शन कर लेंगी, हम आग्रह नहीं कर सकती हैं। इस प्रकार श्रीगोदादेवी से कही हुई "समीचीनमत्सखि" यह गाथा है। इस प्रकार के पहले प्रश्न का उत्तर होने पर दूसरा प्रश्न होता है कि ॥ प्रतिपक्षिणं दानवम् ॥ इस गाथा को श्रीभक्तिसारस्वामीजी ने किस प्रकार कहा है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ईश्वरत्व को नहीं देख कर सामने शत्रु रूप से हुए हिरण्य-कशिपु असुर को तीक्ष्णनखों से वरबलों से दृढ़ छाती को सोने के पहाड़ को चीरने की तरह अनायास दो टुकड़े करनेवाले पराक्रमी नृसिंह भगवान् को अनन्य प्रयोजन हो मंगलाशासन करनेवालों को भागवता-भिमान को उपाय समझ कर रहनेवालों के सुकृत जीतता है। इस प्रकार श्रीभक्तिसार स्वामीजी से कही हुई "प्रतिपक्षिणदानवम्" वह गाथा है। इस प्रकार के दूसरे प्रश्न के उत्तर होने पर तीसरा प्रश्न होता है कि स्तोत्ररत्न का अन्तिमश्लोक कौनसा है ? और उसका अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि— अकृत्रिमत्वच्चरणारविन्द प्रेमप्रकर्षावधि-मात्मवन्तम्। पितामहं नाथमुनिं विलोक्य प्रसीद मद्वृत्तमचिन्तयित्वा। आलवन्दार० श्लो० ६८ ॥ हे श्रीमन्नारायण भगवान् स्वाभाविक आपके चरणारविन्द में जो प्रेम उसके आधिक्य की सीमा भूमि और जीवात्मा तथा परमात्मा को जो जाननेवाले मेरे पितामह परमाचार्य श्रीनाथमुनिस्वामीजी को विशेषरूप में देख कर और मेरे आचरण को

विस्मरण कर आप प्रसन्न हो जाइये ॥ ६८ ॥ इस प्रकार के तीसरे प्रश्न का उत्तर होने पर अन्तिम चौथा प्रश्न होता है कि— पशुर्मनुष्यः ॥ यह समस्त श्लोक किस प्रकार है ? और उसका अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से लिखा हुआ है कि ॥ पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ पशु हो या मनुष्य हो या पक्षी हो या जो कोई हो केवल वैष्णव का आश्रयण करके विष्णु के परम पद को प्राप्त होते हैं। इसीसे कहा है कि— 'समीचीनमत्सखि" "शत्रुभूतदानव को" ये गाथाएँ आलवन्दारस्तोत्र के अन्तिम श्लोक और 'पशुमनुष्यः' यह श्लोक आचार्याभिमान रूप परगत स्वीकारात्मक उपाय में प्रमाण समझना ॥४८१॥

अब प्रबन्धकर्ता यह कहते हैं कि आचार्याभिमान प्रपत्ति की तरह उपायान्तरों का अंग और स्वतंत्र भी होता है।

आचार्याभिमानः प्रपत्तिवदुपायान्तरस्यांगं स्वतंत्रश्च भवति ॥४८२॥

अर्थ — (आचार्याभिमान.) आचार्याभिमान रूप यह उपाय (प्रपत्तिवत्) जैसे प्रपत्ति कर्म ज्ञान भक्ति रूप उपायों की उत्पत्ति और बुद्धि के विरोधी पाप को दूर करने के लिये विहित होकर उनका अङ्ग होता है और अन्य उपायों को छोड़ कर अपने को उपायतया स्वीकार करने पर अनिष्टनिवृत्ति पूर्वक इष्ट प्राप्ति का स्वयमेव निर्वाह होकर स्वतंत्र होता है, वैसे ही (उपायान्तरस्य) अन्यकर्मादिक उपायों का (अङ्गम्) अङ्ग होता है (च) और (स्वतंत्रः) स्वयमेव उत्तारक होने से स्वतंत्र भी (भवति) होता है। क्योंकि इस विषय में लिखा है कि— बालको जडान्धाश्च पंगवो बधिरास्तथा। सदाचार्येण संदृष्टाः प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ बालक, गूँगा, जड़, अन्धा, लगड़ा, बहरा ये सब सदाचार्य के कृपा-कटाक्ष के पात होने से ही परम पद को प्राप्त होते हैं ॥ इसीसे कहा है कि— आचार्याभिमान प्रपत्ति की तरह उपायान्तरों का अङ्ग और स्वतंत्र भी होता है ॥४८२॥

अब श्रीवचनभूषणकार इस प्रकार के स्वतंत्र भूत इस आचार्याभिमानरूप उपाय का अधिकारी अमुक है, ऐसा कहते हैं कि—

भक्तावशक्तस्य प्रपत्तिः प्रपत्तावशक्तस्यायम्

॥ ४८३ ॥

अर्थ— (भक्तौ) जन्मान्तरसहस्रों में अनुष्ठित कर्म और ज्ञान से होनेवाली भक्ति में (अशक्तस्य) स्वपारतंत्र्यविरोधी स्वयत्नरूप उपाय में दुष्करत्व और स्वरूप विरोधित्व ज्ञान से अशक्त अधिकारी के लिये (प्रपत्तिः) निवृत्तिः साध्य सुनकर भगवत्पारतंत्र्यरूप प्रपत्ति उपाय है। और (प्रपत्तौ) अध्यवसाय ज्ञानरूप प्रपत्ति उपाय में (अशक्तस्य) महा विश्वास होना दुष्कर होने से और बन्ध तथा मोक्ष दोनों का साधारण ईश्वर के स्वातंत्र्य के भय से अशक्त अधिकारी के लिए (अयम्) मोक्ष के हेतु परतंत्ररूप सदाचार्य का अभिमान रूप यह चरमोपाय है। इसीसे कहा है कि भक्ति में अशक्तकोप्रपत्ति है और प्रपत्ति में अशक्त को यह आचार्याभिमान उपाय है ॥४८३॥

अब लोकाचार्यस्वामीजी इस आचार्याभिमान से चेतन को होनेवाली फलपरम्परा को कहकर इस अर्थ को समाप्त करते हैं कि—

अयं प्रथमं स्वरूपं पल्लवितं करोति, पश्चात् पुष्पितं करोति, अनन्तरं फलपर्यन्तं करोति

॥४८४॥

अर्थ— (अयम्) पूर्वोक्त आचार्याभिमानरूप यह उपाय (प्रथमम्) पहले (स्वरूपम्) भगद्विषय में लगा कर अनादिकाल से सम्बन्ध के ज्ञान के अभाव से मुरझाये हुए स्वरूप को (पल्लवितम्) पल्लवित (करोति) करता है (पश्चात्) इस प्रकार के पल्लवित होने के बाद (पुष्पितम्) भागवत के विषय में लगा कर फल के योग्य बनाने से स्वरूप को पुष्पित (करोति) करता है (अनन्तरम्) इस प्रकार के पुष्पित होने के बाद (फलपर्यन्तम्) चरमपर्व में स्थापन कर पुष्पित स्वरूप को फल पर्यन्त

(करोति) करता है। इसलिये सदाचार्याभिमान ही सबको संसार सागर से पार करनेवाला है। यह अर्थ स्पष्टतया सिद्ध हो गया। इसीसे कहते हैं कि— यह पहले स्वरूप को पल्लवित करता है पीछे पुष्पित करता है, इसके बाद फलपर्यन्त करता है ॥४८४॥

इति श्रीवचनभूषणे आचार्योपायवैभवनामषष्ठप्रकरणे चरमप्राप्य-प्रापकवैभवः समाप्तः ॥

इति श्रीवचनभूषणे आचार्योपायवैभवनाम षष्ठप्रकरणं समाप्तम् ॥

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रम् ।
श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम् ॥
श्रीरङ्गवेङ्कटगुरुत्तमलब्धबोधम्
भक्त्या भजामि गुरुवर्यमनन्तसूरिम् ॥

इति श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्यं वेदान्तप्रवर्तकाचार्यं श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यं सत्संप्रदायाचार्यं जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यस्वामिनाप्रणीता "चिन्तामणि" नामधेयाश्रीवचनभूषण-भाषाटीका समाप्ता ॥

॥ समाप्तोऽयंग्रन्थः ॥